# भक्ति-दर्शन

## (नारद भक्ति सूत्र)

-ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

# भक्ति दर्शन

## (नारद भक्ति सूत्र)


**ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा**

**संकलिता**
आदित्य भारती परिव्राजिका

**सम्पादिका**
ब्रह्मऋता परिव्राजिका


**दिव्यालोक प्रकाशन**
विराट् नगर, पिंजौर (हरियाणा)

प्रकाशक :
दिव्यालोक प्रकाशन
ब्रह्मर्षि आश्रम,
विराट नगर, पिंजौर (हरियाणा)
फोन : ०१७३३-६५१७०



संकलन : स्वामी आदित्य भारती परिव्राजिका

सम्पादन : स्वामी ब्रह्मऋता परिव्राजिका

प्रथम संस्करण : दिसम्बर १९९८

प्रतियाँ : २१००

मूल्य 150/-

शब्द संयोजन : राजीव सेठी

मुद्रक :
ब्रह्मर्षि बावरा प्रिन्टिंग प्रैस,
ब्रह्मर्षि आश्रम,
विराट् नगर, पिंजौर
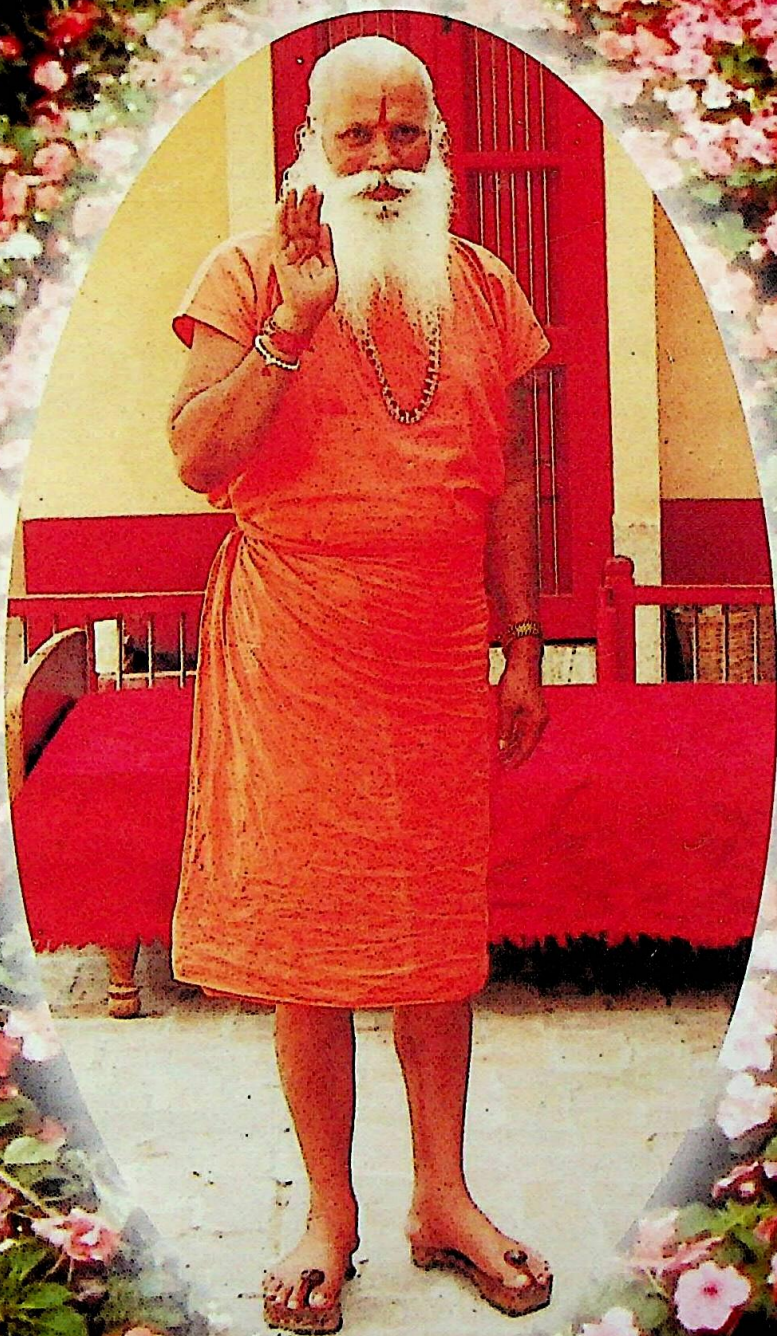
ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

# सौजन्य से

देवप्रिया बलवन्त सिंह
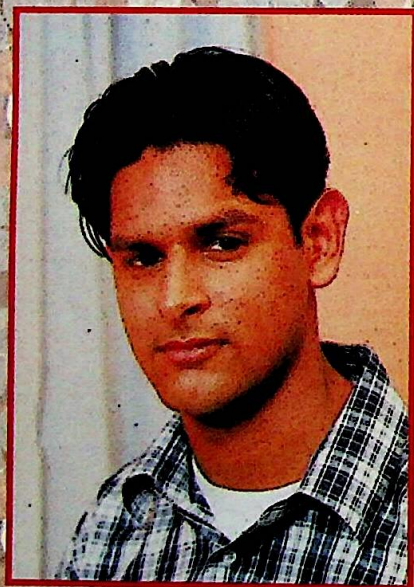
नरसिंह बलवन्त सिंह
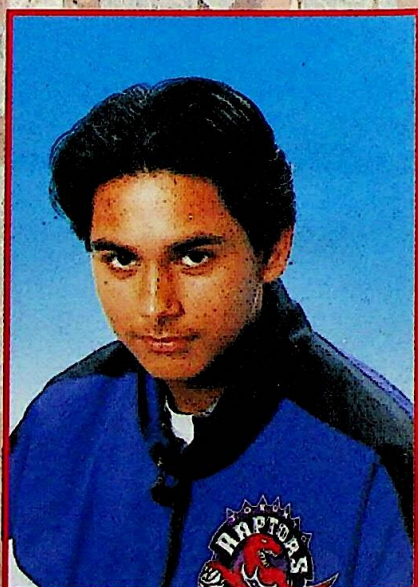
शंकर बलवन्त सिंह

# पूज्य आचार्यश्री का आशीर्वचन

तत्त्वद्रष्टा मनीषियों ने जगत् तथा जीवन के सम्पूर्ण पहलुओं का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत किया है। जैसे जगत् के कारण रूप प्राकृतिक तत्त्वों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से विश्लेषण कर मानव समाज को उसकी यथार्थता से सुपरिचित कराया, उसी प्रकार से जगतगत् जीवों के कार्य-कारण स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उनमें निहित ज्ञान, भाव तथा क्रिया शक्ति की भी दार्शनिक मीमांसा प्रस्तुत की। कर्म मीमांसा, ब्रह्म मीमांसा वा ज्ञान मीमांसा से सम्बन्धित विपुल साहित्य उपलब्ध है ही। भाव मीमांसा से सम्बन्धित भी कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनमें देवर्षि नारद द्वारा प्रणीत भक्ति दर्शन और महर्षि शांडिल्य द्वारा प्रणीत भक्ति दर्शन अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कैनेडा के मेरे जिज्ञासु शिष्यों ने भक्ति तत्त्व का दार्शनिक विश्लेषण श्रवण करने की जिज्ञासा व्यक्त की, उसके लिए मैंने देवर्षि नारद प्रणीत भक्ति सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत करना ही यथेष्ट समझा और चौबीस दिनों में संक्षिप्त रूप में उस पर प्रवचन दिया, जिसे कैसेट में रिकार्ड कर लिया गया था। मेरी प्रिय शिष्या आदित्य भारती बड़े परिश्रम से उसे अक्षरबद्ध कर 'दिव्यालोक' के माध्यम से जिज्ञासुजनों तक पहुँचाती रही। बहुत लोगों के आग्रह पर सम्पूर्ण संकलित सामग्री को दिव्यालोक प्रकाशन द्वारा पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का कार्य मेरी प्रिय शिष्या ब्रह्मऋता को सौंपा गया जिसे वह बड़े ही परिश्रम से संपादित कर सुन्दर पुस्तक के रूप में जिज्ञासुजनों के समक्ष प्रस्तुत कर रही है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रभु प्रेम पथ के पथिक इस पुस्तक के माध्यम से भक्ति के यथार्थ स्वरूप को समझ कर उसका समुचित अनुष्ठान करते हुए करुणानिधान प्रभु की करुणा के भाजन बनेंगे।

मेरे विचार से ज्ञान के समान ही भक्ति भी मानव जीवन की पूर्णता में एक स्वतन्त्र साधन है किन्तु यह साधन ज्ञान विरोधी नहीं है। श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में तो भक्ति को ज्ञान और वैराग्य की जननी कहा गया है। यह सत्य है कि भक्ति अन्ध-विश्वास पर आधारित नहीं और न ही यह अन्ध-विश्वास को परिपुष्ट करती है। भक्ति पथ के पथिक के जीवन में अन्ध

श्रद्धा वा अन्ध-विश्वास के लिए स्थान नहीं। भक्ति पथ के आचार्यों में भगवान् मारुति का प्रमुख स्थान है। उन्हें 'भक्तिमतां वरिष्ठं' कहा जाता है। गोस्वामी जी के शब्दों में भक्त शिरोमणि भगवान् मारुति केवल भक्तों में ही वरिष्ठ वा श्रेष्ठ नहीं हैं, वे 'ज्ञानिनामग्रगण्यं' भी हैं। अभिप्राय यह कि भक्ति ज्ञानविरोधनी नहीं बल्कि वह यथार्थ ज्ञान की जननी है। साथ ही जो ज्ञान मार्ग के पथिक हैं, उनकी पोषिका और संरक्षिका भी है। मेरे विचार से तो एक अवस्था विशेष में पहुँच कर ज्ञानी पूर्ण भक्त और भक्त पूर्ण ज्ञानी हो जाता है। उनमें भेद करना वा मानना ही अबुद्धता का परिचायक कहा जाएगा।

देवर्षि नारद द्वारा प्रणीत इन भक्ति सूत्रों के चिन्तन, मनन और निदिध्यासन द्वारा सुधिजन अवश्य ही लाभान्वित होंगे और वे ईश्वरीय प्रेम पथ के पथिक बन स्वयं के जीवन को धन्य बना देंगे, इसमें सन्देह नहीं। इन सूत्रों की व्याख्या के रूप में मेरे विचारों को संकलित, संपादित एवं प्रकाशित कर जन-सामान्य तक पहुँचाने का जो प्रशंसनीय कार्य मेरी प्रिय शिष्या ब्रह्मऋता और आदित्य भारती ने किया है, उसके लिए मैं इन दोनों को बहुत-२ आशीर्वाद प्रदान करता हूँ। साथ ही करुणानिधान भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वे अपनी करुणा से इनके जीवन में योग्यता और सामर्थ्य प्रदान करें जिससे वे इसी प्रकार से लोक-हितकारी साहित्य के सृजन में स्वयं के जीवन को निरत रखते हुए कृतकृत्यता को प्राप्त कर प्रभु प्रेम का भाजन बनी रहें।

इस पुस्तक को प्रकाशित कराने का सम्पूर्ण व्यय हॉलैण्ड निवासी मेरी प्रिय शिष्या देवप्रिया तथा उसके दोनों चिरंजीवी मेरे प्रिय शिष्य नृसिंह और शंकर ने वहन किया है। मैं उन तीनों को भी हृदय से अनन्त मंगलकामनाओं सहित आशीर्वाद प्रदान करता हूँ। करुणानिधान प्रभु उन्हें इसी प्रकार धर्म मार्ग में निरत रखें, यही मंगलकामना।

इस पुस्तक के शब्द संयोजन का कार्य मेरे प्रिय शिष्य राजीव सेठी ने बड़ी कुशलता एवं परिश्रम से किया है, उसे भी मेरा बहुत-२ आशीर्वाद।

सभी का शुभेच्छु

*—विश्वात्मा बावरा*

# नारद भक्ति सूत्र

| क्रमाङ्क | सूत्र |
|---|---|
| १. | अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥ |
| २. | सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ |
| ३. | अमृतस्वरूपा च ॥ |
| ४. | यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ॥ |
| ५. | यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि. न रमते. नोत्साही भवति ॥ |
| ६. | यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति. स्तब्धो भवति. आत्मारामो भवति ॥ |
| ७. | सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥ |
| ८. | निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥ |
| ९. | तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥ |
| १०. | अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥ |
| ११. | लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥ |
| १२. | भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥ |
| १३. | अन्यथा पतित्याशङ्कया ॥ |
| १४. | लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीरधारणावधि ॥ |
| १५. | तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात् ॥ |
| १६. | पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ |
| १७. | कथादिष्विति गर्गः ॥ |
| १८. | आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ |
| १९. | नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥ |
| २०. | अस्त्येवमेवम् ॥ |
| २१. | यथा व्रजगोपिकानाम् ॥ |
| २२. | तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥ |
| २३. | तद्विहीनं जाराणामिव ॥ |
| २४. | नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् ॥ |
| २५. | सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥ |
| २६. | फलरूपत्वात् ॥ |
| २७. | ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च ॥ |
| २८. | तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥ |
| २९. | अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ |
| ३०. | स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः ॥ |
| ३१. | राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ |
| ३२. | न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ॥ |
| ३३. | तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ |
| ३४. | तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥ |
| ३५. | तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ॥ |
| ३६. | अव्यावृतभजनात् ॥ |
| ३७. | लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् ॥ |
| ३८. | मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ |
| ३९. | महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥ |
| ४०. | लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥ |
| ४१. | तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥ |
| ४२. | तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥ |
| ४३. | दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ |
| ४४. | कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाश सर्वनाशकारणत्वात् ॥ |
| ४५. | तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति ॥ |
| ४६. | कस्तरति कस्तरति मायाम्। यः सङ्गांस्त्जति यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति ॥ |
| ४७. | यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धनुन्मूलयति। निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति ॥ |
| ४८. | यः कर्मफल त्यजति, कर्माणि संन्यस्यति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥ |
| ४९. | वेदानपि संन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥ |
| ५०. | स तरति, स तरति, स लोकांस्तारयति ॥ |
| ५१. | अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ |
| ५२. | मूकास्वादनवत् ॥ |
| ५३. | प्रकाशते क्वापि पात्रे ॥ |

| क्रमाङ्क | सूत्र |
|---|---|
| ५४. | गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षण वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ |
| ५५. | तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ॥ |
| ५६. | गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा ॥ |
| ५७. | उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति ॥ |
| ५८. | अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥ |
| ५९. | प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात् ॥ |
| ६०. | शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च ॥ |
| ६१. | लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात् ॥ |
| ६२. | न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः किन्तु फलत्यागस्तत्साधनं न कार्यमेव ॥ |
| ६३. | स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम् ॥ |
| ६४. | अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम् ॥ |
| ६५. | तदर्पिता अखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥ |
| ६६. | त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदास नित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम्, प्रमैव कार्यम् ॥ |
| ६७. | भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥ |
| ६८. | कण्ठाऽवरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ॥ |
| ६९. | तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ॥ |
| ७०. | तन्मयाः ॥ |
| ७१. | मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ॥ |
| ७२. | नास्ति तेषु जाति विद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः ॥ |
| ७३. | यतस्तदीयाः ॥ |
| ७४. | वादो नावालम्ब्यः ।। |
| ७५. | बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च ॥ |
| ७६. | भक्तिशास्त्राणि मननीयानी तदुद्बोधककर्माण्यपि च करणीयानि ।। |
| ७७. | सुखःदुखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम् ॥ |
| ७८. | अहिंसासत्यशौचदयास्ति-क्यादिचारित्र्याणिपरिपालनीयानी ॥ |
| ७९. | सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः ॥ |
| ८०. | स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ॥ |
| ८१. | त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ॥ |
| ८२. | गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्ति -स्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्ति कान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदना सक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्ति रूपा एकधाप्येकादशधा भवति ॥ |
| ८३. | इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यास-शुकशाण्डिल्यगर्गविष्णु कौण्डिन्य शेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः ॥ |
| ८४. | य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स श्रेष्ठं लभते स श्रेष्ठं लभत इति ॥ |

# १

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् की असीम करुणा आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना। वर्ष तो नहीं, कई महीनों के बाद हम यहाँ एकत्रित हुए हैं। इस दौरान आप लोगों को नारद भक्ति सूत्र, जो हमारे यहाँ प्राचीनतम साहित्य में भक्ति शास्त्र के रूप में एक विशिष्ट स्थान रखता है, पर विचार सुनने को मिलेंगे। १ भक्ति किसे कहते हैं? २ भक्ति का स्वरूप क्या है? ३ भक्ति क्यों करनी चाहिए? ४ भक्ति करने से क्या लाभ होता है? ५ भक्ति के कौन-२ से अंग हैं और इसके यथार्थ बोध से सम्बन्धित सारी बातें आप लोगों को यहाँ सुनने को मिलेंगी। मुझे विश्वास है कि उससे आप लाभान्वित होंगे। भक्ति के नाम पर प्रचलित जो कुछ भी आप इस समय देख रहे हैं, उसका उस भक्ति शास्त्र के रूप में कहाँ तक स्थान है, यह भी आप लोग समझ पाएँगे।

दुर्भाग्य है अपने देश और समाज का कि हम प्राचीन शास्त्र के यथार्थ बोध से वंचित हो गए हैं। अधिकांश लोग किसी साधन के विषय में जानते तो हैं, सुना है, पढ़ा है लेकिन शास्त्रीय विधि का बोध नहीं है, इसलिए अनेक प्रकार की भ्रान्तियों से ग्रस्त होकर आन्तरिक साधन के नाम पर विविध प्रकार के पाखण्डों में पड़ जाते हैं और उस शास्त्र-विहीन मिथ्या प्रयत्न के द्वारा उन्हें कुछ भी लाभ नहीं हो पाता। गीता में भगवान् ने १६वें अध्याय में एक बात बताई है—

**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।**
**ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥**

*—गीता १६/२४*

इसका अभिप्राय होता है कि जो कुछ भी कार्य परमार्थ या मोक्ष की प्राप्ति

के लिए करना हो, शास्त्र ही उसमें प्रमाण है। शास्त्र प्रमाणानुसार ही तुम्हें कार्य-अकार्य या करणीय-अकरणीय का निर्णय करना चाहिए। यदि शास्त्र से विमुख होकर किसी कार्य-अकार्य, धर्म-अधर्म का निर्णय करते हो तो भ्रान्ति के सिवा तुम्हें कुछ भी नहीं मिलेगा। तुम यथार्थ दिशा में आगे नहीं बढ़ सकते। सत्य से सुपरिचित नहीं हो सकते क्योंकि शास्त्र अज्ञात के लिए ज्ञापक तत्त्व है। जो आपकी सामान्य बुद्धि का विषय है, जो आपकी दृष्टि का विषय है, आपके निरीक्षण और परीक्षण का विषय है, उसमें शास्त्र का कोई प्रयोजन नहीं है। शास्त्र तो उन तत्त्वों का उद्घाटन करता है जो आपकी सामान्य बुद्धि की सीमा से परे हैं। जिसमें आपकी सामान्य बुद्धि का प्रवेश नहीं है, उस अज्ञात तत्त्व का बोध कराना शास्त्र का कार्य है। शास्त्र का सहारा लिए बिना केवल कल्पना के द्वारा, मिथ्या भ्रान्ति के द्वारा या किसी के कहने मात्र से यदि तुम किसी मार्ग को अपना लेते हो तो तुम्हें उसमें कभी सफलता नहीं मिलने वाली और तुम भटकते ही रह जाओगे। आप्तपुरुष वे हैं जिन्होंने उस परम सत्य को अपनी कल्पना से नहीं बल्कि प्राचीनतम ऋषियों की प्रक्रिया से अनुभव किया है। उन ऋषियों के वाक्य ही शास्त्र हैं और तदनुसार साधन में प्रवृत्त होने पर ही तुम अपने आपको विकास की दिशा में आगे ले जा सकते हो।

हमारे यहाँ भक्ति का भी एक शास्त्र है। साधन के तीन मार्ग हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। इसी को वेद में काण्डत्रय कहा गया है। इसी को आप अपने व्यक्तिगत जीवन के साथ समझना चाहें तो आप समझ सकते हैं कि आपके सारे क्रिया-कलाप का क्रम इन्हीं तीनों—ज्ञान, उपासना और कर्म में चलता है। इन तीनों क्रियाओं का सम्बन्ध इनके साधनों से है—ज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, उपासना का सम्बन्ध हृदय से और कर्म का सम्बन्ध आपके हाथ से है। तीनों एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। हमारे यहाँ तीन प्रकार के शास्त्रों का भी सृजन हुआ है—ज्ञान शास्त्र, उपासना शास्त्र और कर्म शास्त्र। इन तीनों प्रकार के शास्त्रों का समन्वित स्वरूप हमें ज्ञान के कोष वेद में मिलता है, इसीलिए वेद काण्डत्रय कहा जाता है। एक-एक काण्ड को लेकर अलग-२ साहित्य का निर्माण भी हुआ है। ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्ड से सम्बन्धित भी साहित्य है। इसके लिए जिन साहित्यों की रचना की गई है, उनको वेद का अंग मानते हैं और उन्हें शास्त्र कहते हैं। वेद में तीनों हैं और तीनों को अलग-२ नहीं किया जा सकता; कहीं एक मन्त्र में ही तीनों मिल जाते हैं। गायत्री मन्त्र प्रत्येक हिन्दू जानता है। यह एक ऐसा मन्त्र है जिसमें ज्ञान, उपासना और

कर्म बीज है अर्थात् जीवन की पूर्णता है, इसलिए इसे ब्रह्म-गायत्री भी कहते हैं। ब्रह्म माने वेद। वेद की शिक्षा अथवा सार का सूत्र रूप से गायत्री मन्त्र में समावेश है। उसकी बड़ी महिमा है। जैसे इन्द्रियाँ, हृदय और बुद्धि से युक्त ही पूर्ण मानव होता है, इसी रूप से वेद इन तीनों के लिए मार्गदर्शन देता है और वेद की पूर्णता इसी में निहित है कि वह ज्ञान, उपासना और कर्म का कोष है। दुनिया में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो केवल कर्म ही करता हो, जिसके पास न ज्ञान हो, न भाव हो। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो केवल उपासना करता हो, जिसमें कर्म और ज्ञान न हो और कोई ऐसा व्यक्ति भी नहीं है जो केवल ज्ञान का ही चिन्तन करता हो, जिसके पास कर्म और उपासना न हो, यह असम्भव है। इन तीनों के तीन नाम हैं लेकिन ये एक दूसरे से नित्य सम्बन्ध रखते हैं, इनको अलग नहीं किया जा सकता। जैसे मनुष्य को मस्तिष्क, हृदय और इन्द्रियों से अलग नहीं किया जा सकता, वैसे ही ज्ञान, उपासना और कर्म, तीनों को अलग-२ नहीं किया जा सकता। दुर्भाग्य से कुछ शताब्दियों पूर्व हमारे देश में ऐसा आन्दोलन चला जिससे इन तीनों को स्वतन्त्र मार्ग घोषित किया गया। यह एक भ्रान्ति थी, इसका परिणाम दुःखद हुआ।

वेद के सार रूप में व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी भगवद्गीता में इन तीनों का पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया है। गीता ज्ञान, उपासना और कर्म विज्ञान का कोष है। इसमें किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं है। यह पूर्ण दर्शन है। यह किसी एक मार्ग का प्रतिपादन नहीं करती। एक मार्ग को एक सम्प्रदाय कहते हैं। जहाँ पर सम्प्रदाय का स्वरूप प्रतिष्ठित हो जाता है, वहाँ पर अधूरापन होता है जिससे मनुष्य जीवन में पूर्णत्व की प्रतिष्ठा नहीं कर पाता इसलिए भगवद्गीता अपने आप में पूर्ण शास्त्र है। भगवान् ने स्वयं अपने श्रीमुख से कहा है—

**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।**

*—गीता १५/२०*

यह गुह्यतम शास्त्र है अर्थात् यह सम्पूर्ण शास्त्र है, इसमें किसी प्रकार की कमी नहीं है। जैसे वेद और गीता हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं क्योंकि वे संपूर्ण शास्त्र हैं; उनमें ज्ञान, उपासना और कर्म का समन्वित स्वरूप मिलता है। इसी रूप से अन्य शास्त्रों में भी हमें इन तीनों-ज्ञान, उपासना और कर्म के प्रयोग का समन्वित स्वरूप प्राप्त होता है। जहाँ ज्ञान प्रधान है, वहाँ उपासना और कर्म उससे सम्बन्धित हैं। जहाँ उपासना प्रधान है वहाँ ज्ञान एवं कर्म उससे समन्वित हैं और जहाँ कर्म प्रधान है वहाँ ज्ञान और उपासना उससे समन्वित हैं;

अर्थात् इस प्रकार का क्रम हमारे यहाँ शास्त्रों में देखने को मिलता है। जिस शास्त्र की मैं आप लोगों को व्याख्या सुनाने जा रहा हूँ, वह शास्त्र भक्ति शास्त्र है। भक्ति शास्त्र को उपासना शास्त्र कहते हैं। भक्ति के दो भेद हैं—परा भक्ति और वैधा भक्ति। वैधा भक्ति वह है जो शास्त्रानुसार आचरण करने और साधन करने की शिक्षा देती है। परा भक्ति वह है, जिसमें आप साधना करते-करते अपने लक्ष्य तक पहुँच गए हैं। एक को साधना भक्ति और दूसरी को सिद्धा भक्ति कहते हैं। यहाँ जो मैं आपको भक्ति शास्त्र की चर्चा सुनाऊँगा, यह सिद्धा भक्ति का स्वरूप है, साधना भक्ति का भी इसमें संकेत है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने स्वयं परा भक्ति के स्वरूप का वर्णन किया है और श्रीरामचरितमानस भी भक्ति का ही स्वतन्त्र शास्त्र माना जाता है, इसी प्रकार यह नारद भक्ति सूत्र भक्ति का अनुपम शास्त्र है, इसमें शास्त्रीय विश्लेषण के साथ भक्ति का निरूपण किया गया है। जो लोग भक्ति का आचरण करना चाहते हैं अथवा जो भक्ति मार्ग से चलकर परब्रह्म को प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए देवर्षि नारद ने इसमें निर्देश दिए हैं। इस शास्त्र के प्रणेता देवर्षि नारद हैं। देवर्षि नारद पुराण और इतिहास साहित्य में ही नहीं बल्कि वैदिक साहित्य में भी बहुत श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। नारद वैदिक काल के ऋषि हैं, अनेकों वेद मन्त्रों के द्रष्टा हैं। उनकी संज्ञा राजर्षि या ब्रह्मर्षि नहीं देवर्षि है।

हमारे यहाँ ऋषियों की तीन प्रकार की संज्ञा है—देवर्षि, ब्रह्मर्षि और राजर्षि। देवर्षि दो हैं—नारद और पर्वत। ब्रह्मर्षि अनेकों हैं और राजर्षि भी अनेकों हैं। वेद के मर्मज्ञ को ब्रह्मर्षि शब्द से अभिहित किया जाता है। ब्रह्मतत्त्व के अनुसन्धानकर्ता की उपाधि भी ब्रह्मर्षि होती है। समाज शास्त्र का ज्ञाता, समाज के स्वरूप का अनुसंधान करके उसके लिए उचित व्यवस्था प्रदान करने की जो क्षमता रखता हो, उसको राजर्षि कहते हैं। परब्रह्म परमात्मा का जिसे ज्ञान हो, देवत्व से जो परिपूर्ण हो तथा उसके साथ ब्रह्मत्व का भी ज्ञान हो, उसे देवर्षि कहते हैं। महात्मा नारद को देवर्षि नारद कहा जाता है। वैदिक साहित्य में अनेकों मन्त्रों के द्रष्टा के रूप में देवर्षि नारद मिलते हैं और साथ ही उपनिषद् साहित्य में कई जगह देवर्षि नारद का दर्शन होता है। छान्दोग्योपनिषद् में आप सनत कुमार के शिष्य के रूप में हमें दिखाई देते हैं, जहाँ पर आपने अपने ज्ञान की विवेचना की है और कहा है, भगवन्! हमने सुना है कि दुनिया में एक ऐसा तत्त्व है जिसको जान लेने पर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है और जिसको जान कर शोक से व्यक्ति तर जाता है। मेरे पास तो बहुत विषयों का ज्ञान है लेकिन मैं अभी

शोक से पार नहीं हुआ।'' नारद जी से सनत कुमार ने पूछा कि तुम किन-किन विषयों का ज्ञान रखते हो, तो वहाँ पर उन्होंने अपने ज्ञान की एक पूरी लम्बी सी लिस्ट बता दी। उस लिस्ट को पढ़ कर ऐसा लगता है कि दुनिया का कोई ऐसा विषय नहीं है जिसका बोध देवर्षि नारद को न रहा हो। नारद जी ने कहा कि इतना जानने पर भी मैं शोक से मुक्त नहीं हुआ। वह कौन सी विद्या है जिससे मैं शोक से मुक्त हो सकता हूँ? गुरु सनत कुमार ने कहा—

**तरति शोकं आत्मवित्।** —*छान्दोग्य०*

वह आत्म विद्या है। तुम्हारे पास ये सारी विद्याएँ हैं लेकिन आत्मविद्या नहीं है। वे छान्दग्योपनिषद् में देवर्षि नारद को आत्मविद्या का उपदेश देते हैं। साहित्य शास्त्र में वाल्मीकि रामायण के प्रारम्भ में ही महर्षि वाल्मीकि के गुरु के रूप में ही देवर्षि नारद का दर्शन होता है। व्याध द्वारा एक क्रौंच पक्षी के मारे जाने पर दूसरे पक्षी के तड़पते हुए स्वरूप को देखकर जब वाल्मीकि जी के हृदय में व्यथा होती है तो अनायास ही उनके मुख से अनुष्टुप छन्द का श्लोक निकलता है—

**मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।**
**यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥**

—*वा०रा० १/२-१५*

वे व्याकुल हो जाते हैं और एकान्त में आकर विचार करते हैं कि मेरे हृदय से यह श्लोक कैसे निकल गया। वे निश्चय करते हैं कि अब तो मैं कविता करने में समर्थ हूँ। काव्य की रचना करने के लिए तो कोई नायक चाहिए। उन्होंने अपने दिमाग में सद्‌गुणों की सूचि तैयार की कि यह-यह सद्‌गुण जिसमें होंगे, वही मेरे काव्य का नायक बनेगा। यह चिन्तन करते हुए कि ऐसा नायक दुनिया में है कि नहीं, ऋषि वाल्मीकि अपने गुरु का स्मरण करते हैं। देवर्षि नारद उनके सामने आ जाते हैं और याद करने का कारण पूछते हैं। उन्होंने कहा, गुरुदेव! हम एक महाकाव्य की रचना करना चाहते हैं, जिसके लिए ऐसे पुरुष की आवश्यकता है जिसमें ये सभी गुण हों; इन गुणों से युक्त मेरे को कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दिखाई दे रहा। आप तो सर्वज्ञ हैं, तीनों लोकों में आपकी गति है। इस प्रकार के किसी पुरुष का मुझे नाम बताइए जिसके ऊपर मैं महाकाव्य की रचना कर सकूँ। यह सुनकर देवर्षि नारद ने अपने शिष्य वाल्मीकि को उपदेश देते हुए कहा—दुनिया में प्रसिद्ध इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए राम नाम के जो महापुरुष हैं, उनमें तुम जितने गुणों की कल्पना किए हो इससे भी कई गुणा अधिक गुण विद्यमान हैं।

उनके गुणों की व्याख्या करते हुए देवर्षि नारद ने उन्हें मूल रामायण का उपदेश सुनाया और उसी के आधार पर महर्षि वाल्मीकि ने वाल्मीकि रामायण की रचना की। इस प्रकार देवर्षि नारद का दर्शन हमें वाल्मीकि रामायण के प्रारम्भ में ही मूलरामायण के प्रवक्ता के रूप में महर्षि आदि कवि वाल्मीकि के गुरु के रूप में होता है। पुराण साहित्य में स्थान-स्थान पर हमें नारद का दर्शन होता है। कोई ऐसा पुराण नहीं है जिसमें नारद की गतिविधि का दर्शन न होता हो। अठारह पुराणों की तथा महाभारत की रचना के पश्चात् भी जब वेदव्यास जी को शान्ति नहीं हुई, तृप्ति नहीं हुई तो वह व्याकुल होकर सरस्वती नदी के तट पर बैठ गए और उन्होंने अपने गुरु नारद का चिन्तन किया। वहाँ पर देवर्षि नारद जी प्रकट होते हैं और कहते हैं कि पूर्ण तृप्ति का एकमात्र साधन माधव के गुणानुवाद का गान है। वह माधव कौन है? उन्होंने माधव के रूप में श्रीकृष्ण का वर्णन किया और निर्देश दिया कि भगवान् कृष्ण के चरित्र का गान करो। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन करते हुए व्यासदेव जी ने श्रीमद्भागवत महापुराण की रचना की। इसकी रचना करके वेदव्यास अपने आपको तृप्त पाते हैं। इस प्रकार श्रीमद्भागवत महापुराण की रचना में भी हमें देवर्षि नारद का उपदेश मिलता है।

पुराण साहित्य में भी देवर्षि नारद के दर्शन होते हैं। महाभारत काल में, वाल्मीकि रामायण में, वैदिक साहित्य में और उपनिषदों में भी देवर्षि नारद के दर्शन होते हैं। पश्चिम के विद्वानों ने यह निर्णय निकाला है कि देवर्षि नारद नाम का कोई व्यक्ति नहीं, पद है। जो व्यक्ति उस पद को प्राप्त कर लेता है वह देवर्षि नारद कहा जाता है, इसलिए एक नहीं अनेकों नारद हुए हैं क्योंकि वे भारत के इस परम्परागत ज्ञान से परिचित नहीं थे कि कुछ ऐसे व्यक्तित्व हैं जिन्हें भारतीय अमर मानते हैं और उन अमर आत्माओ में देवर्षि नारद हैं। उन्हें इस प्रकार के दिव्य स्वरूपों में रहने वाले योगियों और तत्त्वद्रष्टाओं का बोध नहीं था। आज भी हज़ारों वर्ष के सिद्ध पुरुष समय-२ पर किसी कृपा-पात्र को दर्शन देते हैं, उपदेश देते हैं, आदेश देते हैं, निर्देश देते हैं और अन्तर्धान हो जाते हैं, यह पुरानी परम्परा नहीं मेरे साथ बीती हुई है। आप लोगों ने स्वामी योगानन्द के जीवन को पढ़ा होगा। उन्होंने उसमें परम्परा के मूल गुरु का बाबा जी के नाम से वर्णन किया है। एनी बेसेंट जो थियोसोफिकल सोसाइटी की मुखिया रही है, उसने अपने ग्रन्थों में अनेक योगियों का वर्णन किया है। थियोसोफिस्ट की पूर्ण आस्था है कि सारी दुनिया का संचालन ऋषि मण्डली के द्वारा हो रहा है। समय-समय पर विभिन्न देशों में उसके निर्देशानुसार दिव्यात्माएँ प्रकट हो कर काम करती हैं।

आपको अनेकों घटनाएँ सुनने को मिलती हैं कि हिमालय सूक्ष्म शरीर में रहने वाले ऋषियों का निवास स्थान है। थियोसोफिकल सोसाइटी की प्रतिष्ठा करने वाले जोड़े में एक रशियन और एक अमेरिकन था। उन्हें हिमालय में एक ऋषि मिले जिन्होंने निर्देश दिया था कि भारत के उद्धार का यही समय है। भारत आगे विश्व का अध्यात्म विज्ञान में नेतृत्व करने जा रहा है। इस कार्य का प्रारम्भ तुम लोग करो। उनके निर्देशानुसार उन दोनों ने आकर थियोसोफिकल सोसाइटी की प्रतिष्ठा की। बाद में ऐनीबेसेंट उसकी संचालिका बनी। मैं आप लोगों को बता रहा था कि आज भी दुनिया में ऐसे बहुत से लोग मिलेंगे जिन्होंने सूक्ष्म शरीर में रहने वाली दिव्यात्माओं के दर्शन किए हैं, उनसे प्रेरणा प्राप्त की है, उनसे ज्ञान प्राप्त किया है, उनसे निर्देश प्राप्त किया है और उस ज्ञान को उन्होंने दुनिया के सामने रखा है। यदि आज यह अवस्था सम्भव है और इस प्रकार के अनेकों महापुरुषों के दर्शन होते हैं तो आज से हज़ारों वर्ष पूर्व नारद नाम के देवर्षि ने विभिन्न युगों में अपने सूक्ष्म शरीर से प्रकट होकर अनेकों ऋषियों को निर्देश या उपदेश दिया हो तो इसमें अतिश्योक्ति या आश्चर्य वाली बात नहीं है। विशेष करके हम भारतीयों के लिए आश्चर्य वाली बात नहीं है क्योंकि हम ऐसे योगियों के नाम से परिचित हैं, गुण से परिचित हैं और स्वरूप से भी परिचित हैं।

भारत में एक कृष्णदत्त ब्रह्मचारी नाम के महात्मा हैं। वे बिल्कुल अनपढ़ हैं। किसी को पता नहीं था कि उनके शरीर में दिव्यात्मा का प्रवेश होता है और वह जो कुछ सोए-सोए बोलते हैं, वह वेद की व्याख्या है। बाल्यकाल में ही भाइयों ने उन्हें घर से निकाल दिया और गाँव के एक ठाकुर ने उन्हें गऊ चराने के लिए रख लिया। दिन भर ठठवारी करते थे और रात को रोटी खाकर सो जाते थे। एक दिन उस ठाकुर के यहाँ काशी के विद्वान् पण्डित आए। पण्डित जी जब सो रहे थे तो आधी रात्रि में उन्होंने वेद मन्त्रों की आवाज़ सुनी। वे उठकर बैठ गए और कहने लगे कि वेद मन्त्रों की ध्वनि इस समय कहाँ से आ रही है? ठाकुर साहिब जो पास में ही सो रहे थे, उन्होंने कहा, पण्डित जी! हमारा जो चरवाहा है, वह रात में रोज़ ऐसे ही बड़बड़ाया करता है। कभी-कभी वह सोना भी मुश्किल कर देता है। उसने आज आपको सोने नहीं दिया, मैं अंभी जाकर उसे डाँटता हूँ। वे दोनों लालटेन उठाए, उसके कमरे तक आए और देखा कि वह सोए-२ सिर मार रहा था और वेद के मन्त्रों पर व्याख्यान दे रहा था। पण्डित जी खड़े-२ सुनने लगे। उन्होंने कहा, यह तो किसी ऋषि का अवतार है, यह तो वेद की व्याख्या कर रहा है। अपना व्याख्यान समाप्त करते हुए उसने कहा—शिष्यो! आज का

प्रसंग यहीं समाप्त होता है, कल तुम्हें और बताएँगे। प्रात: जब उठे तो ठाकुर जी ने उसके पाँव पकड़ लिए। वह बेचारा रोने लगा। यह समाचार जब दूर-दूर तक फैल गया तो देहली से आर्यसमाज का एक ग्रुप जाकर उस लड़के को ले आया और उसे सुलाकर उसका व्याख्यान कराने लगा। अब तो उसके व्याख्यानों की अनेकों पुस्तकें छप गई हैं। उसमें ऋषि शृङ्गी का अवतरण होता है। यह कोई पुरानी बात नहीं है, हाल ही की तो बात है। यह व्यक्ति देहली में है। उसका नाम कृष्णदत्त ब्रह्मचारी है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि जो भारतीय इस युग में भी इस प्रकार की घटनाएँ देख रहे हैं, उनके लिए यह आश्चर्य वाली बात नहीं है कि कोई देवर्षि नारद नाम के महापुरुष हैं जो समय-२ पर अवतरित होकर जिज्ञासुओं को दिशा प्रदान करते हैं। हमारे यहाँ नारद कई नहीं एक ही हैं। वे नारद पहले दासी पुत्र थे बाद में ब्रह्मा के मानसिक पुत्र हुए। उन्होंने स्वयं अपनी कहानी वाल्मीकि रामायण में बताई है कि वह देवर्षि नारद कैसे हुए।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि उन्हीं देवर्षि नारद के द्वारा ही भक्ति शास्त्र का सृजन हुआ है, वही उसके आचार्य हैं। भक्ति शास्त्र में ८४ सूत्र हैं, जिसमें उन्होंने भक्ति के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति की व्याख्या की है। प्रथम सूत्र को पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि देवर्षि नारद ने भक्ति शास्त्र की व्याख्या से पूर्व और भी विभिन्न शास्त्रों पर अपने प्रवचन दिए हैं। नारद भक्ति सूत्र का पहला सूत्र है—

**अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः।** —*ना०भ०सू० १*

अब मैं भक्ति की व्याख्या करने जा रहा हूँ, ऐसा कह कर उन्होंने इसका प्रारम्भ किया है। अब मैं भक्ति की व्याख्या करूँगा, माने अब से पहले मैंने अन्य विषयों की व्याख्या कर दी है। जैसे नारद का भक्ति सूत्र है ऐसे महर्षि शाण्डिल्य का भी भक्ति सूत्र है। नारद भक्ति सूत्र में ही भक्ति के आचार्यों की पूरी सूचि दी गई है, उसमें बताया गया है कि शाण्डिल्य भी भक्ति शास्त्र के आचार्य हैं। उनका भक्ति सूत्र भी उपलब्ध है। बीच-बीच में प्रसंगानुसार मैं शाण्डिल्य का भक्ति के विषय में जो संदेश है, उसका उदाहरण देकर बताऊँगा, साथ में भक्ति के अन्य अवयवों की भी व्याख्या करता रहूँगा।

दो बातें याद रखो—एक तो नारद एक हैं, दूसरे वे प्रत्येक युग में जिज्ञासुओं को आवश्यकतानुसार निर्देश तथा ज्ञान प्रदान करते हैं। वे समस्त वेदादि शास्त्रों के ज्ञाता तथा भक्ति के परमाचार्य हैं। वे वाल्मीकि और व्यास के भी गुरु हैं।

**अथातो भक्ति व्याख्यास्यामः।**

इस पहले सूत्र में 'अथ', 'अतः', ये दो शब्द हैं प्रारम्भ में। 'अथ' शब्द का निर्देश सभी दर्शन शास्त्रों के प्रारम्भ में मिलता है। योग दर्शन का प्रारम्भ 'अथ योगानुशासनम्' से होता है। वेदान्तदर्शन का प्रारम्भ 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' से होता है। मीमांसा दर्शन का प्रारम्भ 'अथातो धर्म जिज्ञासा' से होता है। इसी रूप से इस भक्ति सूत्र में भी 'अथ' और 'अतः' शब्द का प्रयोग है। हमारे यहाँ 'अथ' शब्द का प्रयोग माङ्गलिक माना जाता है। माङ्गलिक माने कल्याण करने वाला, इसलिए प्रत्येक ग्रन्थकार जब अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ करता है तो वह 'अथ' शब्द से करता है और 'इति' में ले जाकर उसकी पूर्ण इति कर देता है। 'अतः' शब्द संकेत करता है कि इससे पूर्व नारद जी ने और भी विषयों की व्याख्या कर ली है, अब वे भक्ति की व्याख्या करने जा रहे हैं। अन्य जितने भी शास्त्र हैं उनमें नारद जी ने कहा—

**भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी।**

*—ना०भ०सू० ८१*

भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही श्रेष्ठ है। भगवान् को प्राप्त करने के अन्य जितने भी साधन हो सकते हैं, सब की व्याख्या करने के पश्चात् उन्होंने भक्ति की व्याख्या की है। अन्य आचार्यों ने कर्म के बाद उपासना, उपासना के बाद ज्ञान का विधान माना है परन्तु नारद जी ने भक्ति को अन्त में स्थान दिया है, इसका कारण क्या? मैंने आप लोगों को बताया है कि नारद भक्ति सूत्र में जिस भक्ति की व्याख्या की गई है, वह वैधा (साधना) भक्ति नहीं है, वह तो सिद्धा भक्ति है। भक्ति के श्रेष्ठतम स्वरूप की उन्होंने विवेचना की है इसलिए सभी साधनों के अन्त में उसका विवेचन किया है और इसको श्रेष्ठतम साधन बताया है।

दुनिया में दो प्रकार के लोग हैं—एक बुद्धि के धनी दूसरे हृदय के धनी। बुद्धि के धनी लोगों में न्यूनाधिकता पाई जा सकती है यानी बुद्धि सब की विशुद्ध हो, स्थिर हो, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता लेकिन यह शर्त हृदय के लिए नहीं है। हमारे यहाँ साधना की राजयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोगादि प्रक्रियायें हैं। ज्ञानयोगी कौन हो सकता है? वेद कहता है—

**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥**

*—कठ० १/३-१२*

जिसकी बुद्धि कुशाग्र है अर्थात् कुश के अग्र भाग के समान तीखी जिसकी बुद्धि हो वह ज्ञान मार्ग का अधिकारी हो सकता है। ज्ञान मार्ग के सभी अधिकारी नहीं

हो सकते। गीता में कहा है—

**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।**
**बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिःसा पार्थ सात्त्विकी।।**

*—गीता १८/३०*

सात्त्विक बुद्धि से जो युक्त नहीं है, वह ज्ञान मार्ग में किस प्रकार आगे बढ़ेगा? तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में जहाँ ज्ञान दीपक का विश्लेषण किया है, वहाँ सबसे पहले यही कहा है—

**सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई।।**

*—रा० ७/११७-९*

यदि सात्त्विक बुद्धि नहीं है तो सात्त्विक श्रद्धा नहीं हो सकती। सात्त्विक श्रद्धा नहीं है तो आप ज्ञान मार्ग के पथिक नहीं बन सकते। दुनिया में आपको एक प्रतिशत भी सात्त्विक बुद्धि वाले मुश्किल से ही मिलेंगे। ज्ञान योग की तो यह दशा है, ध्यान योग के लिए भी विशुद्ध मन, उत्कट अभिलाषा और संयमित जीवन चाहिए, यह भी बड़ा मुश्किल है। आँख खोले रहो तो कुछ याद नहीं आता, आँख बंद करो तो लगता है कि दुनिया की सारी जिम्मेदारी अपने पर ही आ गई है, इसलिए ध्यान योग भी सबके बस की बात नहीं, उसमें भी योग्यता की जरूरत है। कर्मयोग इन दोनों से ही कठिन है। पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण ध्यानी ही कर्मयोगी बन सकता है क्योंकि कर्मयोग की शर्त ही यह है कि—

**मामनुस्मर युध्य च।** *—गीता ८/७*

मन भगवान् में लगाओ, हाथ काम में यह बड़ा मुश्किल है। भगवान् कहते हैं कि इतना ही नहीं बुद्धि जागरूक हो। भगवान् ने गीता में कहा है—

**समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।**

*—गीता २/५३*

ध्यान के द्वारा समाधि लगाओ। समाधि द्वारा तुम्हारी बुद्धि जब अचल हो जाए तब तुम अचल बुद्धि के द्वारा कर्मयोग का अनुष्ठान कर सकते हो। कर्मयोगी कर्म से मुक्त हो जाता है।

आजकल किसी से बात करो तो कहेंगे भगवान् ने गीता में कर्मयोग की बात कही है, मैं तो उसी कर्मयोग में विश्वास करता हूँ। कर्मयोग माने दिनभर परिश्रम करता हूँ, पैसे कमा कर लाता हूँ, स्त्री-बच्चों को पालता हूँ। इसको कर्मयोग नहीं कहते, इसे कर्मभोग कहते हैं। तूने भ्रान्ति से इसे कर्मयोग समझ रखा है। कर्मयोगी को कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता है।

**अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।**
**भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिनां क्वचित्॥**

*—गीता १८/१२*

गीता में भगवान् ने बताया है कि तीन प्रकार के कर्म और उनके फल होते हैं। एक इष्ट कर्म उसका शुभ फल, एक अनिष्ट कर्म उसका अशुभ फल और तीसरा मिश्रित कर्म उसका मिला-जुला फल होता है। यही बात योगदर्शन में पतंजलि ने समझाई है—

**कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।**

*—यो०सू० ४/७*

अन्य लोगों को तो कर्म के तीन प्रकार के फल मिलते हैं—शुभ का शुभ अर्थात् सुख मिलता है, अशुभ का अशुभ अर्थात् दुःख मिलता है और मिश्रित का मिश्रित अर्थात् सुख-दुःख दोनों मिलते हैं। योगी उसे कहते हैं जिसका कर्म न शुभ है, न अशुभ है, बल्कि शुभ और अशुभ दोनों से परे है। वहाँ फल ही नहीं कोई तो भोगेगा कौन? तब वह कर्मयोग बना। जहाँ कर्म करके उसके फल की चाह लिए बैठे हो तो वह कर्मयोग नहीं, कर्मभोग है। कर्मयोग सबसे कठिन साधना है। यह तो ध्यानयोग और ज्ञानयोग से भी कठिन साधना है। इसके लिए भी पात्रता बहुत मुश्किल से प्राप्त होती है।

अब रह गया भक्तियोग। यह हृदय से सम्बन्धित है। दुनिया में कोई ऐसा नहीं है जिसके पास हृदय न हो, अज्ञानी के पास भी हृदय है। जो एक महापापी है, उसके पास भी हृदय है। जो दूसरे को भून करके खा जाता है, उसके पास भी हृदय है। कोई ऐसा समय आता है जब उसके हृदय को स्पर्श करो तो व्यक्ति काँप जाता है। हृदय सभी के पास है इसलिए बताया गया कि भक्तियोग सब के लिए सुलभ है। इसी बात को तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में बार-बार दुहराया है। भक्ति का मार्ग सुगम है। सुगम क्यों है? इसमें किसी योग्यता की ज़रूरत नहीं है। ध्यानयोग में, ज्ञानयोग में, कर्मयोग में योग्यता चाहिए लेकिन भक्तियोग में इसकी जरूरत नहीं है।

इसमें आवश्यकता क्या है? सारे फिर क्यों नहीं भक्तियोगी बन जाते? अभी मैं पहले ध्यान के समय प्रकाश, गति और प्रेम की बात समझा रहा था कि दिव्य प्रकाश जब ब्रह्मचक्र में पड़ता है तो प्रकाश पड़ते ही ब्रह्मचक्र में स्पन्दन होता है। अंग्रेजी में उसे 'मूवमैंट' कहते हैं और बोलचाल की भाषा में उसे स्फुर्णा कहते हैं। वह जो गति होती है उसका क्रियात्मक स्वरूप क्या होता है? श्वास का

अन्दर आना और बाहर जाना। यह कब शुरु होता है जानते हो? माता के उदर में जब गर्भ बनता है तो उसके तीन महीने बाद। विदृति मार्ग से जब आत्मा का प्रवेश होता है तो श्वास-प्रश्वास की क्रिया होने लगती है। श्वसन क्रिया के साथ ही अस्मिलेशन और वृद्धि की प्रक्रिया शुरु हो जाती है यानी समेटना (आहार ग्रहण करना) और फिर उसको विकसित करना। जहाँ ये तीन क्रियाएँ प्रारम्भ हुई तो कहते हैं कि यहाँ पर जीवन है। जीवन के होने पर एक वह अपने लिए खाद्य ग्रहण करने लगता है, दूसरा उसमें वृद्धि होने लगती है और तीसरा ग्रहण और त्याग के साथ अब उस प्रकार के अनेक अन्य तत्त्वों का वह निर्माण करने लगता है। इस प्रकार उसमें तीन प्रकार की क्रियाएँ होती हैं—गति, ग्रहण और विकास। इन तीनों क्रियाओं के नाते हम कहते हैं कि यहाँ जीवन है। प्रकाश से जीवन का जन्म होता है। जीवन की अभिव्यक्ति जब मनुष्य रूप में होती है तो उसे कहते हैं प्रेम। हमारे यहाँ उसे काम कहते हैं। काम शब्द तो बाद में बदनाम हो गया। पश्चिम में काम के लिए 'लव' शब्द का प्रयोग होता है, सही माने में काम वैदिक शब्द है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में पूछा गया कि सबसे पहले जीवन जब प्रकट हुआ तो उससे क्या उत्पन्न हुआ? वेद कहता है काम। काम माने 'लस्ट' नहीं, काम माने 'सैक्स' नहीं। फिर काम माने क्या है? काम माने चाह। आप जितने कर्म करते हैं किस लिए करते हैं? काम की पूर्ति के लिए। काम के पश्चात् कर्म आया है इसलिए कर्म को भी काम कहते हैं। काम माने क्रिया नहीं है। जिसकी पूर्ति के लिए क्रिया कर रहे हो उसका नाम काम है। पहले काम फिर क्रिया। इसी काम को व्याकरण शास्त्र में ईप्सा कहा गया है। इसी काम को चाह कहा गया है। यही काम जब दूसरे रूप में हो जाता है तो उसको वासना भी कह देते हैं। यही काम जब विकृत हो जाता है तो उसका नाम तृष्णा हो जाता है। बुद्ध ने उसे तृष्णा कहा है। जीवन के पश्चात् तुरन्त काम की अभिव्यक्ति होती है। आप पैदा हुए बच्चे को देखिए, और बातों के लिए तो उसे सिखाना पड़ेगा लेकिन जहाँ माँ ने उसके मुँह में स्तन डाला तो वह चूसना शुरु कर देगा। किसने ट्रेनिंग दी उसे? किसी ने उसे चूसना नहीं सिखाया। वेद कहता है कि काम ने उसे प्रेरणा दी है। कामना से प्रेरित होकर के वह क्रिया में प्रवृत्त हुआ है। क्रिया का मूल स्त्रोत काम है। अंग्रेजी में काम को 'लव' कहते हैं। तो लाईट (प्रकाश), लाईफ (गति) और लव (प्रेम) इन तीनों की अभिव्यक्ति एक साथ होती है। जहाँ ब्रह्मचक्र में प्रकाश पड़ा वहाँ जीवन गतिशील हुआ और जहाँ जीवन में गति

आई तुरन्त काम का जन्म हो गया। उस काम की पूर्ति के लिए आप क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। आप के अगल-बगल जो साधन हैं, उनका आप प्रयोग करने लगते हैं।

भक्ति शास्त्र क्या बताता है? भक्ति शास्त्र कहता है कि यह जो तुम्हारे पास काम की शक्ति है उसका प्रयोग योग के लिए करो। काम की शक्ति का दो प्रकार से प्रयोग होता है—योग और भोग। या तो तुम उसका प्रयोग भोग में कर सकते हो या योग में कर सकते हो। हृदय उस काम का मूल स्रोत है। हृदय से नीचे जहाँ उस काम की गति गई वहाँ भोग का जन्म होगा और शक्ति का क्षय होगा। जहाँ हृदय से ऊपर इस काम की गति गई वहाँ योग की अभिव्यक्ति होगी और शक्ति का सृजन और वृद्धि होगी। हृदय उसका मध्य भाग है। अब यहीं से उसको नीचे फेंकना है या ऊपर ले जाना है। भक्ति शास्त्र कहता है कि काम को किस प्रकार से परिवर्तित करके नीचे की अपेक्षा ऊपर ले जाया जाए। इसकी विद्या ही भक्ति विद्या है। बहुत ही प्रेक्टिकल है यह। चेतना जब जागृत होती है तो उस चेतना को बुद्धि कहते हैं। बुद्धि से जो हृदय में उत्पन्न हुआ उसको भावना कहा गया है। यदि बुद्धि में रजोगुण है तो काम सतोगुणी नहीं होगा बल्कि रजोगुणी होगा। भगवान् ने गीता में कामना की जगह भावना शब्द का प्रयोग किया है और कहा है—

**ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।**
**मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥**

*—गीता ७/१२*

हमने भी अपनी पुस्तक 'जीवन विज्ञान' में कामना और भावना शब्द का प्रयोग किया है। यह काम जो है इसी को भाव कहा है। जब भगवान् से यह जुड़ जाएगा तो भाव बन जाएगा और यदि संसार से जुड़ जाएगा तो इसे काम ही कहेंगे। कर्म से जोड़ो तो काम, उपासना से जोड़ो तो भाव। शक्ति तो वही है। वह शक्ति तुम्हारी तीन प्रकार की होगी—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। ये तीनों किससे आये? उस चेतन से। जब आपकी बुद्धि सात्त्विक होगी तो उससे सात्त्विक भाव आएगा। राजसिक या तामसिक बुद्धि है तो राजसिक वा तामसिक भाव होगा। यदि राजसिक वा तामसिक भाव है तो तुम योग की तरफ नहीं भोग की तरफ बढ़ोगे। यदि सात्त्विक भाव है तो स्वभावतया तुम्हारे में अच्छाई-बुराई का, सत्य-असत्य का, उचित-अनुचित का तथा बन्धन और मोक्ष का निर्णय होगा और इसके नाते तुम कल्याण मार्ग पर आगे बढ़ जाओगे जिसके बारे में गीता के

अठारहवें अध्याय में भगवान् ने समझाया। भक्ति का विश्लेषण इतना तात्त्विक और इतना दार्शनिक है कि इसमें किंचित मात्र भी अज्ञान के लिए स्थान नहीं है। भगवान् कहते हैं कि हृदय सबके पास है इसलिए भाव सबके पास है। भाव होने के नाते भगवान् की आवश्यकता है। इन्सान भगवान् ही तो बनना चाहता है। इन्सान की मंज़िल भगवान् है। जब तक वह भगवान् नहीं बन जाता तब तक वह किसी भी काल में स्थिर नहीं रह सकता। तुलसीदास जी ने इसे अपनी रामायण में लिखा है—

**सरिता जल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥**

—रा० ४/१४-८

नदियों का जल तब तक शान्त नहीं हो सकता जब तक समुद्र में न गिर जाए। प्रत्येक नदी का लक्ष्य समुद्र है। प्रत्येक नदी समुद्र बनना चाहती है, जब तक वह समुद्र नहीं बनती तब तक वह शान्त नहीं हो सकती। ऐसे प्रत्येक जीव शिव बनना चाहता है, जब तक वह शिव नहीं बनता तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती। इन्सान भगवान् कैसे बने उसके लिए जो रसायन तत्त्व है वह भक्ति है। भक्ति के द्वारा ही इन्सान भगवान् बनता है। मैं आप लोगों को जिस भक्ति शास्त्र का विश्लेषण आगे सुनाऊँगा वह प्रेम का दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। 'लाईट', 'लाईफ' और 'लव' अर्थात् प्रकाश, गति और प्रेम, इन तीनों के सामाञ्जस्य को, यथार्थ स्वरूप को समझते हुए 'अथातो भक्ति व्याख्यास्यामः' यह जो नारद जी की प्रतिज्ञा है, उस पर ध्यान दें। उन्होंने यह कहा कि अब आगे मैं भक्ति की व्याख्या करूँगा और वो भक्ति की व्याख्या कैसे करते हैं, यह कल समझाया जाएगा।

**हरि ॐ तत्सत्**

# २

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! कल मैंने आप लोगों को देवर्षि नारद और उनके भक्ति शास्त्र के विषय में बहुत-सी बातें बताई थीं, विश्वास है आप लोग उसे स्मरण रखेंगे। देवर्षि नारद ने अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः, ऐसी प्रतिज्ञा करके अपना प्रवचन प्रारम्भ किया। भक्ति क्या है, इस पहले प्रश्न वा पहली जिज्ञासा के उत्तर में उन्होंने दूसरा सूत्र कहा है—

**सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥**

—ना०भ०सू० २

भक्ति परमात्मा के प्रति परम प्रेम स्वरूपा है। 'कस्मिन् परमप्रेमरूपा' किसके प्रति परम प्रेम रूपा भक्ति है? अस्मिन्। विद्वानों की राय है कि यहाँ 'अस्मिन्' शब्द परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। कुछ ग्रन्थों में 'कस्मै' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। वहाँ 'सा तु कस्मै परमप्रेमरूपा' ऐसा पाठ भी है। 'कस्मै' माने रसस्वरूप परमात्मा। 'कम्' शब्द ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'कम्' माने आनन्द। 'कम्' का चौथा रूप 'कस्मै' बनता है। 'कस्मै' माने परमात्मा के लिए। इससे सम्बन्धित वेद में बहुत से मन्त्र आए हैं। जैसे—

**कस्मै देवाय हविषा विधेम्।**

रसस्वरूप परमात्मा के लिए मैं हवि समर्पित करता हूँ, ऐसा इसका अर्थ होता है। पश्चिम के विद्वानों ने यथार्थ अर्थ न समझ कर ऐसा कहा है कि वैदिक काल के ऋषि अव्यवस्थित चित्त थे, उन्हें किसी परमात्मा का अनुभव नहीं था इसलिए उन्होंने यह प्रश्न किया है कि 'कस्मै देवाय हविषा विधेम्', अर्थात् किस

देवता के लिए मैं हवि समर्पित करूँ? वहाँ पर 'कस्मै देवाय' शब्द प्रश्न के लिए नहीं नपुंसक लिङ्ग के लिए प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्म का निर्देश हमेशा नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है इसलिए उसे 'तत्' कहते हैं। उसको 'सः' भी कहते हैं, 'सा' भी कहते हैं लेकिन जहाँ पर ब्रह्म की व्याख्या करनी होगी वहाँ उसके लिए 'तत्' शब्द का प्रयोग करेंगे। विशेष करके—

**ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।**
**अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥**

*—गीता १३/१२*

ऐसा गीता में भगवान् ने कहा है। वेद में तथा उपनिषद् में भिन्न-भिन्न स्थानों पर हम देखते हैं कि परमात्मा के लिए नपुंसक लिंग का प्रयोग हुआ है। वह प्रकृति और पुरुष, सत् और असत् से परे है—'न सत् नासत् इत्युच्यते'। भगवान् कहते हैं कि न मैं सत् हूँ न असत्। सत् माने पुरुष, असत् माने प्रकृति।

**तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।**
**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥**

*—गीता ९/१९*

'मैं ही सत् हूँ, मैं ही असत् हूँ' ऐसा इस श्लोक में कहा है। वेद भी यही मानता है। वैदिक ऋषि परमात्मा को स्त्री-पुरुष भेद से परे परम तत्त्व रूप में जानता था, इसलिए उसने उसकी घोषणा की—'कस्मै देवाय हविषा विधेम्।' 'कस्मै' शब्द संशयात्मक नहीं है, यह परमात्मा के परम स्वरूप की विवेचना करता है और उसी के लिए समस्त क्रियाओं के समर्पण का विधान बताता है। यहाँ पर 'सा तु कस्मै परमप्रेमरूपा', ऐसा भी शब्द विद्वान् मानते हैं कि भक्ति परमात्मा के लिए परम प्रेम स्वरूपा है।

परमात्मा के प्रति परम प्रेम जो है, वही भक्ति का स्वरूप है। महर्षि शाण्डिल्य ने भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है—

**सा परानुरक्तिरीश्वरे॥**

*—शा०भ०सू० २*

भक्ति ईश्वर में परमानुरक्ति है। ईश्वर में परमानुरक्ति की जरूरत क्या है? वेद में निर्देश है कि जो परमात्मा में अनुरक्त होता है, वह परमात्मा में स्थित हो जाता है, यही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। वेद के इस उपदेश के आधार पर परमात्मा में स्थित होने के लिए भक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई रास्ता नहीं है। ज्ञान भी तो परमात्मा में स्थिति का कारण हो सकता है? ज्ञान सदैव परमात्मा की

स्थिति में कारण नहीं होता क्योंकि शत्रु का भी ज्ञान होता है परन्तु शत्रु में कोई स्थित तो नहीं होता। जिससे आपका प्रेम होगा उसमें आपकी स्थिति होगी लेकिन जिसका आपको ज्ञान हो जाए उसमें आपकी अनुरक्ति हो जाए, ऐसा कोई नियम नहीं है। ज्ञान तो हमें बहुत चीज़ों का है लेकिन उनमें अनुरक्ति नहीं है। भक्ति ज्ञानस्वरूपा नहीं है, वह रसस्वरूपा तथा प्रेम स्वरूपा है, महर्षि शाण्डिल्य ने अपने भक्ति शास्त्र में इसकी ऐसी व्याख्या की है। इसी बात को महात्मा नारद ने अपने भक्ति शास्त्र में कहा है कि भक्ति प्रेम रूपा नहीं परम प्रेम रूपा है।

प्रेम तो हमारा संसार के सम्बन्ध में भी हो जाता है लेकिन वह प्रेम स्थिर नहीं होता। हम उसमें हो जायें, वह हमारे में हो जाए, ऐसा नहीं होता। संसार में प्रेम के साथ द्वैत बना रहता है। स्त्री-पुरुष के प्रेम में, माता-पुत्र के प्रेम में तथा मित्र-मित्र के प्रेम में अद्वैत की उपलब्धि नहीं होती, वे एक दूसरे में स्थित नहीं हो जाते। यदि एक दूसरे में स्थित हो जाएँ तो परम प्रेम हो जाए। उस प्रेम में जहाँ अभिन्नता है वहाँ भक्ति में कोई अन्तर नहीं रहता। परम प्रेम की परमात्मा में आवश्यकता क्या है? इसके विषय में शाण्डिल्य का यह सिद्धान्त याद रखें कि परमात्मा हमारी आन्तरिक चाह है, हमारे जीवन का लक्ष्य है, हमारा प्राप्तव्य है, हमारा गन्तव्य है। परमात्मा तक पहुँचना, परमात्मा को प्राप्त करके परमात्मा हो जाना हमारे जीवन का उद्देश्य है और इस उद्देश्य की पूर्ति परम प्रेम रूपा भक्ति के द्वारा ही सुगमता से हो सकती है और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इसके बिना मनुष्य कभी भी स्थिरता, शान्ति और अनन्त सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता। आगे उन्होंने इसके साथ दूसरा सूत्र और कहा—'अमृतस्वरूपा च।'

वह केवल परम प्रेम रूपा ही नहीं है अमृत स्वरूपा भी है। मनुष्य की अन्तिम चाह परमात्मा है। क्यों है? क्योंकि परमात्मा अमृतस्वरूप है। यदि उसे पता चल जाए कि परमात्मा भी मर जाएगा तो वह परमात्मा नहीं होना चाहेगा। वह जानता है कि परमात्मा अमृतस्वरूप है, उसे प्राप्त कर हम अमृत स्वरूप हो जायेंगे। 'विद्ययामृतमश्नुते। विद्याविन्दतेऽमृतम्।' वेद के मन्त्र हमें सकेंत कर रहे कि परमात्मा का बोध, परमात्मा का ज्ञान, परमात्मा की उपलब्धि ही हमें मृत्यु से मुक्त कर सकती है। हम बृहदारण्यकोपनिषद् में पढ़ते हैं कि मैत्रेयी को सारी सम्पत्ति मिल जाने पर भी सबसे पहला प्रश्न याज्ञवल्क्य से उसने यह किया कि इस सम्पत्ति से हमें क्या लाभ होगा? याज्ञवल्क्य ने कहा कि इस सम्पत्ति से एक धनी व्यक्ति को जो सुख मिलता है वही तुम्हें मिलेगा। उसने दूसरा प्रश्न किया, क्या मैं इससे अमर हो जाऊँगी? याज्ञवल्क्य ने कहा कि इससे तुम अमर तो नहीं

हो सकती। इतना सुनते ही उसने तुरन्त उस सम्पत्ति को ठोकर मार दी। उसने घोषणा की—

**येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।**

—*बृहदा० २/४-३*

'जिसको लेकर मैं अमर नहीं हो सकती अर्थात् जिसको प्राप्त करके मृत्यु से छुटकारा नहीं हो सकता, उसको लेकर मैं क्या करुँगी?' मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना मृत्यु है। पतंजलि ने अपने योगसूत्र में कहा है—

**स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूपोऽभिनिवेशः।**

—*यो०सू० २/९*

इसको अभिनिवेश नाम दिया है। यह ऐसा क्लेश है, जो मूर्खों के सिर ही सवार नहीं है विद्वानों के सिर पर भी सवार रहता है। यह स्वरसवाही है, यह अपने आप चलकर जाता है, कोई इसे लेकर नहीं जाता।

**तुलसी जसि भवतब्यता तैसी मिलइ सहाइ।**
**आपुनु आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लै जाइ॥**

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की दुर्घटना मृत्यु है। मृत्यु ही अपने प्रियजनों के वियोग में मूल कारण बनती है। मृत्यु को छोड़कर शेष वियोग तो अस्थाई होते हैं इसलिए मृत्यु से सभी भयभीत होते हैं। जिसको आप बहुत प्यार करते हैं, उसके आने में यदि थोड़ी सी भी देर हो जाए तो आप यह कभी नहीं सोचेंगे कि वह कहीं बैठा होगा, मित्रों में आनन्द ले रहा होगा या कहीं सैर करने चला गया होगा। आपके दिमाग में यही आएगा कि ऐसा न हो कहीं दुर्घटना हो गयी हो? अनिष्ट की आशंका हो जाती है। सबसे बड़ा अनिष्ट मृत्यु है। सब मृत्यु के दुःख को अनेक बार भोगे हुए हैं, उससे परिचित हैं। मृत्यु से बचने के लिए एक ही उपाय है-अमृतस्वरूप परमात्मा की उपलब्धि। संसार में मृत्यु से कोई बच नहीं सकता। संसार और मृत्यु का आपस में नित्य सम्बन्ध है। संसार मृत्यु स्वरूप है, मृत्यु संसार स्वरूप है। आचार्य शंकर ने एक जगह लिखा है—

**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरेशयनं।**
**यही संसारे खलु दुस्तारे कृपया पारे पाहि मुरारे॥**

बार-बार जन्मना, बार-२ मरना, बार-२ माँ के उदर में उलटा टंगना, इस सारी विपत्ति से केवल वह मुरारी परमात्मा ही बचा सकता है। परमात्मा अमृतस्वरूप है, जो उसमें अनुराग करता है, वह भी अमृत बन जाता है। भारत में एक सन्त हुए हैं, वह कवि भी थे। उन्होंने कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित एक जगह गोपी गीत में

लिखा है—

**भृंगी भय से भृंग होत एक कीट महाजड़।**

इसे भृंग-कीट-न्याय कहते हैं। एक भौंरा होता है जिसे भृंग कहते हैं। वह एक कीड़े को पकड़ कर ले आता है, एक जगह मिट्टी का स्थान बना कर उसके अन्दर उसे रख देता है और ऊपर से मिट्टी से दबा देता है और उसके बगल में भन-भन करता रहता है। कुछ दिनों बाद वह कीड़ा उसी प्रकार का भौंरा बन कर बाहर निकल आता है। वह कीड़ा भौंरा कैसे बना? भौंरा जब उसके पास भनभनाता रहा तो वह कीड़ा उसके डर के मारे उसी का चिन्तन करता रहा और चिन्तन करते-करते भौंरा बन गया। उस सन्त ने लिखा है—

**भृंगी भय से भृंग होत एक कीट महाजड़।**
**कृष्ण प्रेम ते कृष्ण होए यह नहिं अचरज बड़॥**

कीड़ा भय से भौंरे का चिन्तन करते-करते भौंरा बन जाता है तो यदि मनुष्य कृष्ण से प्रेम करता हो और प्रेम करते-करते स्वयं प्रेमास्पद बन जाए, इसमें आश्चर्य की बात क्या है? एक दूसरे सन्त ने लिखा है—

**जाके उर में आठो यामा रामा ही रामा होई।**
**रामा ही रामा रमते रमते आपु ही रामा होई॥**

जो सदैव राम-राम का चिन्तन करता है, वह राम ही राम हो जाता है। नरसी महता ने अपने एक पद में लिखा है—

**तिन में तो कछु अन्तर नाहीं सन्त कहो चाहे राम।**
**जिन्होंने मन मार लिया हम तो उन सन्तन के दास॥**

भगवान् और उनके भक्त में कोई अन्तर नहीं रह जाता। वह भगवत् स्वरूप ही हो जाता है, अमृतस्वरूप हो जाता है। परमात्म स्वरूप को प्राप्त करने का साधन परमात्मा में अनुरक्ति ही है। परमात्मा के ज्ञान मात्र से तुम परमात्मा नहीं बन जाओगे यदि परमात्मा में अनुरक्ति नहीं है तो। विभीषण ने रावण को राम के विषय में सब कुछ बताया था—

**तात राम नहीं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥**
**ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनन्ता॥**

*—रा० ५/३९-१, २*

राम सामान्य नरपति नहीं हैं। वे समस्त भुवनों के ईश्वर तथा काल के भी काल हैं। इतना ही नहीं बल्कि वे त्रिगुणात्मिका माया रूपी व्याधि से रहित अजन्मा ब्रह्म हैं। वे सर्वव्यापी, अजय, आदि और अन्त से रहित हैं। तुम इनकी

शरण जाओ। रावण जान तो गया लेकिन उनमें अनुरक्त नहीं हुआ। इसी प्रकार मन्दोदरी ने भगवान् के विराट् रूप की व्याख्या करते हुए रावण को समझाया। समझाने से क्या रावण को ज्ञान नहीं हुआ? ज्ञान तो हुआ परन्तु किसी के ज्ञान मात्र से उसमें अनुरक्ति हो जाएगी, ऐसा नहीं है। ज्ञान तो साँप का भी है, शत्रु का भी है लेकिन उसमें हमारी अनुरक्ति नहीं होती। महर्षि शाण्डिल्य ने कहा है कि केवल ज्ञान मात्र से परमात्मा में स्थिति नहीं होती। ज्ञान के साथ प्रेम हो तब उसमें स्थिति होगी। परमात्मा में स्थिति होने पर ही तुम परमात्म स्वरूप प्राप्त कर सकते हो। परमात्म स्वरूप प्राप्त करने पर ही तुम मृत्यु से बच सकते हो अर्थात् अमृत स्वरूप को प्राप्त कर सकते हो। वेद में कहा है—

**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥**

*—ईशा० ११*

अविद्या के बोध से मृत्यु से पार होकर विद्या के बोध से तुम अमृत तत्त्व का उपभोग करोगे। यह भी बताया कि जिसकी तुम तलाश कर रहे थे, उसे जानने पर अनुरक्ति स्वाभावत: हो जाएगी। तुलसीदास जी ने कहा है—

**राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥**
**जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥**
**प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥**

*—रा० ७/८९/६,७,८*

बिना जाने विश्वास नहीं होता। भक्ति में ज्ञान का निराकरण नहीं है। यह नहीं कहा कि बिना ज्ञान के भक्ति हो जाएगी लेकिन ज्ञान से ही अनुरक्ति हो जाएगी, ऐसा नहीं है, उसके लिए प्रेम की जरूरत है। उसका यथार्थ ज्ञान होने से, उसके प्रति अनुराग होने से उसके प्रति भक्ति होगी। ज्ञान और प्रेम का सामञ्जस्य ही परमात्म स्वरूप प्राप्ति का श्रेष्ठतम साधन है। नारद जी ने भक्ति स्वरूप की विवेचना में दो बातें कही हैं—

**सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च॥**

*—ना०भ०सू० २,३*

वह भक्ति प्रेम रूपा है और अमृत स्वरूपा है। हमें इन दोनों की चाह है। हम रस चाहते हैं और अमृत तत्त्व चाहते हैं। हम एक ऐसे रस की तलाश में हैं जो कि मृत्यु की सीमा से परे हो। दुनिया में जितने भी रस हैं सभी के साथ मृत्यु का भय लगा हुआ है। ऐसा न हो कि कहीं यह छिन जाए या मैं ही स्वयं न रहूँ। यह जो भययुक्त रसानुभूति है, यह पूर्ण तुष्टि में कारण नहीं होती। संयोग की प्रसन्नता में

वियोग का भय लगा ही रहता है। संयोग की प्रसन्नता उसका पूरा उपभोग नहीं करने देती, रस की अनुभूति में व्यवधान उत्पन्न कर देती है। भगवान् के साथ जिस संयोग की भावना या कल्पना की जाती है, उसमें वियोग की कहीं गुंजाइश ही नहीं है। एक बार यदि वहाँ संयोग की अनुभूति हो गई तो वहाँ वियोग की पुनः सम्भावना नहीं है क्योंकि वियोग सदैव उसमें होता है जो सीमित हो, एक देशीय हो और जो अपने से भिन्न हो। परमात्मा में देश व्यवधान नहीं हो सकता क्योंकि वह सर्वव्यापी है। वह नित्य है इसलिए वहाँ काल व्यवधान नहीं हो सकता। वहाँ परिस्थिति का व्यवधान नहीं है क्योंकि वह सदा है, सर्वदा है और सर्वत्र है। तीनों का व्यवधान न होने पर यदि उसकी अनुभूति हो जाए, अनुरक्ति हो जाए फिर उससे अलग होने की कल्पना ही नहीं रह जाती। भगवान् ने बताया कि ज्ञानी भी एक जन्म में नहीं अनेक जन्मों के बाद मुझे समर्पित होते हैं—

**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।**

*—गीता ७/१९*

एक जन्म नहीं अनेक जन्मों के बाद ज्ञानीजन मुझे अनुभव करते हैं फिर वे मुझे समर्पित होते हैं। समर्पित होने पर उन्हें अनुभूति होती है 'वासुदेवः सर्वमिति।' वासुदेव ही सर्वत्र है, उसके सिवा कुछ नहीं है।

ऐसा ज्ञानी महात्मा जो अनेक जन्मों के बाद मेरे को पूर्ण रूप से समर्पित होकर के अब 'वासुदेवः सर्वमिति' अनुभव करने लगा है, सुदुर्लभ है। रामायण में इसके प्रतीक हैं—हनुमान

**ज्ञानिनामग्रगण्यं भक्तिमतां वरिष्ठम्॥**

हनुमान में पूर्ण ज्ञान है और पूर्ण अनुरक्ति है, भरत में पूर्ण ज्ञान है, पूर्णानुरक्ति है, भगवान् शंकर में पूर्ण ज्ञान है और पूर्णानुरक्ति है। लक्ष्मण को राम के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान और पूर्णानुरक्ति है। तुलसीदास जी ने लिखा है—

**जानि है संकर-हनुमान-लषन-भरत-राम भगति।**
**कहत सुगम, करत अगम, सुनत मीठी लगति॥**
**राम-प्रेम पथतें कबहूँ डोलत नहिं, डगति।**
**लहत सकृत चहत सकल, जुग-जुग जगमगति॥**

*—गीतावली २/८२-१, २*

भगवान् की भक्ति तो इन चारों ने जानी है। कहने में यह सुगम है करने में कठिन है लेकिन सुनने में बड़ी अच्छी लगती है। चाहते तो सभी हैं भक्त बनना लेकिन कोई-२ इसे प्राप्त कर पाया है। यह ऐसी भक्ति है जिसमें भगवान् के प्रेम

के रास्ते पर चलने में किंचित मात्र भी डगमगाने की गुंजाइश नहीं। हरेक युग में भक्ति मार्ग पर चलने वालों की बहुतायत होती है जबकि पाता कोई-कोई है। भगवान् ने रामायण में कहा है—

**कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥**

—रा० ४/१६-१०

सरद ऋतु में थोड़ी-२ कहीं-२ वर्षा होती है जैसे कोई-२ मेरी भक्ति को प्राप्त करता है। यह भगवान् की भक्ति का स्वरूप है। इन दो सूत्रों में भक्ति के स्वरूप की विवेचना की है। भक्ति अमृतस्वरूपा है क्योंकि वह परमात्मा में प्रतिष्ठित करती है और वह परम प्रेमरूपा है क्योंकि वह रस प्रदान करती है। अमृतस्वरूपा का निर्देश करने का एक और अभिप्राय रहा है। संसार के जितने साधन हैं वे सब मृत हैं और इन साधनों के प्रयोग से तुम अमृतस्वरूप परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकते। मृत से अमृत को कैसे प्राप्त करोगे? इन मृत साधनों में भी ऐसा साधन है जो अमृतस्वरूप है, वह है-प्रेम। उसके द्वारा तुम अमृतस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर सकते हो। अमृत के द्वारा ही तुम अमृत को प्राप्त कर सकते हो। एक महात्मा ने विवेचन करते हुए कहा है कि तुम अन्धकार द्वारा अन्धकार को नहीं प्रकाश से अन्धकार और प्रकाश दोनों देख सकते हो। इसी प्रकार अमृत की उपलब्धि अमृतमय साधनों से ही हो सकती है। अमृत माने जो रसमय है। जीवन में जो रसात्मक भाव है वही जीवन है। यह जीवन तत्त्व ही भक्ति तत्त्व है। जब इस जीवन तत्त्व को मृत के साथ जोड़ देते हैं तो यह मृत हो जाता है। जब इसको अमृत में प्रतिष्ठित करते हैं तो यह अमृत हो जाता है। वह स्वयं में अमृत स्वरूप है इसीलिए भक्ति को अमृतस्वरूपा कहा है। इसे प्राप्त करने के लिए प्रेम ही एकमात्र साधन है। यदि यह भक्ति सध जाए तो क्या होगा? उसके लिए नारद जी कहते हैं—

**यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति॥**

—ना०भ०सू० ४

ये तीन अवस्थायें भगवान् ने गीता के तीसरे अध्याय में भी बताई हैं—

**यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**
**आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥**

—गीता ३/१७

जो अपनी आत्मा में ही रमण करता है, आत्मा में ही तृप्त है और आत्मा में ही संतुष्ट है, उसके लिए कोई कर्तव्य अब शेष नहीं रह गया। आत्मरति माने

परमात्म रति। वेद में परमात्मा की विवेचना में तीन शब्दों का प्रयोग अधिकतर किया गया है—ब्रह्म, आत्मा और पुरुष। कहीं-२ पर इसके विभेद के लिए आत्मा की जगह परमात्मा का प्रयोग हुआ है, पुरुष की जगह पुरुषोत्तम का प्रयोग हुआ है। वेद में पुरुषोत्तम शब्द नहीं है लेकिन गीता में पुरुषोत्तम शब्द का प्रयोग हुआ है। वेद में आत्मा, पुरुष और ब्रह्म, इन तीन शब्दों में उस परम तत्त्व का विवेचन हुआ है। ये तीन शब्द तीन अवस्था के अवबोधक हैं। जब वह निर्गुण निराकार है, सर्वव्यापी है, तब उसकी संज्ञा ब्रह्म है। जब वही विराट् रूप में प्रकट हुआ तब उसकी संज्ञा पुरुष हुई और जब वही व्यष्टि रूप में प्रकट हुआ तो उसकी संज्ञा आत्मा हुई, लेकिन वह अलग नहीं है।

**ॐ पुरुषऽएवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।**

*—पुरुषसूक्त २*

ऐसा वेद में बताया गया है कि जो पहले था, जो है और जो होगा वह सब पुरुष है।

**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।**

*—बृहदारण्यक० २/४-५*

आत्मा ही देखने, सुनने और मनन करने योग्य है।

**विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।**

*—बृहदारण्यक० २/४-१४*

जो सबको जानने वाला है उसको किसके द्वारा जाना जाये? वेद में इस प्रकार के मन्त्र हैं। आत्मा शब्द का प्रयोग शरीरगत चेतन के लिए हुआ है। शरीरगत चेतन ही परमात्मा है ऐसा जिसके द्वारा बोध होता है उसे आत्मविद्या वा अध्यात्मविद्या कहते हैं। गीता में जिसके लिए भगवान् ने बताया 'अध्यात्मविद्या विद्यानां' आत्मा से सम्बन्धित विद्या ही अध्यात्मविद्या है। वही अध्यात्म-ज्ञान ब्रह्म की अभिव्यक्ति है।

**अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।**

*—गीता ८/३*

जो सर्वव्यापी अक्षर अर्थात् चेतन तत्त्व है, वह ब्रह्म है। वही जब शरीर रूप में प्रकट होता है तो उसको अध्यात्म कहते हैं। यहाँ पर जो बताया गया है—

**यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति॥**

जिसको प्राप्त करके व्यक्ति सिद्ध हो जाता है। सिद्ध माने 'संसिद्धिं लभते पराम्' परा सिद्धि की प्राप्ति अर्थात् जिसके बाद कुछ पाने की चाह न रहे, उस अवस्था

का नाम है सिद्धावस्था। गीता में जिसके लिए भगवान् ने कहा है—

**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।**

*—गीता १८/४६*

**मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।**
**यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥**

*—गीता ७/३*

गीता में ऐसे अनेकों जगह उस सिद्धि के प्रति निर्देश हैं। भगवत् प्राप्ति ही उस सिद्धि का स्वरूप है। जिसने उस भक्ति को प्राप्त किया उसने भगवद् प्राप्ति कर ली। भगवत् प्राप्ति के द्वारा वह सिद्ध हो गया, अमृत हो गया और तृप्त हो गया। अमृत माने अब मृत्यु के भय से रहित हो गया है। तृप्त माने अब उसे कुछ पाने के लिए चाह नहीं रही। नारद जी के द्वारा जिस भक्ति के स्वरूप का वर्णन किया गया है, उस भक्ति की महिमा आगे साधन के रूप में और भी समझायेंगे जो आप लोगों को कल बताई जाएगी।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## ३

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! इन सूत्रों में विविध प्रकार के विवेचनों के द्वारा भक्ति के स्वरूप, उसके परिणाम, उसकी साधना और साधक की स्थिति का वर्णन किया गया है। प्रथम सूत्र—'अथातो भक्तिव्याख्यास्यामः', में अब हम भक्ति की व्याख्या करेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा की है, आगे के दो सूत्रों में भक्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा—

**सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥ अमृतस्वरूपा च॥**

—*ना०भ०सू० २,३*

भक्ति परम प्रेमरूपा तथा अमृतस्वरूपा है। किसके प्रति प्रेमरूपा है? भगवान् के प्रति प्रेमरूपा है। हमारे यहाँ शास्त्रों में विश्लेषण किया गया है कि एक ही प्रेम तत्त्व अनेक रूपों में बदल जाता है। यदि आप इस प्रेम तत्त्व का प्रयोग स्त्री के साथ करते हैं तो उसे काम कहते हैं, यदि आप उसका प्रयोग पुत्र के साथ करते हैं तो उसे वात्सल्य कहते हैं। मित्र के साथ प्रयोग होने पर वह प्रीति कहलाता है। यदि आप अपने पिता के प्रति, माता तथा गुरु के प्रति उसका प्रयोग करते हैं तो उसको श्रद्धा कहते हैं। वही तत्त्व भगवान् के साथ जोड़ देने पर भक्ति बन जाता है। वही जब शत्रु के साथ जुड़ जाता है तो उसका नाम वैर होता है। राग और द्वेष एक ही तत्त्व की अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रेम और तत्त्व है, क्रोध और तत्त्व है, द्वेष और तत्त्व है, लोभ और तत्त्व है, काम और तत्त्व है, प्रीति और तत्त्व है, ऐसा नहीं। एक ही प्रेम तत्त्व विभिन्न पदार्थों के साथ सम्बन्धित होकर विभिन्न नामों से कहा गया है और आपके जीवन का सारा प्रयत्न उसी की पूर्ति के लिए हो रहा है। यह तत्त्व जिसके साथ सम्बन्धित हो गया है, उसी की प्राप्ति के लिए आप दिन-रात लगे

हुए हैं। जब आप इसे कीर्ति से सम्बन्धित कर देते हैं तो इसके लिए आप सब कुछ करने को तैयार हो जाते हैं। कभी-कभी तो आप प्राणों की बाजी तक लगा देते हैं लेकिन अपनी कीर्ति को दूषित नहीं होने देते। रामायण में तुलसीदास जी ने कहा है—

**संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥**

—रा० २/९५-७

महाराज दशरथ को राम से प्रिय और कोई नहीं था। राम उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय थे। उन्होंने राम का त्याग कर दिया लेकिन अपनी कीर्ति का त्याग नहीं किया यानी सत्य का त्याग नहीं किया क्योंकि कैकेई ने कहा—

**देन कहेहु अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग अपजसु लेहू॥**

—रा० २/३०-५

तुमने वरदान देने के लिए कहा है यदि अब उसे न दो, सत्य का त्याग कर दो तो दुनिया में अपकीर्ति कमाओगे। राम से कैकेई ने कहा—

**तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहिं दीन्हे। उचित न तासु निरादरु कीन्हे॥**

—रा० २/४३-६

जिस सत्य रूपी पुण्य ने तुम्हारे जैसा पुत्र दिया है, यदि तुम्हारे पिता तुम्हारे मोह में पड़ कर उस सत्य का निरादर कर देते हैं तो यह उचित नहीं है। आगे श्रीराम से कहती हैं—

**सुकृतु सुजसु परलोकु नसाऊ। तुम्हहिं जान बन कहिहि न काऊ॥**

—रा० २/७९-४

'हे राम! उनके पुण्य, कीर्ति और परलोक भले ही नष्ट हो जाएँ लेकिन वे तुम्हें वन जाने के लिए नहीं कहेंगे। अब तुम्हारे पर निर्भर करता है कि तुम क्या चाहते हो। पिता की कीर्ति की रक्षा चाहते हो या नहीं।' राम ने पिता की कीर्ति की रक्षा के लिए पिता के शरीर को मृत्यु के मुँह में जाने से नहीं रोका, चले गए। जब सुमन्त समझाने लगे तो उन्होंने यही उत्तर दिया—

**संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥**

—रा० २/९५-७

यदि मैं सत्य का त्याग करता हूँ, पिता के मोह में आकर लौट जाता हूँ तो कीर्ति का नाश होगा और सत्य से हम दूर हो जाएँगे। यह जो सत्य के लिए, कीर्ति के लिए अपने जीवन तक की बाजी लगा देना है, यह उसी प्रेम का, भाव का, काम

का ही परिणाम है।

कितने रूपों में काम आपको प्रेरित कर रहा है, इसकी कोई सीमा नहीं है लेकिन जिन विशेष रूपों में उसका जो वर्णन शास्त्र में आया है वह है—श्रद्धा, वासना, कर्तव्य, प्रेम, द्वेष, क्रोध, लोभ, तृष्णा, मोह आदि। यदि एक में लग जाए तो उसका एक विशेष नाम होगा और यदि सब में फैल जाए तो उसका नाम मोह हो जाता है। मोह कितने रूपों में प्रकट होता है? तुलसीदास जी ने कहा है कि वह दस रूपों में प्रकट होता है—

**जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥**

*—रा० ५/४८-४*

इतने में ही नहीं, अभी कीर्ति तो रह ही गई। यश को तो इसमें गिना ही नहीं है। मैं आपको समझा रहा था कि एक ही प्रेम तत्त्व, एक ही भाव तत्त्व, एक ही काम तत्त्व अनेक रूपों में बिखर जाता है तथा अनेक नाम धारण कर लेता है। संसार के प्रति प्रयोग करने पर वह मृत रूप होता है क्योंकि उसका विषय नाशवान् है। भगवान् के साथ प्रयुक्त होने पर वह अविनाशी फल देता है क्योंकि भगवान् स्वयं अविनाशी हैं। वह परम प्रेम स्वरूप और अमृत स्वरूप हो जाता है। यदि सही में भगवान् के प्रति वह भक्ति उपलब्ध हो जाए तो—

**यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।**

*—ना०भ०सू० ४*

जिसको प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध हो जाता है। सिद्ध माने यह नहीं कि वह चमत्कार दिखाने लगता है। इस प्रकार की सिद्धि की यहाँ महिमा नहीं है क्योंकि भगवान् का जो अनन्य भक्त है, वह मोक्ष नहीं चाहता। तुलसीदास जी लिखते हैं—

**चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि, बिपुल बड़ाई।**
**हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥**

*—वि०प० १०३/२*

भरत प्रार्थना करते हैं, 'हे प्रभो! हमें मुक्ति, सुमति और धन नहीं चाहिए, रिद्धि-सिद्धि नहीं चाहिए, बल नहीं चाहिए, दुनिया की कीर्ति नहीं चाहिए। बिना किसी स्वार्थ के श्रीराम के चरणों में अनुराग चाहिए जो दिनों दिन बढ़ता रहे।' इस प्रकार के अनन्य चरणानुरागी भक्त रामायण में हैं—महात्मा भरत। उन्हें क्या चाहिए? वे कहते हैं कि दुनिया का कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसकी उन्हें कामना हो—

**अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।**
**जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥**

—रा० २/२०४

"हमें अर्थ नहीं चाहिए, धर्म नहीं चाहिए, काम नहीं चाहिए, मोक्ष नहीं चाहिए। पुनर्जन्म से भी उन्हें भय नहीं है। वे कहते हैं कि मेरा जन्म तो हो परन्तु जब भी हो श्रीराम के चरणों में प्रेम हो।" क्या उन्हें राम का प्रेम चाहिए? नहीं, राम का प्रेम भी उन्हें नहीं चाहिए। उनका प्रेम राम में हो वे चाहे उन्हें प्रेम करें या न करें। यदि वे चाहेंगे कि राम का प्रेम उनमें हो, फिर तो व्यापार हो जाएगा। वे कहते हैं कि—

**जानहुँ रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥**

—रा० २/२०५-१

'राम भले समझें कि मैं बड़ा कुटिल हूँ, दुनिया समझे कि मैंने राम का द्रोह किया है और मैंने गुरु का द्रोह किया है' लेकिन—

**सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥**

—रा० २/२०५-२

"हे त्रिवेणी! हे भगवती! आपकी कृपा से श्री सीता-राम के चरणों में मेरा प्रेम दिन प्रति दिन बढ़ता ही रहे।" इसे एकांगी प्रेम कहते हैं। कैसे बढ़ता रहे? जैसे चातक बादल से स्वाति बूँद की चाह रखता है—

**जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पबि पाहन डारउ॥**
**चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाई॥**

—रा० २/२०५-३,४

उन्होंने कहा "जैसे चातक पक्षी बादलों को देखता है तो वह 'पी कहाँ, पी कहाँ' की गुंजार करने लगता है और उससे एक जल बूँद की याचना करता है। इसके बदले में बादल जल न देकर के—

**गरजि, तरजि, पाषान बरषि पवि, प्रीति परखि जिय जानै।**

—वि०प० ६५/३

वह गर्जता है, तर्जता है, पत्थर बरसाता है, अनेक प्रकार की पीड़ा देता है लेकिन चातक कभी उस बादल के अतिरिक्त दुनिया में रहने वाले जल की तरफ मुँह नहीं करता। तुलसीदास जी ने अपने प्रेम के विषय में चातक को आदर्श माना है। चातक के विषय में उन्होंने लिखा है—

**बध्यो बधिक परयो पुन्य जल उलटि उठाई चोंच।**
**तुलसी चातक प्रेमपट मरतहुँ लगी न खोंच॥**

—दोहावली ३०२

एक बहेलिए ने चातक को मार दिया और चातक गंगाजल में गिर गया। जब वह गिर रहा था तो उसने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि गंगाजल उसके मुँह में पड़ जाए इसलिए मरते-मरते भी वह उस गंगाजल में मुँह ऊपर करके उलट गया। उसका निश्चय था कि यदि पड़ेगा तो स्वाति जल ही उसके मुँह में पड़ेगा, दूसरा जल नहीं इसलिए तुलसीदास जी ने चातक को अपनी भक्ति का आदर्श माना और इसी बात को महात्मा भरत कह रहे हैं—

**चातक रटनि घटें घटि जाई। बढ़े प्रेमु सब भाँति भलाई॥**

*—रा० २/२०५-४*

चातक की रट यदि घट जाएगी तो उसकी महिमा घट जाएगी, उसका प्रेम घट जाएगा लेकिन ऐसा नहीं होता। चातक स्वाति जल के लिए पुकारता ही रहता है। भरत जी कहते हैं कि चातक की तरह ही उनका श्रीराम के चरणों में प्रेम हो। श्रीराम जी हमें प्रेम करें न करें, इससे हमारा कोई मतलब नहीं। इसको कहते हैं अनन्य भक्ति। इस प्रकार की यदि अनन्य भक्ति प्राप्त हो जाए तो उसके विषय में बताया—'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति'। वह सिद्ध हो जाता है, उसे तो मोक्ष भी नहीं चाहिए और दुनिया की सिद्धियों की तो बात ही क्या है? भगवान् के अनन्य चरणानुरागी भक्त बाजीगरी नहीं दिखाते। उन्हें दुनिया के इस नाटक से कुछ लेना-देना नहीं होता। वे अपने भगवान् की भक्ति में मस्त रहते हैं। यहाँ सिद्धि से अभिप्राय चमत्कार दिखाना या मोक्ष प्राप्त करना नहीं है। सिद्धि माने परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण जिसके विषय में गीता में भगवान् ने बताया है कि—

**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।**
**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥**

*—गीता १८/४६*

वह अपने कर्मों से उस प्रभु की समर्चना करके उस प्रभु के प्रेमरूपी अमृतमय सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। यहाँ पर सिद्ध होने के साथ-साथ 'अमृतो भवति' बताया गया है। वह स्वयं अमृतस्वरूप हो जाता है क्योंकि उसकी प्रभु से युक्तता हो गयी है। वहाँ मृत्यु का भय नहीं रहा। 'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति'। अब वह तृप्त हो गया है। अब उसे कुछ नहीं चाहिए।

**जहाँ सांति सतगुरु की दई। तहाँ क्रोध की जर जरि गई॥**
**सकल काम बासना बिलानी। तुलसी बहै सांति सहिदानी॥**

*—वै०सं० ५१*

तुलसीदास जी ने लिखा है कि जहाँ सद्गुरु की कृपा से मनुष्य को शांति मिल गई वहाँ पर उसकी समस्त वासनाएं नष्ट हो जाती हैं। अब कुछ भी प्राप्तव्य उसके लिए नहीं रहा। भगवान् को पा लेने के पश्चात् और क्या पाना रह जाएगा, कुछ नहीं। अब आगे पाँचवे सूत्र में बता रहे हैं—

**यत्प्राप्य न किंञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति,न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति।।**

—ना० भ० सू० ५

ये सब भक्ति के फल हैं। इस भक्ति को पा लेने के बाद और किसी भी बात की आकाँक्षा नहीं रहती। कैसे रहेगी? त्रिलोकी का सारा वैभव तो प्रभु का प्रसाद मात्र है। यदि प्रभु के ही प्रेम की उपलब्धि हो जाए तो त्रिलोकी का वैभव किस गिनती में होगा। महात्मा प्रह्लाद के समक्ष भगवान् प्रकट होते हैं। भगवान् प्रह्लाद से कह रहे हैं, "प्रह्लाद! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम मुझ से कुछ माँग लो।" प्रह्लाद ने उत्तर दिया, "हमें और कुछ नहीं चाहिए—स्वर्ग का राज्य नहीं चाहिए, भूतल का राज्य नहीं चाहिए, किसी प्रकार की रिद्धि-सिद्धि नहीं चाहिए, कोई ऐसा प्राप्तव्य नहीं है जो हमें चाहिए, केवल एक चीज़ चाहिए कि दुनिया में जितने दुःखी प्राणी हैं, उन दुःखी प्राणियों के दुःख उसे मिल जाएं और उन्हें आनन्द प्रदान कर दिया जाये।" भगवान् ने कहा, प्रह्लाद! यह नहीं हो सकता, क्योंकि हरेक प्राणी अपने कर्मानुसार उसका परिणाम भोगता है इसलिए और कोई दूसरा वरदान माँग लो। प्रह्लाद कहता है, 'और तो कुछ माँगने को है ही नहीं।' भगवान् कहते हैं, "यदि तुम वरदान नहीं माँगते तो मुझे सन्तुष्टि नहीं होगी। मेरी प्रसन्नता के लिए तुम मेरे से वरदान माँग लो।" "प्रह्लाद कहता है, प्रभो! यदि आपको बिना कुछ दिए संतोष नहीं हो रहा है तो आप मुझे एक दूसरा वरदान दे दीजिए कि मैं जिन्दगी में आपसे कभी कुछ न माँगू।" आप सोचिए ऐसे भक्त के लिए यदि भगवान् को खम्भा फाड़ कर अवतार लेना पड़े तो इसमें कौन से आश्चर्य की बात है? यही बात रामायण में तुलसीदास जी ने लिखी है कि दुनिया में दो प्रकार के भक्त होते हैं—एक वे जिन्हें भगवान् चाहते हैं और दूसरे वे जो भगवान् को चाहते हैं। जिनको भगवान् चाहते हैं वे कौन से भक्त हैं? भगवान् स्वयं श्रीमुख से विभीषण को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

**जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।।**
**सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी।।**

—रा० ५/४८-४,५

जो ऐसे भक्त हैं वे माता, पिता, बन्धु, स्त्री, पुत्र, शरीर, धन, वैभव, कीर्ति और

प्रियजन, इन सबसे ममता रूपी तागों को खींच करके, इकट्ठा कर उसको वट करके रस्सी बना लें और उससे भगवान् के चरणों में अपने मन रूपी हाथी को बाँध दें यानी सारी ममता को मेरे चरणों में लगा दें—

**समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥**

—रा० ५/४८-६

वह सब में समदर्शी हो, किसी प्रकार की इच्छा न हो। उसके मन में मिलने का हर्ष न हो, जाने का शोक न हो और किसी का भय न हो—

**अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥**

—रा ५/४८-७

प्रभु कहते हैं कि ऐसा सज्जन मेरे हृदय में इस प्रकार बसता है जैसे लोभी के हृदय में धन बसता है। जैसे लोभी धन को चाहता है ऐसे ही मैं उसको चाहता हूँ। तुलसीदास जी कहते हैं, कुछ ऐसे भक्त हैं जो भगवान् को चाहते हैं, वे भगवान् से प्रार्थना करते हैं—

**कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।**
**तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥**

—रा० ७/१३०

"हे प्रभो! जैसे कामी को स्त्री प्रिय लगती है ऐसे ही आप मुझे प्रिय लगें।" परन्तु यह तो उपमा कमजोर है क्योंकि यदि युवावस्था चली जाए तो काम विकार कहाँ रहेगा? वृद्धावस्था में कहाँ कामिनी प्यारी लगेगी? माँग ऐसी करनी चाहिए जो मरते-मरते तक लगी रहे। वह है—लोभिहि प्रिय जिमि दाम। लोभी आदमी मरते-२ पैसे पर ध्यान रखता है। लोभी को दाम कैसे प्रिय लगता है? तुलसीदास जी लिखते हैं—

**ममता! तू न गई मेरे मन ते।**
**पाके केस जनम के साथी, ज्योति गई नयनन ते।**
**तन थाके कर कंपन लागे, लाज गई लोकन ते॥**
**श्रवन बचन न सुनत काहूके बल गये सब इन्द्रिण ते।**
**टूटे दसन बचन नाहिं आवत सोभा गई मुखन ते॥**
**कफ पित वात कंठ पर बैठियो सुतहिं बुलावत करते।**
**भाई-बन्धु सब परम पियारे नारि निकारत घरते॥**
**जैसे ससि-मंडल बिच स्याही छुटै न कोटि जतनते।**
**तुलसीदास बलि जाउँ सदा तिमि लोभ पराये धनते॥**

यह सब कुछ हो गया। सभी जन्म के साथी, जिन्हें साथ लेकर आए थे, वे सभी साथ छोड़ गए। इन सबके साथ छोड़ने पर भी जैसे चन्द्रमा में जो श्यामता दिखाई दे रही है, वह किसी प्रकार से धोने से नहीं छूटती उसी प्रकार से मरते-मरते भी लोभी के हृदय से पराये धन का लोभ नहीं जाता। वह कहता है कि अभी कुछ दिन और जी जाते तो कुछ और कमा कर रख जाते। भगवान् को चाहने वाले भी भगवान् को इसी प्रकार से चाहते हैं। विनय पत्रिका में तुलसीदास जी ने कहा है—

**मन! माधवको नेकु निहारहि।**
**सुनु सठ, सदा रंक के धन ज्यों, छिन-२ प्रभुहिं सँभारहि॥**

*वि०प० ८५/१*

"हे मेरे मन! तू प्रभु श्री राघव को बार-बार देखता रह। जैसे गरीब आदमी को पैसा मिल जाए तो वह रास्ते जाते समय दस बार जेब में देखता है कि कहीं गिर तो नहीं गया। तुलसीदास जी कहते हैं कि जैसे दरिद्र आदमी मिले हुए धन को सम्भालता है ऐसे तुम प्रभु को सम्भालते रहो।" इस प्रकार की अनन्य भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा—

**यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति।** —*ना०भ०सू० ५*

इस भक्ति को पाकर फिर और कोई वासना नहीं रह जाती, कामना नहीं रह जाती। यही बात वेद में बतायी गई है—

**यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।**
**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥**

*—ईशा० ७*

जिस अवस्था में अपनी आत्मा ही सर्वरूप में प्रकट है, ऐसा अनुभव होने लगे अर्थात् भगवत् स्वरूप ही सर्वत्र दिखाई देने लगे, वहाँ किसमें मोह होगा, किसके लिए शोक होगा? शोक तो उसके लिए किया जाए जो आज है कल नहीं होगा। जब सर्वत्र रूप में प्रभु के ही दर्शन हो रहे हैं तो किसके लिए सोचा जाए? अब कुछ कामना करने के लिए नहीं रही। प्रतिपल प्रभु का निरन्तर ध्यान बना हुआ है।

**यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि।**

अब किसी से द्वेष नहीं रहा। द्वेष क्यों नहीं रहा? इसके लिए रामायण में बड़ी सुन्दर कथा है। उत्तरकाण्ड में भुशुण्डि जी अपने जीवन की कथा सुना रहे हैं। गरुड़ जी ने उनसे पूछा कि भगवन्! आप इतने बड़े योगी, तत्त्वद्रष्टा, भगवान् के

अनन्य भक्त हैं, फिर—

**कारन कवन देह यह पाई। तात सकल मोहि कहहु बुझाई॥**

—रा० ७/९४-२

कौए का शरीर किस प्रकार मिल गया? मुझे आप समझाकर इसका कारण कह दीजिए। यही पार्वती जी ने पूछ लिया—

**नाथ कहहु केहि कारन पायउ काक सरीर॥**

—रा० ७/५४

'हे प्रभु! भुशुण्डि जी क्यों काक शरीर पा लिए?' वे कथा सुनाने लगे। भगवान् ने स्वयं पार्वती को और भुशुण्डि जी ने स्वयं अपने शिष्य गरुड़ को कथा सुनाई। भुशुण्डि जी ने कहा कि अपने प्रथम जन्म में मैं अयोध्या में पैदा हुआ—

**जन्मत भयउँ सूद्र तनु पाई॥**

—रा० ७/९७-१

अयोध्या में जाकर मैं शूद्र परिवार में पैदा हुआ। अन्यत्र लिखा हुआ है कि तेली परिवार में उनका जन्म हुआ। वहाँ जब कुछ दिनों बाद दरिद्रता आ गई तो छोड़ कर उज्जैन चले गए। वहाँ एक विप्र थे जो कि वैदिक थे। वे भगवान् शंकर के अनन्य भक्त थे। वे महाकालेश्वर की आराधना किया करते थे।

**तेहि सेवउँ मैं कपट समेता।**

—रा० ७/१०५-५

स्वार्थी बुद्धि थी। कुछ पाने के लिए ब्राह्मण की सेवा करने लगे तो—

**संभु मंत्र मोहि द्विजबर दीन्हा।**

—रा० ७/१०५-७

'जब मैं स्वार्थ पूर्ण उनकी सेवा करने लगा तो उन्हें दया आ गई और उन्होंने मुझे शिव मन्त्र दे दिया। मुझे भगवान् शंकर की उपासना में लगा दिया। शंकर की भक्ति करते-२ मेरी शंकर में इतनी निष्ठा हो गई कि मैं वैष्णवों से द्रोह करने लगा। मैं शिव भक्त से प्यार करता और वैष्णवों से द्वेष करता। जब गुरुदेव ने देखा कि मेरे हृदय में बहुत बड़ा अहंकार और दोष पैदा हो गया है तो एक बार मुझे बुलाकर समझाना शुरु किया और कहा—

**रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पावँर कै केतिक बाता॥**

—रा० ७/१०६-३

अरे! तुम वैष्णवों से द्रोह करते हो। भगवान् शंकर स्वयं राम की भक्ति करते हैं। ब्राह्मण ने मुझे अनेकों प्रकार से समझाया लेकिन मूढ़ बुद्धि होने के कारण बात

मेरी समझ में नहीं आई।

**अधम जाति मैं बिद्या पाएँ। भयउँ जथा अहि दूध पिआएँ॥**

—रा० ७/१०६-६

एक तो नीच जाति में मेरा जन्म हुआ दूसरा ब्राह्मण की मैंने सेवा की। उसने मुझे विद्वान् बना दिया। अब मैं नीच जाति का विद्या पा गया, ऐसा हुआ जैसे साँप को कोई दूध पिला दे। वही गति मेरी हुई। नीच कुल में पैदा होकर विद्या प्राप्त कर लेने पर मैं अहंकार से फूल गया। फिर मैंने गुरु से ही द्रोह करना शुरु कर दिया। एक दिन जब मैं शंकर के मन्दिर में शिव मन्त्र का जाप कर रहा था तो गुरुदेव आ गये—

**गुरु आयउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम।**

—रा० ७/१०६

मैंने अभिमानवश उठकर उन्हें प्रणाम नहीं किया। मैं उनका वैरी बन गया क्योंकि उन्होंने राम को शिव का आराध्य कह कर हमारे शिव को छोटा कर दिया। मैं इन्हें प्रणाम करूँगा?—

**हर कहूँ हरि सेवक गुर कहेऊ। सुनि खगनाथ हृदय मम दहेऊ॥**

—रा० ७/१०६/३

जिस समय उन्होंने कहा कि भगवान् शंकर तो विष्णु के सेवक हैं, इतना सुनते ही मेरा हृदय जल गया—

**गुर कर द्रोह करउँ दिनु राती।**

—रा० ७/१०६/७

गुरु का ही शत्रु हो गया, इसलिए शिव मन्दिर में जब गुरु आए तो मैंने प्रणाम नहीं किया।

**सो दयाल नहिं कहेउ कछु उर न रोष लवलेस।**

—रा० ७/१०६

गुरु को बुरा नहीं लगा, उन्होंने कुछ नहीं कहा लेकिन गुरु का अपमान अत्यन्त अघ है पाप नहीं। पाप और अघ में अन्तर होता है। पाप का प्रायश्चित होता है लेकिन अघ का कोई प्रायश्चित नहीं होता। गुरु द्रोह अघ है। जिस शंकर जी के प्रति अनुराग होने के नाते गुरु का द्रोह किया वो शंकर स्वयं भी गुरु अपमान नहीं सह सके और—

**मन्दिर माझ भई नभ बानी। रे हत भाग्य अग्य अभिमानी॥**

रा० ७/१०७-१

मन्दिर में उसी समय आकाशवाणी हुई—अरे हतभाग्य! अरे अज्ञानी! अरे अभिमानी!

**जद्यपि तव गुर कें नहिं क्रोधा। अति कृपाल चित सम्यक बोधा॥**

यद्यपि तुम्हारे गुरु को कोई क्रोध नहीं आया, वो तो अत्यन्त कृपालु हैं। इस विषय में भगवद् गीता में एक बात कही गई है। अर्जुन जब भगवान् से प्रार्थना करता है तो कहता है—

**त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।**

*—गीता ११/४३*

आप ही विश्व के गुरु हो और पूज्य हो। यहाँ पर तीन बातें कहता है कि जैसे पिता पुत्र के अपराध को, पति पत्नी के अपराध को तथा मित्र मित्र के अपराध को क्षमा कर देता है, प्रभो! ऐसे ही आप भी मेरे अपराध को क्षमा कर दें।

**पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।**

*—गीता ११/४४*

गुरु का स्वाभाविक धर्म है कि वह शिष्य के अपराध को विशेष महत्त्व न दे। भगवान् शंकर कहते हैं—

**जद्यपि तव गुर के नहिं क्रोधा। अति कृपाल चित सम्यक बोधा॥**
**तदपि साप सठ दैहउँ तोही।**

*—रा० ७१/१०७-२,३*

गुरु ने तो श्राप नहीं दिया लेकिन मैं तुम्हें श्राप देता हूँ। क्यों?

**जौं नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥**

*—रा० ७/१०७-४*

यदि मैं तुम्हें दण्ड नहीं देता फिर तो वेद मार्ग ही भ्रष्ट हो जाएगा। यदि दण्ड न मिले तो प्रत्येक व्यक्ति उठकर गुरु का अपमान करने लगेगा। अपराध का दण्ड तो मैं अवश्य दूँगा। तू मेरा भक्त है तो क्या, तूने गुरु का अपमान किया है—

**बैठ रहेसि अजगर इव पापी। सर्प होहि खल मल मति ब्यापी॥**
**महा बिटप कोटर महुँ जाई। रहु अधमाधम अधगति पाई॥**

*—रा० ७/१०७,७,८*

गुरु आए और तू अजगर के समान बैठा रहा, उठा नहीं, प्रणाम नहीं किया। तू जाकर एक कोटर में अजगर हो जा और अधोगति को प्राप्त हो जा। इतना ही नहीं—

**जे सठ गुरु सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं॥**
**त्रिजग जोनि पुनि धरहिं सरीरा। अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा॥**

*—रा० ७/१०७-५,६*

जो गुरु से द्वेष करते हैं, वे एक जन्म नहीं कोटि काल तक नरक में रहते हैं, फिर एक हज़ार जन्मों तक तिर्यक योनि में रहते हैं अर्थात् कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदि योनि में एक हज़ार जन्म तक भटकते हैं, तब जाकर कहीं उनका उद्धार होता है। तुम्हारी भी यही गति होगी।

**हाहाकार कीन्ह गुर दारुन सुनि सिव साप।**
**कंपित मोहि बिलोकि अति उर उपजा परिताप॥**

—रा० ७/१०७

मैं तो शंकर जी की वाणी सुनकर काँपने लगा। गुरु ने भगवान् की वाणी सुनकर कहा "हा! हा! यह क्या किया, प्रभो?" अब गुरुदेव ने भगवान् शंकर से प्रार्थना की—

**नमामीशमीशान निर्वाणरूपं। विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपं॥**

* * * * * * *

**जरा जन्म दुःखौघ तातप्यमानं। प्रभो पाहि आपन्नमामीश शंभो॥**

प्रार्थना से जब भगवान् संतुष्ट हो गए तो उन्होंने वरदान दिया—

**जदपि कीन्ह एहिं दारुन पापा। मैं पुनि दीन्हि कोप करि सापा॥**
**तदपि तुम्हारि साधुता देखी। करिहउँ एहि पर कृपा बिसेषी॥**

—रा० ७/१०९-३,४

गुरु ने प्रार्थना की, "प्रभो! आप इसके पाप को क्षमा कर दें।" भगवान् ने कहा कि तुम्हारी दयालुता देखकर मैं इसे क्षमा करता हूँ।

**छमासील जे पर उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी॥**

—रा० ७/१०९-५

जो क्षमाशील परोपकारी ब्राह्मण हैं, वो मुझे भगवान् विष्णु के समान प्यारे हैं, इसलिए मैं क्षमा करता हूँ। हज़ार योनियां तो तुम पाओगे परन्तु यह जन्मना-मरना तुम्हारी इच्छा पर निर्भर हो जाएगा। भुशुण्डि जी ने कहा कि भगवान् शंकर के श्राप से मैं अजगर हुआ लेकिन अपनी इच्छा से वह शरीर छोड़ दिया। फिर हज़ारों योनियों में मैं जन्म लेने मात्र के लिए पैदा होता रहा और शरीर छोड़ता रहा। बाद में—

**चरम देह द्विज कै मैं पाई। सुर दुर्लभ पुरान श्रुति गाई॥**

—रा० ७/११०-३

आखिर में ब्राह्मण शरीर मिला जो देवताओं को भी दुर्लभ है। ब्राह्मण शरीर मिलने पर शंकर की कृपा से और गुरु कृपा से जो मेरे में भगवान् राम के प्रति भक्ति जागृत हो गई थी उसकी मैं तलाश करने लगा। मेरे पिता मुझे बहुत पढ़ाना चाहते

थे लेकिन मैं पढ़ा नहीं। मेरा मन भगवान् में अनुरक्त हो गया और भक्ति की तलाश में मैं निकल पड़ा। अनेक स्थानों पर जा-जाकर ऋषियों के पास पूछता था लेकिन संतोष नहीं हुआ, फिर मैं लोमश ऋषि के पास गया। लोमश ऋषि से मैंने भगवान् के चरित्र के विषय में प्रश्न किया तो उन्होंने देखा कि मैं ब्राह्मण हूँ, विरक्त हूँ।

**ब्रह्मग्यान रत मुनि बिग्यानी। मोहि परम अधिकारी जानी॥**
**लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥**

*—रा० ७/११०-२,३*

हृदय में जो परमात्मा विराजमान है निर्गुण, निराकार, निरीह, निरंजन उसका उपदेश देने लगे। परिणाम यह हुआ कि मुनि का उपदेश मेरे हृदय को भाया नहीं क्योंकि मुझे तो सगुन उपासना प्रिय थी। मुनि की उपेक्षा की तो मुनि ने भी श्राप दे दिया।

**उत्तर प्रतिउत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भए क्रोध के चीन्हा॥**

*—रा० ७/१११-१४*

जब मैं बार-२ प्रतिउत्तर करने लगा तो उन्हें क्रोध आ गया और उन्होंने मुझे श्राप दे दिया—

**सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला॥**

पहले हज़ार योनियाँ भोगने के बाद मनुष्य शरीर मिला था। मनुष्य शरीर में पुनः उत्तर प्रतिउत्तर करने से श्राप मिल गया कि तू कौआ हो जा। गरुड़ ने कहा कि मुनि ने बहुत गलती की। भुशुण्डि जी कहते हैं कि—

**सुनु खगेस नहिं कुछ रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन॥**

*—रा० ७/११३-१*

मुनि का कोई दोष नहीं क्योंकि रघुवंश विभूषण ही तो सभी को हृदय में बैठकर प्रेरणा दे रहे हैं। जैसी उन्होंने प्रेरणा दी वैसा मुनि ने कर दिया। गरुड़ ने कहा— फिर तो आपके राम बड़े निर्दयी हैं, हज़ार योनियों में भटकने पर मनुष्य शरीर मिला था, वो भी उन्होंने तुरन्त श्राप दिलाकर कौए के शरीर में बदल दिया? भुशुण्डि जी ने कहा—

**कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी॥**

*—रा० ७/११३-२*

प्रभु हमारे कृपासिन्धु हैं। वहाँ तो कठोरता के लिए स्थान ही नहीं है। केवल मुनि के माध्यम से उन्होंने मेरे प्रेम की परीक्षा ली। मैं श्राप बस काग हो गया तो—

**लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥**

रा० ७/११२-१६

**रिषि मम महत सीलता देखी। राम चरन बिस्वास बिसेषी॥**

—रा० ७/११३-४

न मुझे भय हुआ न कोई दीनता ही आई। काग हो गया तो क्या हुआ, भगवान् की भक्ति तो है। जब मुनि ने देखा कि मेरा तो अनन्य प्रेम प्रभु में है तो—

**अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई॥**
**मम परितोष बिबिधि बिधि कीन्हा। हरषित राममंत्र तब दीन्हा॥**

—रा० ७/११३-५,६

तुरन्त मुनि ने मुझे बुला लिया और हर्षित होकर मुझे राम मन्त्र दे दिया। कहने का भाव-जो मेरा प्राप्तव्य था वह मैंने पा लिया। तुलसीदास जी कहते हैं कि भगवान् शंकर यह कथा पार्वती को सुना रहे थे। पार्वती को यह सुनकर बड़ी हैरानी हुई कि भुशुण्डि जी को लोमश ऋषि ने श्राप दे दिया? भुशुण्डि जी यदि चाहते तो वो भी लोमश ऋषि को श्राप दे सकते थे क्योंकि वे ब्राह्मण कुमार थे। उन्होंने क्यों श्राप नहीं दिया? शंकर जी ने कहा कि—'हे उमा! जो प्रभु के अनन्य चरणानुरागी हैं, उनमें कामना नहीं होती, क्रोध नहीं होता, मद नहीं होता क्योंकि वे जगत् को प्रभु के प्रकट रूप में देखते हैं। वे किससे द्वेष करें, किसको श्राप दें? इसीको महात्मा नारद ने कहा है कि—

**यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति॥**

—ना०भ०सू० ५

न तो उनको किसी में राग होता है न ही संसार की किसी वस्तु के मिल जाने पर उन्हें कोई उत्साह ही होता है। वे संसार में नहीं अपने प्रभु में रमण करते हैं। वे राग-द्वेष आदि दुर्गुणों से मुक्त हो जाते हैं क्योंकि वे परमात्मा की अनन्य भक्ति को प्राप्त किये होते हैं। अगला सूत्र भी फल के स्वरूप का विवेचक है—

**यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति॥**

—ना०भ०सू० ६

जिसको जानकर मनुष्य मतवाला हो जाता है, उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है और आत्मा में ही रमण करने वाला परम शान्त हो जाता है, इसकी व्याख्या कल सुनायेंगे।

**हरि ॐ तत्सत्**

## ४

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना। कल मैं आप लोगों को बता रहा था कि उस परम प्रेम रूपा भक्ति को प्राप्त करके मनुष्य मतवाला हो जाता है। कैसे मतवाला हो जाता है? जैसे व्रज की गोपिकाएँ तथा अन्य भक्तजन, जिनके जीवन की कहानी सुनकर आदमी आश्चर्यचकित रह जाता है। मीरा ऐसी देवी हुई है, जो एक राजा के यहाँ पैदा हुई, एक राजा के यहाँ ब्याह कर गई, भगवान् की भक्ति में इतनी मतवाली हो गई कि राज घराने के समस्त बन्धनों को तोड़ करके उन्मत्त हो वृन्दावन की गलियों में घूमती रही। उसके जीवन में किञ्चित मात्र भी संकोच के लिए स्थान नहीं रहा। उसकी उस उन्मत्तता का ही परिणाम रहा कि वह विष का प्याला भी पी गई लेकिन उसने सी तक नहीं किया। वह अपने गिरिधर गोपाल के प्रेम में इतनी निमग्न रहती थी कि उसे उसके सिवा कुछ सूझता नहीं था। एक कवि ने लिखा है—

**तनमय होके काली पुतली के तले में बैठि,**
**अखिल अखिलेश ललाम देख लेती थी।**
**द्वितीया के चन्द सा अमा का आवरण चीर,**
**अद्वितीया का द्वितिधाम देख लेती थी।**
**राई में सुमेरू का विराम जानती थी वह,**
**रोम-रोम में रमा का राम देख लेती थी।**
**पय न जाने मीरा कौन सा ममीरा थी लगाए हुए,**
**आँख मूँद कर भी घनश्याम देख लेती थी।**

वह अपने गिरिधर गोपाल के प्रेम में इतनी उन्मत्त थी कि उसके लिए दुनिया का

वैभव, दुनिया का अधिकार, दुनिया की पद-प्रतिष्ठा कुछ भी अर्थ नहीं रखता था। जब उसके सामने यह प्रश्न आया कि या तो तुम अपनी भक्ति छोड़ो या राजमहल, उसने राजमहल छोड़ने में ज़रा भी विलम्ब नहीं किया। यह भगवान् के प्रेम को प्राप्त हुए भक्तों की कहानी है। बड़े-२ साम्राज्य का त्याग करके लोगों ने भगवान् की भक्ति का आनन्द लिया है। दुनिया के वैभव तथा सुख-सुविधा का तो उनके जीवन में कोई अस्तित्व ही नहीं था।

राम प्रेम मे विह्वल हुए हनुमान प्रभु के चरणों में लिपटे हुए हैं। प्रभु कहते हैं—हनुमान! मैं तुम्हें क्या कहूँ, मैं तो तुम्हारे ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकता। तुम कुछ मांग लो जो तुम्हें प्रिय हो। हनुमान जी ने कहा—

**नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥**

—रा० ५/३४-१

आप मुझे अनपायनी भक्ति दीजिए। अनपायनी भक्ति माने अविचल भक्ति, जिस भक्ति के पाँव न हो अर्थात् दृढ़ भक्ति। भगवान् शंकर उमा से कह रहे हैं—

**उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥**

—रा० ५/३४-३

"हे उमा! राम का स्वभाव जिसने जान लिया है, उसे भक्ति के सिवा और कुछ अच्छा ही नहीं लगता।"भगवत् प्रेम के सिवा और क्या निधि हो सकती है, जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य प्रयत्न करे। यह भगवान् की भक्ति की ही महत्ता है—

**यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति॥**

—ना०भ०सू० ६

"उसे जान करके मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, अचल हो जाता है तथा आत्मा में ही रमण करने लगता है।" शुकदेव की कथा है—शुकदेव जी वेदव्यास के पुत्र थे। वे भगवद् भक्ति में इतने निमग्न रहते थे कि उनको अपने शरीर का भान नहीं रहता था। एक बार वे रास्ते में चले जा रहे थे। वेदव्यास जी उन के पीछे-पीछे जा रहे थे। एक तालाब में कुछ स्त्रियाँ नग्न होकर स्नान कर रही थीं। शुकदेव जी चले गए। स्त्रियों ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया, स्नान करती रहीं, क्रीड़ा करती रहीं और एक-दूसरे पर जल फेंकती रहीं। थोड़ी देर बाद जब उन्होंने व्यासदेव को आते देखा तो शर्म के मारे वस्त्र उठाकर अपने अंग ढक लिए। जब व्यासदेव ने यह देखा तो वे खड़े हो गए और उन स्त्रियों से कहा—देवियो! तुम

लोगों की बुद्धि भ्रष्ट है। हमारा युवा पुत्र इसी रास्ते से आगे गया है, तुम लोगों ने शरीर को वस्त्र से नहीं ढका और मैं वृद्ध आदमी अब जा रहा हूँ तो तुम लोग अपने शरीर को ढक रही हो, क्या बात है? उन देवियों ने कहा—व्यासदेव! आपको यह भ्रम है। आपके पुत्र को यह पता नहीं है कि स्त्री क्या है और पुरुष क्या है, वह इस समय भगवद् प्रेम में निमग्न है, उसकी दृष्टि संसार में नहीं है। हम नंगी हैं या वस्त्र पहने हैं, इससे उसका कोई मतलब नहीं है इसलिए उसके लिए वस्त्र पहनना या न पहनना कोई अर्थ नहीं रखता, लेकिन आपकी दृष्टि संसार में है। आप हमें नग्न देखते हो और वस्त्र पहना देखते हो इसलिए आपसे हमें शर्म आ रही है। इस उत्तर को सुनकर व्यासदेव स्वयं लज्जित हो गए।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि जो भगवान् के प्रेम में उन्मत्त हैं उनको दुनिया का कोई भी वैभव अपनी तरफ आकर्षित नहीं करता। तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में महात्मा भरत के लिए लिखा है—

**रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत वमन जिमि जन बड़भागी॥**

—रा० २/३२४-४

"जो बड़भागीजन हैं अर्थात् जो भगवान् के अनन्य भक्त हैं, वे लक्ष्मी के वैभव को, दुनिया के ऐश्वर्य को ऐसे त्याग देते हैं जैसे कैय करके आदमी उसकी तरफ नहीं देखते क्योंकि उन्हें भगवान् के प्रेम के सिवा और कुछ नहीं चाहिए।" महात्मा भरत अयोध्या के साम्राज्य को एक सैकिण्ड में लात मारकर चल दिए क्योंकि उनका हृदय भगवान् श्रीराम के चरणों में लगा हुआ था। तुलसीदास जी ने लिखा है—

**प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥**
**राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥**

—रा० १/१७-२

"जिसका मन रूपी भ्रमर हमेशा राम के चरण रूपी कमल में ही निमग्न रहता है, उसको कभी छोड़ता ही नहीं, ऐसे भरत के चरणों की मैं वन्दना करता हूँ।" भरत के मन को उन्होंने मधुप बताया और भगवान् के चरणों को कमल। जैसे भ्रमर कमल को छोड़कर जाना नहीं चाहता इसी रूप से भगवान् के मंगलमय चरणों को भरत का मन छोड़ना नहीं चाहता। जिसका मन भगवान् के चरण-कमलों में मधुपवत् रत्त हो गया है, उसके रसास्वादन में निमग्न रहता है, उसके लिए दुनिया का वैभव क्या अर्थ रखता है। इसलिए कहा है—

**यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति।**

स्तब्धो भवति माने अचल हो जाता है। उसके जीवन में क्रियाकलाप नहीं रहता, फिर वह सभी क्रियाओं से उपरत हो जाता है। भगवान् के चरणों में अनुरक्त रहने वाले जो लोग हैं, वे स्तब्ध रहते हैं। हमारे यहाँ शास्त्रों में उनकी स्थिति बताई गई है कि वे गूंगे के समान मौन और जड़ के समान स्तब्ध रहते हैं और काष्ठवत् उनका शरीर हो जाता है। चेतना जब शरीरस्थ हो तभी तो वे देखें कि दुनिया में क्या हो रहा है। उसके लिए तो उनका प्राण भी चला जाए तो भी उसे कोई चिंता नहीं। भगवत् प्रेम के सिवा उन्हें कुछ सूझता ही नहीं। महात्मा सुन्दर ने भगवान् के भक्तों की उसी अवस्था का वर्णन किया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी विनय पत्रिका में लिखा है कि भगवान् की भक्ति जो पा गए हैं, उनके समान दुनिया में कोई नहीं है। रामायण में तो ऐसे अनेकों भक्तों का जीवन है, जैसे सुतीक्ष्ण के विषय में आया है कि वह—

**मन क्रम वचन राम पद सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक॥**

—रा० ३/१०-१

जब उसको पता चला कि भगवान् आ रहे हैं तो भगवान् के प्रेम में निमग्न होकर के—

**कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करई गुन गाई॥**

—रा० ३/१०-६

कभी आगे जाते हैं, कभी पीछे लौट आते हैं और कभी भगवान् के स्वरूप को याद करके नाचने लगते हैं। वहाँ पर बताया गया है—

**अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥**

—रा० ३/१०-७

वह विरक्त ज्ञानी मुनि भगवान् की अविरल भक्ति में निमग्न हो गया है, उसकी दशा का वर्णन नहीं किया जा सकता। वह रोमांचित हो गया है, नेत्रों से अश्रुधारा बह रही है। वाणी गदगद हो रही है, बोला नहीं जा रहा है, चित्त द्रवित हो रहा है। प्रभु का नाम लेते ही भक्त की गति बदल जाती है। तुलसीदास जी ने अपनी दोहावली रामायण में लिखा है कि जो भगवान् के ऐसे अनन्य चरणानुरागी भक्त हैं, उनके चित्त में भगवान् की स्मृति के साथ ही अखण्ड रस का प्रवाह बहने लगता है। भरत की स्थिति का वर्णन करते हुए तुलसीदास जी लिखते हैं—

**जबहिं रामु कहि लेहिं उसासा। उमगत पेमु मनहुँ चहु पासा॥**

—रा० २/२२०-३

''जब वे राम कहकर उच्छवास लेते हैं तो ऐसा लगता है मानो उनके शरीर रूपी समुद्र से प्रेम रूपी लहरें निकल कर दुनिया को आप्लावित कर रही हैं।'' यह प्रेम की अवस्था है। प्रेम की उच्चतम अवस्था में भक्त की ऐसी ही स्थिति होती है। जो ऐसे भक्तों को देखने वाले हैं, जो ऐसे भक्तों का संग करने वाले हैं, वे भी धन्य हो जाते हैं इसलिए कहा है—

**यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति॥**

'आत्मारामो भवति' माने वह आत्मा में ही रमण करने लगता है। शाण्डिल्य ऋषि ने भक्ति का स्वरूप बताते हुए कहा—

**आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः॥**

*—ना०भ०सू० १८*

''आत्मा की रति में अविरोधी जो तत्त्व है, वही भक्ति है।'' स्वामी रामकृष्ण पहले काली की आराधना किया करते थे। उसके लिए फूल तोड़कर ले आते थे, माला बनाते थे और काली को पहनाते थे। कुछ दिन बाद ऐसी स्थिति आ गई कि फूल तोड़कर ले आते, माला बनाते, काली को पहनाने के स्थान पर अपने आपको ही पहना लेते थे क्योंकि काली अब मूर्ति में नहीं थी, उनके हृदय में आ गई थी। बाद में ऐसी स्थिति आ गई कि जब वे फूल तोड़ने जाते तो फूल तोड़ते ही नहीं, उन्हें लगता कि ये काली पर चढ़े हुए हैं। उन्होंने फूल तोड़ना ही बंद कर दिया, माला बनाना ही बंद कर दिया। पहले काली मूर्ति में दिखाई देती थी, फिर काली सर्वत्र दिखाई देने लगी, यह अवस्था है भक्त की। जैसे-२ उसका अनुराग बढ़ता है, जैसे-२ उसके भाव की वृद्धि होती है, वैसे-२ वह अपने इष्ट को सर्वत्र देखता हुआ निमग्न हो जाता है। यही हाल व्रज की गोपिकाओं का है। उनकी दशा का वर्णन करते हुए सूरदास जी ने लिखा है। गोपिका कहती है—

**जित देखों तित श्याममई है।**
**स्याम कुंज बन जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है॥**
**सब रंगन में श्याम भरो हैं, लोग कहत यह बात नई है॥**
**मैं बोरी, की लोगन ही की, स्याम पुतरिया बदल गई है॥**
**चंद्रसार रबिसार स्याम है, मृगमद स्याम काम बिजई है॥**
**नीलकंठ को कंठ स्याम है, मनो स्यामता बेल बई है॥**
**श्रुति को अच्छर स्याम देखियत, दीपसिखा पर स्याममई है॥**
**नर देवन की कौन कथा है, अलख ब्रह्म छबि स्याममई है॥**

*—सूरसागर*

गोपिकाओं को सर्वत्र श्याम दिखाई दे रहे हैं। जब उद्धव उनको ब्रह्मज्ञान की बात समझाते हैं तो वे कहती हैं—

**स्याम तन स्याम मन स्याम है हमारो धन,**
**आठो जाम ऊधौ हमें स्याम ही सो काम है।**
**स्याम हिये स्याम जिये स्याम बिनु नाहि तिये,**
**आंधे की सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥**
**स्याम गति स्याम मति स्याम ही है प्रानपति,**
**स्याम सुखदाईसों भलाई सोभाधाम है।**
**ऊधौ तुम भए बौरे पाती लैके आए दौरे,**
**जोग कहाँ राखौं यहाँ रोम-रोम स्याम है॥**

*—उद्धोशतक*

श्याम के सिवा कुछ रहा ही नहीं इसलिए वहाँ किसी भी प्रकार की क्रिया के लिए स्थान नहीं है। जो आत्मा में ही रमण करने वाला है, उसके लिए यह भाव ही खत्म हो गया कि मैं पुजारी हूँ, भगवान् पूज्य हैं और यह पूजा की सामग्री है। त्रैत खत्म हो गया, द्वैत खत्म हो गया, अब वहाँ केवल अद्वैत रह गया है। इन तीन सूत्रों में भक्ति के स्वरूप की व्याख्या करते हुए भक्त का यह लक्षण बताया गया है कि भक्त अन्त में आत्माराम हो जाता है। 'आत्मारामश्च मुनयोः।' श्रीमद्भागवत में आया है कि वे मुनि जो आत्मा में ही रमण करने वाले हैं, वे प्रभु की अनन्य भक्ति करते हैं, वही महान् हैं।

भक्ति का स्वरूप और भक्ति का परिणाम बता कर देवर्षि नारद आगे भक्ति की साधना बता रहे हैं। सातवें सूत्र से भक्ति किसे कहते हैं, भक्ति की साधना किस प्रकार की जाती है, इसके विषय में महात्मा नारद कहते हैं—

**सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्॥**

*—ना० भ० सू० ७*

भक्ति कामना रूप नहीं है निरोध रूप है। एक महत्त्वपूर्ण बात है, जो भक्ति पथ के साधकों के लिए देवर्षि नारद ने कही है। जैसे एक व्यक्ति भगवान् की उपासना, आराधना, सुमिरन, ध्यान, कीर्तन और भजनादि रूपों में भक्ति का अनुष्ठान करने लगता है और बीच में कोई ऐसी घटना घट जाती है कि वह जो चाहता है वह पूरा नहीं हो पाता, किसी प्रकार का व्यवधान पड़ जाता है, कोई दुर्घटना हो जाती है वा प्रतिकूल परिस्थिति आ जाती है, ऐसी स्थिति में यदि वह यह सोचने लगे कि मैंने इतनी भगवान् की उपासना, आराधना की, नाम-जप

किया, पूजा-पाठ किया किन्तु भगवान् ने मेरी कोई भी सहायता नहीं की, हमारी बाधाओं को दूर नहीं किया, इससे यह निश्चित होता है कि भगवान् न तो दयालु हैं न मेरे पर उनकी कृपा ही है आदि-२। यदि साधक इस प्रकार से सोचने लगता है तो इसका अभिप्राय यह होता है कि उसने भगवान् को बहुत घूस दी लेकिन भगवान् ने उसकी कामना पूर्ण नहीं की। मेरे विचार से इस प्रकार का दृष्टिकोण ही कामना रूप है। जहाँ कामना है वहाँ भक्ति नहीं, जहाँ भक्ति है वहाँ कामना नहीं होती। प्रेम में कामना नहीं होती। कुछ लोग कहते हैं कि हमने इतने हज़ार माला फेर लिया कुछ नहीं बना। जहाँ कामना पूर्ति के लिए भजन किया जाता है, वह भक्ति नहीं, वह तो मजदूरी है। मजदूरी तो जितनी तुम करोगे उतनी ही तुम्हें मिलेगी। मजदूरी तो तुम्हें हिसाब से मिलेगी। प्रेम में कोई हिसाब-किताब नहीं होता।

पंजाब में बुल्लेशाह नाम के एक संत हुए हैं। बुल्लेशाह एक दिन बैठे हुए तसबीह फेर रहे थे और अपने ध्यान में निमग्न थे, इतने में एक दूध बेचने वाला आया। उसने आवाज़ लगाई तो कई घरों में से देवियाँ निकलीं और वह उन्हें माप-माप कर दूध देता रहा। जब वह आगे गया तो एक घर से एक लड़की हँसते हुए निकली और दूध लेने के लिए उसने बर्तन आगे कर दिया। दूध बेचने वाले ने जब उस लड़की की तरफ देखा तो अपना डिब्बा उठाकर उसका बर्तन दूध से भर दिया। लड़की मुस्कराती हुई डिब्बा उठाकर चली गई। बुल्लेशाह यह देख रहे थे कि और सभी को तो इसने माप-२ कर दूध दिया है परन्तु इस लड़की को इसने बिना माप के दूध दिया है और सारा बर्तन भर दिया है, जरूर कोई बात है। यह बात ध्यान में आते ही बुल्लेशाह ने उसे अपने पास बुलाया और पूछा—सभी को तो तूने माप-२ कर दूध दिया है और उस लड़की को बिना माप के ही दूध दिया और उसका बर्तन भर दिया, क्या बात है? दूध वाले ने हँसते हुए कहा—बाबा! प्रेम में माप-जोख नहीं होता। इतना कहकर वह तो चला गया परन्तु बुल्लेशाह को यह सुनकर बहुत धक्का लगा। उसने सोचा, यह व्यक्ति एक लड़की से प्यार करता है और इसने माप-जोख तोड़ दिया है, मैं भगवान् से प्यार करता हूँ, अभी माप-जोख हमारे साथ लगा हुआ है। बुल्लेशाह ने उसकी बात सुनकर तसबीह तोड़ कर फेंक दी कि आज से माप-जोख नहीं होगा। यह कामना रहित दृष्टिकोण है। जहाँ कामना है वहाँ किसी न किसी प्रकार का व्यवधान लगा ही रहेगा, सीमा बनी रहेगी।

भगवान् से पूछा गया कि दुनिया तो आपको परेशान कर देती है—भगवान्

यह दे दे, भगवान् वह दे दे। क्या आपको भी कभी विश्राम की जरूरत पड़ती है? यदि पड़ती है तो आप विश्राम के लिए कहाँ जाते हो? भगवान् ने बताया—

**बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।**
**तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥**

—रा० ३/१६

"जिनको वचन, कर्म और मन से मेरी गति है तथा जो निष्काम भाव से मेरी भक्ति करते हैं, मैं उनके हृदय-कमल में जाकर विश्राम करता हूँ।" जहाँ कामना है, जहाँ वासना है, वहाँ भगवान् नहीं आते। तुलसीदास जी ने अपनी विनय पत्रिका में लिखा है—

**हरि निरमल, मलग्रसित हृदय असमंजस मोहिं जनावत।**
**जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत॥**

—वि०प० १८५-३

"प्रभो बड़े निर्मल हैं और मेरा हृदय मल से भरा हुआ है। ऐसे मलिन हृदय में भगवान् कैसे आयेंगे? जिस तालाब में कौए, बगुले, गीध तथा सूअर रहते हों वहाँ भला राजहंस कभी आकर बैठ सकता है?" तुलसीदास जी कहते हैं कि दम्भ बगुला है, कपट कौआ है, लोभ गीध है और काम सूकर है। रामायण में एक कथा आती है कि भगवान् राम जब पम्पा सरोवर के किनारे पर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि एक बगुला एक टाँग पर पानी में खड़ा हुआ था। उसने धीरे-धीरे एक पांव उठाया, दो-चार कदम चला फिर एक टाँग पर खड़ा हो गया। भगवान् राम ने लक्ष्मण से कहा—ज़रा उस बगुले को देखो कितना सज्जन है। वह इतने धीरे-२ पांव को पानी में रख रहा है कि किसी जन्तु को दुःख न पहुँचे। उसी पानी में रहने वाली मछली ने उत्तर दिया—राघव! यह बगुला कितना साधु है यह तो मेरे से ही पूछिए, आप नहीं जान सकते। जो इसके साथ रहते हैं वे ही इसके गुण-दोष को जानते हैं, सब नहीं जानते। बकुल दम्भ है। जिसके जीवन में दम्भ है, वह भगवान् को कैसे बुला सकता है। कौआ कपट के समान है। तुलसीदास जी लिखते हैं—

**काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥**

—रा० २/३०२-१

यह कौए का लक्षण है। गीध लोभ रूप है। गीध आकाश में बहुत ऊँचे उड़ता है परन्तु पृथ्वी पर पड़ी हुई सड़ी माँस को ही देखता है। इसलिए—

**लोभ मनहि नचाव कपि ज्यों गरे आसा-डोरि।**
**बात कहौं बनाइ बुध ज्यों बर बिराग निचोरि॥**

—वि०प० १५८-५

जितने लोभी लोग होते हैं उतनी ही वैराग्य की लम्बी-लम्बी बातें करते हैं जिससे लोग सोचें कि इनको अब कुछ नहीं चाहिए। तुलसीदास जी ने लोभ को गीध माना है। वेद में भी आया है कि—

**मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥** —ईश० १

''गीध दृष्टि मत रखो, धन किसका है, यह विचार करो।'' सूकर को काम कहा है। काम गन्दा और अच्छा कुछ नहीं देखता। काम रूपी सूकर जिस हृदय रूपी सरोवर में लोट रहा है फिर वहाँ भगवान् रूपी राज-हँस नहीं आ सकता। जो भगवान् को अपने हृदय में बुलाना चाहें पहले उन्हें हृदय को खाली करना होगा, साफ बनाना होगा।

एक तत्त्वज्ञ संत थे। भिक्षा में जाते, 'नारायण हरि' करते तो माताएँ लाकर रोटी दे देतीं और वे खाकर चले आते। एक दिन वे भिक्षा में गए, नारायण हरि किया, घर की गृहणी ने बाहर निकल कर भिक्षा दी और कहा—भगवन्! आप मुझे भी कुछ ज्ञान देते जाओ। संत जी ने कहा—माँ! कल आयेंगे, कल ज्ञान देंगे। दूसरे दिन माँ बड़ी प्रसन्न थी कि स्वामी जी से उसे ज्ञान मिलेगा इसलिए उसने खीर बना कर रखी। जब स्वामी जी भिक्षा में गए तो उन्होंने खप्पर में कुछ धूल-मिट्टी उठाकर डाल ली और उसके दरवाज़े पर नारायण हरि किया। वह खीर लेकर आई तथा ज्यों ही खीर खप्पर में डालने लगी तो देखा कि खप्पर में मिट्टी और कंकड़ पड़े हैं। उसने पूछा—महात्मा जी! इसमें खीर कैसे पड़ेगी? महात्मा जी ने कहा—क्यों क्या हो गया? गृहणी ने कहा-इसमें मिट्टी है, इसे साफ कर लें तो खीर डाल दूँ। महात्मा जी ने कहा—मैय्या! मेरा ज्ञान क्या तेरी खीर से भी घटिया है? यदि तू अपने कूड़े भरे हृदय में मेरा ज्ञान लेना चाहती है तो मेरे इस मिट्टी भरे पात्र में अपनी खीर नहीं डाल सकती? भगवान् का ज्ञान इतनी घटिया वस्तु नहीं है कि हम तुम्हारे इस कूड़े से भरे हृदय में दे दें।

मैं आपको बता रहा था कि भक्ति कामना रूप नहीं निरोध रूप है। भगवान् ने गीता के बारहवें अध्याय में अपने भक्तों के लक्षण बतायें हैं। इन्हें लिखकर अपने दरवाजे पर लगा दो और यह देखो कि इनमें से कौन सा लक्षण आप में आया है। यदि एक भी लक्षण आ गया तुम्हारे में तो समझ जाना कि अब भगवान् तुम्हारे हृदय में निवास करने की योजना बना रहे हैं। रामायण में भगवान्

ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

**निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥**

—रा० ५/४४-३

भक्ति निरोध रूपा है। निरोध किसे कहते हैं? यहाँ पर पतंजलि ने अपने योगशास्त्र का लक्ष्य ही यही बताया—

**अथ योगानुशासनम्।**

—यो०सू० १/१

"अब योग की व्याख्या करने जा रहा हूँ।" योग क्या है? योग की व्याख्या करते हुए बताया—

**योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।**

—यो०सू० १/२

चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। नारद जी भी यही कहते हैं कि भक्ति निरोध रूपा है। किसी भी प्रकार की वासना को चित्त में न आने देना ही निरोध है। निरोध की आगे व्याख्या कर दी—

**निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः॥**

—ना०भ०सू० ८

"लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के व्यापार का त्याग ही निरोध है।" लौकिक व्यापार का त्याग माने दुनिया के धन्धे को, दुनिया के व्यवहार को पूर्ण रूप से त्यागना। वैदिक व्यापार माने वेद का कर्मकाण्ड। वेद में बताया गया है कि यदि तुम ब्राह्मण हो तो तुम्हारे लिए त्रिकाल संध्या जरूरी है। तुम गृहस्थ हो तो तुम्हारे लिए पंच यज्ञ जरूरी हैं-ये जो वेद के निर्देश हैं, ये वेद के व्यापार हैं। कर्मकाण्ड में यह समझाया गया है कि वैदिक व्यापार किसी भी अवस्था में नहीं त्यागना चाहिए। गृहस्थ धर्म के पालन में वैदिक व्यापार जरूर करते रहना चाहिए। यहाँ पर देवर्षि नारद जी बता रहे हैं कि लौकिक व्यापार का त्याग अर्थात् दुनिया में किसी से भी कुछ नहीं चाहिए। जब कुछ प्राप्तव्य नहीं रहा तो कोई कर्त्तव्य भी नहीं रहा। जब तक दुनिया से कुछ पाने की चाह है तब तक प्रभु से प्रेम वा प्रभु की चाह नहीं हो सकती। अतः प्रभु-प्रेम के पिपासु के लिए लोक व्यापार का त्याग आवश्यक है, उसी प्रकार वेद व्यापार का त्याग भी आवश्यक कहा गया है, क्योंकि वैदिक व्यापार स्वर्गादि की प्राप्ति में ही हेतु हुआ करता है, उससे भगवत् प्रीति वा भक्ति की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए देवर्षि नारद कहते हैं कि लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकारों के व्यापारों का न्यास कर देना चाहिए। यह बहुत ऊँची

अवस्था की बात है। जिस भक्ति की महिमा गीता में, श्रीमद्भागवत में वर्णित की है और जिस भक्ति की महिमा तुलसीदास जी ने रामायण में गाई है, देवर्षि नारद ने उसी भक्ति की यहाँ मीमांसा की है। दुनिया भी चलती रहे और भगवान् का प्रेम भी चलता रहे, ऐसा नहीं होता। यहाँ तो एक तरफ वाली बात है।

पंजाब में एक सन्त हुए हैं, जिनका नाम था—छज्जू राम। वे बहुत अच्छे सन्त हुए हैं। एक दिन वे सत्संग करके घर जा रहे थे। सवेरे का समय था, सत्संग में भगवान् की महिमा का वर्णन सुना। घर जाते समय वे रास्ते में सोचते जा रहे थे कि भगवान् को प्राप्त करने के लिए पूरी जिन्दगी लगानी चाहिए। आधा इधर लटकूँ आधा उधर, बात बनती नहीं, क्या किया जाए? सोचते चले जा रहे थे, इतने में भंगिन दोनों हाथों में बाल्टी उठाए आ रही थी। उसने सामने से मस्ती में आते हुए छज्जू राम को देखा तो कहा—भरा जी! तुसी इक पासे हो जाओ। यह बात छज्जू राम को लग गई, वे एक तरफ खड़े हो गए और नमस्कार किया, कहा—अच्छा माँ! अब मैं एक तरफ ही हो जाऊँगा। वे वहीं से लौट गए और फिर वापिस नहीं आए।

मेरा कहने का अभिप्राय सिद्धा-भक्ति पूर्ण रूप से भगवत् समर्पण की बात करती है। यहाँ भगवत् प्रेम ही जीवन है, जीवन में भगवत् प्रेम नहीं। यहाँ पर जीवन को दो भागों में बाँटा नहीं जा सकता कि इतनी देर तुम भगवान् का नाम ले लो और इतनी देर तुम संसार का काम कर लो। यहाँ सब कुछ भगवान् का है। यदि यह मान लिया जाए कि लौकिक और वैदिक व्यापार का न्यास ही निरोध है तो कल से सभी भगवान् के नाम पर काम छोड़ कर बैठ जायेंगे। यह एक अवस्था विशेष होती है जिसमें लौकिक और वैदिक व्यापार छूट जाता है। यह सबके बस की बात नहीं है, सबसे संसार नहीं छोड़ा जाता और न ही सबसे परमार्थ छोड़ा जाता है। इसलिए कहा गया है—

**नारायण या पंथ में कोउ चलत है वीर।**
**पग-पग पै बरछी लगे श्वास-श्वास में तीर॥**

कबीर जी कहते हैं—

**शीश उतारे भुई धरे ता पर राखे पाँव।**
**इश्क चमन के बीच में ऐसा हो तब आव॥**

"पहले अपने सिर को अपने हाथ से काट कर अर्थात् अहं को काट कर भूमि पर रखे फिर उस पर पाँव रख कर जहाँ विशुद्ध प्रभु प्रेम है वहाँ आए", यह बहुत मुश्किल है। कबीर ने एक जगह और लिखा है—

**शीश दिए जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान।**

''यदि शोश देने से कोई सद्‌गुरु मिल जाए तो यह सस्ता सौदा है, तुम्हें कर लेना चाहिए।'' इसमें प्रश्न होता है कि जो भगवद् भक्ति को प्राप्त कर चुके हैं क्या उन्होंने भी संसार में रह कर काम किया है? क्यों नहीं, कबीर जन्म भर कपड़ा बुनना नहीं छोड़े, रविदास ने जूता गाँठना नहीं छोड़ा। जो बड़े से बड़े भक्त हुए हैं, उन्होंने भी संसार में रह कर काम किया है। भगवान् शंकराचार्य से बड़ा भक्त और बड़ा ज्ञानी कौन हो सकता है लेकिन उन्होंने १६ वर्ष की आयु से लेकर ३२ वर्ष की आयु तक भारत की चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की। वे पूरे भारत में घूम कर धर्म का प्रचार करते रहे। उन्होंने यदि लोक और वेद व्यापार का न्यास नहीं किया तो क्या सही में भगवद् भक्त नहीं थे? वे बहुत महान् भक्त थे। उनकी भक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उन्होंने ऐसा क्यों किया? उन्होंने ऐसा इसलिए किया कि वे परमात्मा के यन्त्र हो गए थे। जिन्होंने अपना सब कुछ परमात्मा को सौंप दिया उन्हें जो कुछ मिलता है, वह परमात्मा का प्रसाद मिलता है। उसके बाद वे जो कुछ करते हैं, वे स्वयं नहीं करते। फिर वह कौन करता है? गुरु नानक देव जी की भाषा में—'करे करावे आपे आप', प्रभु को जो करवाना होता है, वह करवाता है, उनका अहं उसमें काम नहीं करता। अहं रहता ही नहीं तो काम कौन करेगा। उसका न पाप रहता है और न पुण्य रहता है, न कोई धर्म रहता है, न अधर्म रहता है, न लोक रहता है, न वेद रहता है। वे जो कुछ कर रहे हैं प्रभु की इच्छा समझ कर रहे हैं। यह तो सही माने में कर्मयोग है। कर्मयोग तब प्रारम्भ होता है जब पूर्ण रूप से व्यक्ति अपने आप को भगवद् समर्पण कर देता है। अब जो कुछ उसे मिला है वह भगवान् से मिला है, इसलिए वह भगवान् का होकर कर रहा है। जैसे गीता में अर्जुन पहले स्वयं युद्ध करने जा रहा था। जब युद्ध भूमि में अपने प्रियजनों को देखा तो धनुष-बाण उसके हाथ से गिर गया। बाद में जिस अर्जुन ने युद्ध किया वह पहले वाला अर्जुन नहीं था। गीता श्रवण के पश्चात् अर्जुन योद्धा नहीं निमित्त था। भगवान् ने स्वयं कहा है—

**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।**

*—गीता ११/१३*

अर्जुन ने कहा—'करिष्ये वचनं तव', तब आपकी आज्ञा का पालन मैं करूँगा, ऐसा कह कर अर्जुन ने स्वयं को निमित्त मात्र ही समझा। यह है उस भक्त की स्थिति, जिसने लोक और वेद व्यापार का न्यास कर दिया है। एक कवि ने बड़ी सुन्दर कविता लिखी है जो कि मैं कभी-२ अपने साधन काल में गाया करता था।

उसका कथन है—

**हौं हम सब पंथिन ते न्यारे!**
**लीनों गहि अब प्रेम-पंथ हम, पंथ तजि प्यारे!**

''हे प्रभु! अब तुम्हारे प्रेम का पंथ पकड़ लिया है इसलिए सब पंथों से अलग हो गया हूँ।'' यदि सभी पंथों से अलग हो गए तो वेद, पुराण, शास्त्र ये जो कहते हैं इनकी बातें? वह कहता है—

**नाय कराय सकैं षड दरसन, दरसन, मोहन, तेरो।**

''हे प्रभो! ये छः दर्शन तुम्हारे दर्शन नहीं करा सकते।'' इनमें पड़कर कभी सुलझाव होता ही नहीं बल्कि उलझता ही जाता है। सांख्य यह कह रहा है, न्याय यह कह रहा है, वेदान्त यह कह रहा है, वैशेषिक यह कह रहा है, योग यह कह रहा है-सारी दुनिया की उलझनें बढ़ती ही गईं। समाधान कहाँ से हुआ।

**सूत्र-ग्रन्थ जे नहिं निरवारत बिरह-ग्रन्थि पिय तेरी।**
**पचि तिनमें सुरझन सपनेहुँ नहिं, उरझन बढ़त घनेरी॥**

''सूत्र ग्रन्थ भी तेरी विरह की ग्रन्थि का निवारण नहीं करते और अधिक उलझन ही पैदा करते हैं।'' ये वेद—

**सब धर्मन तें परे धर्म जो प्रीतम-प्रेम-सगाई।**
**ताकी धर्म-अधर्म व्यवस्था कौन समृति करि पाई?**

''जो प्रियतम के प्रेम का सम्बन्ध है, वह समस्त सम्बन्धों से परे की बात है, स्मृतियाँ उसकी क्या व्यवस्था करेंगी।'' वह कहता है—हे प्रभो! अब मैंने वेद, पुराण, शास्त्र आदि सभी को छोड़ कर तुम्हारे प्रेम का ही केवल एक रास्ता अपनाया है।

**मेरी इल्लत है मुहब्बत, मेरा मज़हब इश्क है।**
**खाक हूँ मैं काफिरों में, खाक दीदारों में हूँ।**

''मुझे एक आदत पड़ गई है-मुहब्बत करने की, मेरा धर्म भी प्रेम है इसलिए मैं न तो आस्तिक हूँ न ही नास्तिक हूँ।'' भगवद् प्रेम में जिसकी ऐसी स्थिति हो जाती है, वे दुनिया के किसी भी विधान को पकड़ कर नहीं बैठे रहते। वे दुनिया के सभी बन्धनों से ऊपर हो जाते हैं। नारद जी ने उसी स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है—

**सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।**
**निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः॥**

अगले सूत्र में बताया—

**शीश दिए जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान।**

''यदि शीश देने से कोई सद्गुरु मिल जाए तो यह सस्ता सौदा है, तुम्हें कर लेना चाहिए।'' इसमें प्रश्न होता है कि जो भगवद् भक्ति को प्राप्त कर चुके हैं क्या उन्होंने भी संसार में रह कर काम किया है? क्यों नहीं, कबीर जन्म भर कपड़ा बुनना नहीं छोड़े, रविदास ने जूता गाँठना नहीं छोड़ा। जो बड़े से बड़े भक्त हुए हैं, उन्होंने भी संसार में रह कर काम किया है। भगवान् शंकराचार्य से बड़ा भक्त और बड़ा ज्ञानी कौन हो सकता है लेकिन उन्होंने १६ वर्ष की आयु से लेकर ३२ वर्ष की आयु तक भारत की चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की। वे पूरे भारत में घूम कर धर्म का प्रचार करते रहे। उन्होंने यदि लोक और वेद व्यापार का न्यास नहीं किया तो क्या सही में भगवद् भक्त नहीं थे? वे बहुत महान् भक्त थे। उनकी भक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उन्होंने ऐसा क्यों किया? उन्होंने ऐसा इसलिए किया कि वे परमात्मा के यन्त्र हो गए थे। जिन्होंने अपना सब कुछ परमात्मा को सौंप दिया उन्हें जो कुछ मिलता है, वह परमात्मा का प्रसाद मिलता है। उसके बाद वे जो कुछ करते हैं, वे स्वयं नहीं करते। फिर वह कौन करता है? गुरु नानक देव जी की भाषा में—'करे करावे आपे आप', प्रभु को जो करवाना होता है, वह करवाता है, उनका अहं उसमें काम नहीं करता। अहं रहता ही नहीं तो काम कौन करेगा। उसका न पाप रहता है और न पुण्य रहता है, न कोई धर्म रहता है, न अधर्म रहता है, न लोक रहता है, न वेद रहता है। वे जो कुछ कर रहे हैं प्रभु की इच्छा समझ कर रहे हैं। यह तो सही माने में कर्मयोग है। कर्मयोग तब प्रारम्भ होता है जब पूर्ण रूप से व्यक्ति अपने आप को भगवद् समर्पण कर देता है। अब जो कुछ उसे मिला है वह भगवान् से मिला है, इसलिए वह भगवान् का होकर कर रहा है। जैसे गीता में अर्जुन पहले स्वयं युद्ध करने जा रहा था। जब युद्ध भूमि में अपने प्रियजनों को देखा तो धनुष-बाण उसके हाथ से गिर गया। बाद में जिस अर्जुन ने युद्ध किया वह पहले वाला अर्जुन नहीं था। गीता श्रवण के पश्चात् अर्जुन योद्धा नहीं निमित्त था। भगवान् ने स्वयं कहा है—

**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।**

*—गीता ११/१३*

अर्जुन ने कहा—'करिष्ये वचनं तव', तब आपकी आज्ञा का पालन मैं करूँगा, ऐसा कह कर अर्जुन ने स्वयं को निमित्त मात्र ही समझा। यह है उस भक्त की स्थिति, जिसने लोक और वेद व्यापार का न्यास कर दिया है। एक कवि ने बड़ी सुन्दर कविता लिखी है जो कि मैं कभी-२ अपने साधन काल में गाया करता था।

उसका कथन है—

**हौं हम सब पंथिन ते न्यारे!**

**लीनों गहि अब प्रेम-पंथ हम, पंथ तजि प्यारे!**

"हे प्रभु! अब तुम्हारे प्रेम का पंथ पकड़ लिया है इसलिए सब पंथों से अलग हो गया हूँ।" यदि सभी पंथों से अलग हो गए तो वेद, पुराण, शास्त्र ये जो कहते हैं इनकी बातें? वह कहता है—

**नाय कराय सकैं षड दरसन, दरसन, मोहन, तेरो।**

"हे प्रभो! ये छः दर्शन तुम्हारे दर्शन नहीं करा सकते।" इनमें पड़कर कभी सुलझाव होता ही नहीं बल्कि उलझता ही जाता है। सांख्य यह कह रहा है, न्याय यह कह रहा है, वेदान्त यह कह रहा है, वैशेषिक यह कह रहा है, योग यह कह रहा है-सारी दुनिया की उलझनें बढ़ती ही गईं। समाधान कहाँ से हुआ।

**सूत्र-ग्रन्थ जे नहिं निरवारत बिरह-ग्रन्थि पिय तेरी।**

**पचि तिनमें सुरझन सपनेहुँ नहिं, उरझन बढ़त घनेरी॥**

"सूत्र ग्रन्थ भी तेरी विरह की ग्रन्थि का निवारण नहीं करते और अधिक उलझन ही पैदा करते हैं।" ये वेद—

**सब धर्मन तें परे धर्म जो प्रीतम-प्रेम-सगाई।**

**ताकी धर्म-अधर्म व्यवस्था कौन समृति करि पाई?**

"जो प्रियतम के प्रेम का सम्बन्ध है, वह समस्त सम्बन्धों से परे की बात है; स्मृतियाँ उसकी क्या व्यवस्था करेंगी।" वह कहता है—हे प्रभो! अब मैंने वेद, पुराण, शास्त्र आदि सभी को छोड़ कर तुम्हारे प्रेम का ही केवल एक रास्ता अपनाया है।

**मेरी इल्लत है मुहब्बत, मेरा मज़हब इश्क है।**

**खाक हूँ मैं काफिरों में, खाक दीदारों में हूँ।**

"मुझे एक आदत पड़ गई है-मुहब्बत करने की, मेरा धर्म भी प्रेम है इसलिए मैं न तो आस्तिक हूँ न ही नास्तिक हूँ।" भगवद् प्रेम में जिसकी ऐसी स्थिति हो जाती है, वे दुनिया के किसी भी विधान को पकड़ कर नहीं बैठे रहते। वे दुनिया के सभी बन्धनों से ऊपर हो जाते हैं। नारद जी ने उसी स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है—

**सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।**

**निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः॥**

अगले सूत्र में बताया—

**तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च॥**

—ना०भ०सू० ७,८,९

''उस परमात्मा में अनन्यता हो और परमात्म विरोधी तत्त्वों से उदासीनता हो।''
अनन्यता किसे कहते हैं? भगवद् विरोधी तत्त्व क्या है जिससे उदासीन होना है? इसकी व्याख्या कल करेंगे।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## ५

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! पहले दो सूत्रों में भक्ति क्या है, यह बताया गया और उससे आगे के तीन सूत्रों में भक्ति के परिणाम क्या हैं, इसकी व्याख्या की गई। सातवें और आठवें सूत्रों में भक्ति के लक्षण, उसके साधन रूप में विवेचन करते हुए देवर्षि नारद ने कहा है कि भक्ति कामना रूप नहीं निरोध रूप है। निरोध किसे कहते हैं, इस जिज्ञासा के उत्तर में उन्होंने बताया कि लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के व्यापारों का त्याग ही निरोध का स्वरूप है। इसी बात को महर्षि पतंजलि ने भी कहा है—

**दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।**

—योऽसू० १/१५

''देखे हुए दुनिया के जितने भोग हैं और सुने हुए जितने स्वर्गादि के भोग हैं, इन दोनों प्रकार के भोगों की कामना का पूर्णरूप से त्याग कर देना ही निरोध है।'' यहाँ पर विशेष रूप से जो बात देवर्षि नारद ने कही है, वह साधन के रूप में बताई है। लोक व्यापार से दुनिया का भोग उपलब्ध होता है और वैदिक व्यापार से स्वर्ग का भोग उपलब्ध होता है-ऐसा शास्त्र का कथन है। इसलिए 'स्वर्ग कामं यजेत्', जिसको स्वर्ग की कामना हो उसे यज्ञ करना चाहिए, यह वेद का निर्देश है। जो स्वर्ग की कामना से प्रेरित होकर यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, वे वैदिक व्यापार में निरत होते हैं। जो संसार के सुख की कामना करके लौकिक व्यापार में लगे रहते हैं, वे लौकिक व्यापारी कहे जाते हैं। वासना द्वारा हम क्रिया में प्रवृत्त होते हैं और क्रिया से हम वासना की पूर्ति करते हैं। यदि हम लोक व्यापार और

वेद व्यापार में प्रवृत्त नहीं होंगे तो वासना और उसकी पूर्ति का प्रश्न ही पैदा नहीं होगा, यहाँ पर निरोध शब्द का यही अर्थ है। इसमें देवर्षि नारद ने एक बात और कही है—

**तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च॥**

—ना०भ०सू० ९

परमात्मा में पूर्ण अनन्यता हो और परमात्मा से जो कुछ विरोधी तत्त्व हैं उनसे द्वेष अथवा घृणा नहीं उनसे उदासीनता हो जानी चाहिए। यदि हम किसी से घृणा करते हैं तो वह चित्त में दोष उत्पन्न करती है, यदि राग करते हैं तो उससे भी चित्त में दोष उत्पन्न होता है और यदि हम किसी से उदासीन हो जाते हैं तो उससे हमारे चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके उदाहरण में तुलसीदास जी ने बताया है कि—

**सत्रु, मित्र, मध्यस्थ, तीनि ये, मन कीन्हें बरिआईं।**

—वि०प० १२४/२

इसलिए सोने और सर्प का प्रभाव तो हमारे चित्त पर पड़ेगा ही। सोने से हमारा लगाव है, यदि हम कहीं सोना देखेंगे तो वह हमारे चित्त को अपनी तरफ खींच लेगा। सर्प से हमें भय है, हम कहीं सर्प देखेंगे तो उससे दूर होने की कोशिश करेंगे। सोने से हमें स्वभावतः राग है और सर्प से स्वभावतः भय है इसलिए रास्ते चलते हुए हम सोना देखेंगे या सर्प देखेंगे तो उसका प्रभाव हमारे चित्त पर पड़ेगा लेकिन कितनी प्रकार की घासें हैं उनको देखने से, उनका कोई प्रभाव हमारे चित्त पर नहीं पड़ता क्योंकि तृण के प्रति हम उदासीन होते हैं। उदासीन माने जिस स्तर का तृण है उससे हम ऊपर स्थित होते हैं। यदि हम पशु योनि में होते तो तृण का प्रभाव होता, तब सोने और सर्प का प्रभाव न पड़ता क्योंकि पशु योनि उसी स्तर पर है जहाँ हरी-२ घास का प्रभाव पड़ता है। इसलिए यहाँ पर बताया—'तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च', जो भगवान् की भक्ति के मार्ग पर चलें उनमें भगवान् से सम्बन्धित सभी कार्यों में रुचि होनी चाहिए। भगवान् से सम्बन्धित जितने चरित्र हैं, जितने नाम हैं, जितने लोक हैं, उनमें रुचि होनी चाहिए लेकिन भगवद् प्रेम में जो व्यवधान उत्पन्न करने वाले तत्त्व हैं, उनसे उदासीन हो जाना चाहिए या उनको उसी तृण की स्थिति में छोड़ देना चाहिए क्योंकि भगवान् से अधिक मूल्यवान् दुनिया में और कुछ नहीं है और न ही भगवान् से अधिक निकट तथा प्रिय ही कुछ है।

**प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।**

*—रा० २/२९०*

भगवान् तो प्राण का भी प्राण, जीव का भी जीव, सुख का भी सुख है, उससे अधिक निकट तो अपना कोई हो ही नहीं सकता। भगवान् ने स्वयं कहा है—

**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।**

*—गीता ५/२९*

''जो समस्त भूतों का अकारण ही प्रेम करने वाला जाना जाता है, वह परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है।'' नारद जी कहते हैं—उस सुहृदय परमात्मा में अनन्यता हो और भगवद् विरोधी तत्त्वों से उदासीनता हो क्योंकि भगवद् विरोधी तत्त्वों से विरोध करने में अपने समय और शक्ति का ह्रास होता है। तुलसीदास जी ने लिखा है—

**उदासीन नित रहिअ गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाईं॥**

*—रा० ७/१०६-१५*

भगवद् विरोधी तत्त्व से न तो कलह प्रिय है न तो प्रेम प्रिय, उन्हें तो स्वान की तरह त्याग देना चाहिए क्योंकि रहीम जी ने कहा है—

**रहिमन ओछे नरों से तजहु बैर और प्रीति।**
**काटे-चाटे स्वान के दोहूँ भाग विपरीति॥**

''कुत्ते से प्रेम करोगे तो वह चाटेगा, द्वेष करोगे तो काटेगा; काटना और चाटना दोनों बुरे हैं इसलिए उससे दूर ही रहना चाहिए।'' इसी प्रकार जो खल वृत्ति के लोग हैं, जो नास्तिक लोग हैं, जो भगवद् विरोधी तत्त्व हैं, उनसे उदासीन अर्थात् उनसे ऊपर उठ जाओ। यदि तुम उनके स्तर पर आ जाते हो तो तुम में और उनमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। भगवद् विरोधी कौन हो सकता है? तुलसीदास जी कहते हैं कि वह कोई भी हो सकता है—

**जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु-पितु भाइ।**
**सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥**

*—रा० २/१८५*

''चाहे वह माता हो, पिता हो, भाई हो, सम्पत्ति हो, सुख हो, सुहृद हो यानी कोई भी हो जो भगवान् के प्रेम में सहायक नहीं है, वह नष्ट हो जाए। उससे अपना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।''

आप लोगों ने देवी मीरा की कथा सुनी होगी। जिस समय देवर विक्रम ने उन्हें आदेश दिया था कि या तो तुम राजमहल छोड़ दो या यह कीर्तन तथा नृत्य

छोड़ दो तो उस समय मीरा के सामने यह प्रश्न आया कि इस स्थिति में उसे क्या करना चाहिए? मीरा के गुरु संत रविदास का शरीर छूट चुका था लेकिन उनकी परम्परा में गोस्वामी तुलसीदास जी थे। वे भी रामानन्द स्वामी के शिष्य थे। मीरा ने एक पत्र लिख करके तुलसीदास जी के यहाँ भेजा कि मेरे सामने दो विकल्प हैं, या तो मैं राजमहल में रहूँ या भगवान् की आराधना करूँ, जैसे कि मैं करती हूँ, इन दोनों में से हमारे लिए कौन सा उपयोगी है? आप मेरा मार्गदर्शन कीजिए। तुलसीदास जी ने एक पद लिख कर मीरा को भेजा जिसमें उन्होंने लिखा— ''जिसको प्रभु प्रेम प्रिय नहीं है वह परम स्नेही ही क्यों न हो उसे करोड़ों का वैरी समझ कर छोड़ देना चाहिए।'' क्या किसी ने छोड़ा है पहले? कहते हैं—

**तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।**
**बलि गुरु तज्यो, कंत व्रज-बनितनि, भए मुदमंगलकारी॥**

''प्रह्लाद ने अपने पिता का त्याग कर दिया, बिभीषण ने अपने भाई का त्याग कर दिया, भरत ने माता का त्याग कर दिया, बलि ने गुरु का त्याग कर दिया और व्रज की गोपियों ने अपने पतियों का त्याग कर दिया लेकिन उनका अमंगल नहीं हुआ बल्कि कल्याण ही हुआ।'' उन्होंने कहा, दुनिया में जितने सुहृद हैं, जितने सेव्य और प्रिय हैं, सब राम के नाते हैं। भगवान् ने अपनी भक्ति की विवेचना करते हुए लक्ष्मण को समझाया है—

**गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥**
**मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥**
**काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरन्तर बस मैं ताकें॥**

*—रा० ३/१६-१० से १२*

इस प्रकार की स्थिति हो गई है। वह दुनिया के सब नातों को परमात्मा के नाते से ही मानता है। तुलसीदास जी कहते हैं—

**नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसब्य जहाँ लौं।**
**अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥**

*—वि०प० १७४*

आँख में अंजन आँख की रोशनी बढ़ाने के लिए लगाया जाता है न कि आँख फोड़ने के लिए। जिस अंजन को लगाने से आँख ही फूटती हो, ऐसे अंजन को लगाने से क्या लाभ? इसी रूप से संसार के जिस रिश्ते से भगवान् की भक्ति में व्यवधान पड़ता हो, उस रिश्ते से क्या लाभ! संसार के सारे रिश्ते तो भगवान् को पाने के लिए हैं—

**तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।**
**जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो॥**

—*वि०प० १७४-४*

तुलसीदास जी कहते हैं कि मेरे मत से तो वही अपना है, वही प्राण से प्यारा है जिसका भगवान् से प्रेम है, जिसका भगवान् से प्रेम नहीं है, वह हमारा अपना नहीं, उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। यह तुलसीदास जी ने लिख करके मीरा को भेजा। मीरा उसे प्राप्त करते ही राजमहल का त्याग करके वृन्दावन चली गई।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि जो कुछ भगवद् विरोधी है चाहे वह रिश्तेदार हो, चाहे परम सुहृद हो, चाहे सम्पत्ति हो, चाहे कीर्ति हो; दुनिया को जो कुछ भी भगवद् विरोधी हो, उसका त्याग करके उससे उदासीन हो करके ही भगवान् के प्रेम की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए।

वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप के संत कवि व्यासदेव हुए हैं। वे टीकमगढ़ के आमात्य थे। एक बार वे वृन्दावन में आये। वहां की भगवद् भक्ति तथा रास देखकर वे विमुग्ध हो गए, वहाँ से वे गए ही नहीं। काफी दिन बीत जाने पर परिवार वाले उन्हें लेने आए। जब वे नहीं गए तो महाराजा साहिब स्वयं उन्हें लेने आए। महाराजा साहिब ने कहा–तुम्हें जैसी भक्ति करनी होगी, हम अपने राज्य में वैसी व्यवस्था कर देंगे। तुम्हारे लिए वहीं मन्दिर भी बना देंगे और साथ में तुम हमारी राज-काज में मदद भी कर दोगे। महाराजा साहिब उस समय वृन्दावन छोड़कर जाने की स्थिति में नहीं थे लेकिन राजासाहिब का आग्रह और परिवार वालों का इतना जोर देख कर वे कुछ निर्णय नहीं कर पा रहे थे। इतने में भगवान् की इच्छा देखिए, वृन्दावन में बिहारी जी का प्रसिद्ध मन्दिर है। वे मन्दिर का दर्शन करने गए तो फाटक बन्द हो गया था। मन्दिर की तरफ से एक भंगिन सफाई करने के बाद भगवान् का प्रसाद टोकरे में रखे आ रही थी। इधर से व्यासदेव जी, राजा साहिब तथा उनके परिवार के सदस्य मन्दिर में भगवान् के दर्शन करने के लिए जा रहे थे। फाटक बन्द देखा तो उन्हें लगा कि आज तो हमें बिहारी जी का प्रसाद नहीं मिलेगा। इतने में उन्हें भंगिन जाती हुई दिखाई दी, उन्होंने आवाज़ लगाई, "माँ! खड़ी हो जा।" उसको क्या पता था कि ये क्या करेंगे। टोकरी में जो बर्तन था, उसमें बिहारी जी का प्रसाद था। प्रसाद में उस दिन कड़ी चावल बने थे। व्यासदेव जी ने टोकरे में हाथ डालकर पकौड़ी निकाल कर खा ली। ज्योंहि पकौड़ी खाई, सारा परिवार चीख उठा कि यह क्या किया, पतित हो गए। राजा ने भी कहा, यह पतित हो गए हैं। किसी ने उन्हें छुआ नहीं बल्कि

सभी उन्हें छोड़कर चले गए। उन्होंने अपने एक पद में लिखा है—'एक पकौड़ी से जग छुटयो'। जिसके लिए सभी मिन्नते कर रहे थे, बिहारी जी की कृपा से ही एक पकौड़ी ने सारा परिवार छुड़ा दिया और हमें कहना ही नहीं पड़ा कि हम नहीं जायेंगे। कहने का अभिप्राय कि जो कुछ भगवद् विरोधी है, उसका परित्याग करना चाहिए। संतों ने अनेक प्रकार की कठिनाईयां सही हैं। मध्य काल के संतों की जीवनी तथा उनकी वाणी बहुत ही प्रेरणाप्रद है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि कैसे उन्होंने संसार से या भगवद् विरोधी तत्त्वों से मुक्ति पाई है। बाईबल में भी कहा है कि तुम्हारी एक आँख गलत देखती है तो तुरन्त उसको निकाल कर बाहर फेंक दो, ऐसा न हो कि कहीं उस एक आँख के नाते तुम्हारे सम्पूर्ण जीवन को नरक की यातना भोगनी पड़े। जब तुम्हारा एक हाथ बुरे काम की तरफ उठता है तुरन्त काट कर उसे बाहर फेंक दो, ऐसा न हो कि तुम्हारे एक हाथ के नाते सारे शरीर को अग्नि में तपना पड़े।

सूरदास जी की कथा तो आप लोगों ने सुनी होगी। बिल्वमंगल से वे सूरदास कैसे बन गए क्योंकि जन्म से अंधे तो वे थे नहीं। उनकी दृष्टि एक स्त्री पर पड़ी और कुदृष्टि से उसे देखा। जब उनको होश आया तो उन्होंने उसी स्त्री से कहा—माँ! मेरे को सूए ला दे। स्त्री ने सूए लाकर दे दिए और उसके देखते-देखते ही उन्होंने उन सूओं से अपनी आँखें फोड़ लीं। मेरे कहने का अभिप्राय जो कुछ भी भगवद् विरोधी है, उससे उपरत होकर भगवान् में अनन्य भावना से अनुरक्ति रखना ही भक्त का जीवन है।

अब प्रश्न होता है कि अनन्यता किसे कहते हैं? अनन्यता की व्याख्या करते हुए अगले सूत्र में कहते हैं—

**अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता।**

*—ना० भ० सू० १०*

"अन्य आश्रयों का त्याग कर देना ही अनन्यता है।" अन्य आश्रय माने दुनिया के जितने आश्रय हैं। तुलसीदास जी ने अपनी कवितावली में लिखा है—

**जड़ पंच मिले जेहिं देह करी, करनी लखु धौं धरनीधरकी।**
**जनकी कहु, क्यों करिहै न सँभार, जो सार करै सचराचरकी॥**
**तुलसी! कहु राम समान को आन है, सेवकि जासु रमा घरकी।**
**जगमें गति जाहि जगत्पति की, परवाह है ताहि कहा नरकी॥**

*—कवितावली ७/२७*

जिसने भगवान् का सहारा लिया उसको मनुष्य के सहारे की क्या जरूरत है। उन्होंने अपनी रामायण में लिखा—

**मोर दास कहाइ नर आसा। कहइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥**

*—रा० ७/४६-२*

भगवान् कहते हैं, "भक्त तो तू मेरा कहाता है और आशा मनुष्य की करता है। ऐसे भगत का क्या विश्वास?" तुलसीदास जी ने कहा है—

**जरि जाइ सो जीह जो जाँचत औरहि।**

*—कवितावली २६/२*

मेरी जिह्वा जल जाए, प्रभु! यदि मैं कहूँ कि मैं दूसरे का हूँ—

**जग जाचिअ कोउ न, जाचिये जों जियँ जाचिये जानकी जहानहि रे।**
**जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ जो जारति जोर जहानहि रे॥**

*—कवितावली ७/२८*

"दुनिया में तुझे माँगना नहीं चाहिए। यदि तुम्हें मांगना है तो भगवान् से माँग जिससे मांगने के बाद पुनः दूसरे दरवाजे पर मांगने नहीं जाना पड़ता।" तुम विभीषण की गति देखो उसने एक बार भगवान् से मांगा फिर उसे दुनिया के सामने हाथ नहीं फैलाना पड़ा और भगवान् ने उसे लंकेश बना दिया—

**गति देखु बिचारि बिभीषणकी, अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे।**
**तुलसी! भजु दारिद-दोष-दवानल संकट-कोटि-कृपानहि रे॥**

*—कवितावली ७/२८*

गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में बार-बार जोर दिया है कि तुम भगवान् से मांगो। भगवान् के अतिरिक्त और कोई ऐसा नहीं जिसका आश्रय तुम्हें लेना पड़े।

एक बार एक फकीर बादशाह के यहाँ कुछ मांगने गया। जब वह दरबार में गया तो बताया गया कि बादशाह अभी ईबादत में है। उसने कहा कि वह देखना चाहता है कि वे कैसे इबादत करते हैं। उसने दूर से देखा कि बादशाह कभी बैठते हैं और कभी खड़े होते हैं, कभी ऊपर देखते हैं और कभी हाथ फैलाते हैं। जैसे नमाज़ पढ़ने की विधि है, उसी के अनुसार वे कर रहे थे। उसने देखते ही कहा मैं तो बड़ी गलत जगह आ गया हूँ, ऐसा कहते ही वह लौट पड़ा। इतने में बादशाह की नमाज़ पूरी हो गई तो उसने फकीर को बुलवाया। जब लोग उसको बुलाने गये तो उसने कहा, "नहीं, हमें क्या पता था कि यह स्वयं भिखारी है, जिससे यह मांगता है, हम भी उससे ही मांग लेंगे, हमें इससे मांगने की क्या

जरूरत है?'' कहने का अभिप्राय कि जो लोग भगवान् के दरवाजे के भिखारी बन गए या जिन्होंने भगवान् की शरण ले ली, उन्हें पुनः संसार से मांगने की आवश्यकता नहीं, इसलिए भगवान् ने बताया—

**संतुष्टो येन केनचित्।**

—*गीता १२/१९*

''जो मेरे भक्त हैं, वे येन-केन-प्रकारेण सन्तुष्ट रहते हैं।'' जिसने भगवान् का आश्रय ले लिया उसको अब किसका आश्रय चाहिए? 'अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता', जो अन्य आश्रयों का त्याग कर दे, वही अनन्य है। अन्य माने प्रकृति, संसार तथा अन्य देवगण। अन्य शब्द का प्रयोग तुलसीदास जी ने कई अर्थों में किया है। उन्होंने विनय पत्रिका में एक जगह लिखा है—

**खोटो खरो रावरो हौं, रावरी सौं, रावरेसों झूठ क्यों कहौंगो,**
**जानो सब ही के मनकी।**
**करम-बचन-हिये, कहौं न कपट किये, ऐसी हठ जैसी गाँठि**
**पानी परे सनकी॥**
**दूसरो, भरोसो नाहिं बासना उपासनाकी, बासव, बिरंचि,**
**सुर नर-मुनिगनकी।**
**स्वारथ के साथी मेरे हाथी स्वान लेवा देई, काहू तो न पीर**
**रघुबीर! दीन जनकी॥**
**साँप सभा साबर लबार भये देव दिब्य, दुसह साँसति कीजै**
**आगे ही या तनकी।**
**साँचे परौं, पाऊँ पान, पंचमें पन प्रमान, तुलसी चातक आस**
**राम स्याम घनकी॥**

—*वि०प० ७५*

''मैं तो ऐसा चातक हूँ जिसको राम श्यामघन के सिवा और किसी की आशा नहीं है।'' ऐसी अनन्य निष्ठा जिसकी हो जाए कि अब प्रभु को छोड़कर और कहीं मांगने की जरूरत नहीं और किसी का आश्रय नहीं है, जहाँ अन्य सभी आश्रय छूट जाएं, वहीं अनन्यता है। अनन्यता के दो भेद हैं-एक साधन भक्ति के भेद, दूसरा सिद्धा भक्ति के भेद। 'न अन्य अनन्य।' सिद्ध की दृष्टि में अन्य है ही नहीं, अन्य का अस्तित्व ही नहीं है। जहाँ अन्य का अस्तित्व ही नहीं है वहाँ अन्य के आश्रय ग्रहण करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। वह तो—

**निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥**

—रा० ७/११२ (ख)

जैसे कल मैंने आपको बताया था। इस प्रकार की अनन्यता का उपदेश भगवान् श्री राघव स्वयं हनुमान को दे रहे हैं—

**समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥**

—रा० ३/३-८

''हे हनुमान! मुझे सभी समदर्शी कहते हैं लेकिन अनन्य गति वाला सेवक मुझे अत्यन्त प्रिय है।'' हनुमान जी ने पूछा, प्रभो! अनन्य किसे कहते हैं? इसका उत्तर देते हुए प्रभु ने कहा—

**सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।**
**मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥**

—रा० ३/३

''जिसकी ऐसी दृढ़ मति किञ्चित मात्र भी विचलित नहीं होती कि मैं सेवक हूँ, यह चराचर मेरे स्वामी का स्वरूप है, वह अनन्य है।'' वहाँ अन्य है ही नहीं, केवल एक—

**बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।**

—रा० ६/१४

अब अन्य का अस्तित्व ही नहीं तो मांगना किससे है? अन्य की सत्ता ही नहीं है तो मांगना किससे? अन्य की सत्ता को अस्वीकार कर देना, यह उच्च कोटि की अनन्यता है क्योंकि—

**उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥**

—रा० ४/५-१२

उच्च कोटि के भक्त के मन में दूसरा कोई दुनिया में है ही नहीं। दूसरी प्रकार की अनन्यता में दुनिया के लोग तो हैं लेकिन उनसे अपना कोई प्रयोजन नहीं है।

**मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥**

—रा० ४/५-१३

जो बराबर के हैं, वे भाई के समान हैं, बड़े पिता के समान हैं, छोटे हैं परन्तु पुत्र के समान हैं, यह मध्यम की स्थिति है लेकिन उत्तम के लिए तो दूसरा पुरुष है ही नहीं। ये एक ही साधक की दो अवस्थायें आती हैं। तुलसीदास जी साधन काल में जब थे तो वे कहते हैं—

**जानकी-जीवन की बलि जैहौं।**
**चित्त कहै रामसीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं।।**
**उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभु-पद-बिमुख न पैहौं।**
**मन समेत या तनके बासिन्ह, इहै सिखावन दैहौं।।**
**श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।**
**रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईस ही नैहौं।।**
**नातो-नेह नाथसों करि सब नातो-नेह बहैहौं।**
**यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।।**

*—वि०प० १०४*

और है लेकिन उसकी कथा मैं नहीं सुनूंगा, और है लेकिन उसे देखूँगा नहीं, और है लेकिन उनका गुण नहीं गाऊँगा। वे यही कहते थे कि मेरा सिर केवल राम के सामने ही झुकेगा और बाद में जब अवस्था बदली तो कण-२ में राम दिखाई देने लगे,

**जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।**
**बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि।।**

*—रा० १/७७*

जड़-चेतन सभी राममय है, यह वे केवल माने नहीं बल्कि जाना कि उनके राम ही सर्वरूप में हैं। राम के सिवा कुछ है ही नहीं—

**सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।**

*—रा० १/८-२*

"श्रीसीता राम को मैं सारे जगत् के रूप में जाना हूँ इसलिए सबके चरणों में मैं प्रणाम करता हूँ", यह एक दृष्टि होती है भक्त की। यह दो प्रकार की अनन्यता है—एक अनन्यता है जिसमें अन्य हैं लेकिन उनका आश्रय नहीं लिया जाता। दूसरी अनन्यता में अब कोई दूसरा है ही नहीं तो आश्रय किसका लिया जाए? यही भेद हमें रामायण में मिलता है लक्ष्मण और हनुमान के जीवन में। भगवान् राम कहते हैं—

**सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।।**

*—रा० ४/३-७*

"तुम मुझे लक्ष्मण से दूने प्रिय हो।" लक्ष्मण की अनन्यता और ढंग की है। उनकी अनन्यता है कि अन्य हैं लेकिन मैं नहीं मानता—

**गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहु॥**
**मोरें सबइ एक तुम स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥**

—रा० २/७२-४,६

"अन्य हैं, परन्तु मेरे तो तुम एक स्वामी हो।" हनुमान् की दृष्टि में राम के सिवा कुछ है ही नहीं। राम के रूप में राम को देखना, यह लक्ष्मण की दृष्टि है। एक रूपनिष्ठ है,दूसरा तत्त्वनिष्ठ, ये दो प्रकार की निष्ठायें अनन्यता से ही हैं। ये भक्ति के ही दो रूप हैं—एक साधना भक्ति दूसरी सिद्धा भक्ति। अन्य आश्रयों का पूर्ण रूप से त्याग करके केवल एक प्रभु का आश्रय लेना ही अनन्यता है। इसी अनन्यता से ही साधक अपनी साधना में आगे बढ़ता है। अगला सूत्र है—

**लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता॥**

—ना०भ०सू० ११

पहले कहा कि भक्ति निरोध रूप है कामना रूप नहीं इसलिए भक्त को लोक-वेद के व्यापार का न्यास कर देना चाहिए। कहा—यह तो सिद्ध ही कर सकता है। नारद जी कहते हैं कि साधक को पहले अन्य आश्रयों का त्याग कर देना चाहिए। वह केवल एक प्रभु का ही आश्रय ले। दूसरा, लोक में भी और वेद में भी जो भगवद् अनुकूल आचरण हैं, वही करे। कबीर दास जी ने कहा है—

**कथा कीरतन कलि विषय भव सागर की नाव।**
**कहो कबीर भव तरन को नाहिन और उपाव॥**

कथा और कीर्तन, ये दो ही ऐसे साधन हैं जिनसे संसार सागर से तरा जा सकता है। इसके सिवा और कोई उपाय ही नहीं है। एक दोहे में उन्होंने कहा है—

**कथा कीरतन करन की जाकी निसदिन रीति।**
**कह कबीर ता संत से अवस कीजिए प्रीति॥**

जो संत भगवान् के चरित्र का गान करता हो, सत्संग करता हो और भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करता हो, उस संत से अवश्य प्रेम करना चाहिए। यह है भगवद् अनुकूल आचरण। लोक में जो माता-पिता, भाई-बन्धु भगवान् की भक्ति में बाधक नहीं हैं, उनके साथ रहते हुए भी, उनके साथ व्यवहार करते हुए भी आगे चला जा सकता है। यदि यही भगवान् की भक्ति में बाधक हो जाएं तो उन्हें नमस्कार भी किया जा सकता है।

**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः।**

—ईश० २

जो भगवद् अनुकूल हैं, उनका पालन करना चाहिए। लोक तथा वेद में जो भगवद्

अनुकूल नहीं है, भगवद् विरोधी है, उससे उदासीन हो जाओ लेकिन उसकी निन्दा न करो। क्योंकि जो हमारे लिए ठीक नहीं है, हो सकता है वो तुम्हारे लिए ठीक हो। भगवान् बुद्ध से जब कोई यह कहता था कि वेद में यह लिखा हुआ है तो वे कहते थे, "लिखा होगा, हमारे लिए ठीक नहीं है।" वे लोगों को समझाते थे—किसी बात को इसलिए मत मानों कि इसको बहुत लोग कहते हैं, किसी बात को इसलिए मत मानो कि यह बहुत बड़े आदमी ने कही है और किसी बात को इसलिए मत मानो कि यह बहुत पुरानी है। बुद्ध की शिक्षा में ये तीन बातें हैं। वे कहते हैं—'आत्मदीपो भव।' तुम आत्मदीप बनो। ऐसे ही जीसस कहता है अपने शिष्यों से कि तुम दुनिया के लिए प्रकाश बनों। बहुत सी ऐसी बातें बुद्ध की हैं जो जीसस क्राईस्ट से मिलती जुलती हैं। जीसस क्राईस्ट पहले वैष्णव बना बाद में बुद्धिस्ट बना। अपने देश में जाकर उसने बुद्ध धर्म का आचार और वैष्णव धर्म का विचार प्रसारित किया। वैदिक धर्म के जातिवाद से उसको अरुचि हो गयी थी। मैंने बाईबल में उसका विश्लेषण पढ़ा है। जब वह जगन्नाथ पुरी से काशी में आया तो वहाँ अध्ययन करने लगा। अध्ययन काल में ही उसने वेदान्त के विद्वानों से प्रश्न किया—"वेदान्त में जब एक ही ब्रह्म सर्वरूपों में प्रकट है तो इसमें शूद्र और ब्राह्मण में भेद क्यों?" उसका ऐसा प्रश्न था जिसका उत्तर कोई विद्वान् नहीं दे सका। ब्राह्मणों ने उसे खत्म करने की सोची तो वह काशी छोड़ कर नेपाल चला गया और नेपाल से वह तिब्बत गया, वहाँ उसने बुद्धधर्म अपनाया। बुद्धधर्म में भगवान् नहीं थे, वैष्णव धर्म में दीक्षित होने के नाते भगवान् उसके दिमाग में बसे हुए थे। बुद्धधर्म में जातिवाद नहीं था, यह आदर्श उसने बुद्धधर्म से लिया और वैष्णव धर्म से उसने ईश्वर और ईश्वर के प्रति पिता-पुत्र का सम्बन्ध ले लिया। इसका प्रचार अपने देश में किया। तीन वर्ष दस महीने बारह दिन तक उसने प्रचार किया था, बाद में क्रूसी पर लटका दिया गया।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि जैसे उसने शिष्यों को बताया कि तुम दुनिया के लिए दीपक बनो, ऐसे ही भगवान् बुद्ध ने कहा कि तुम आत्मदीप बनो। जो बात तुम्हारी बुद्धि को ठीक लगती है, उसी को ग्रहण करो। महात्मा नारद कहते हैं—

**लोके वेदेषु तदनुकलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता॥**

—ना०भ०सू० ११

लोक और वेद में भी जो भगवान् की भक्ति के अनुकूल हों, उन्हीं आचरणों को अपनाओ और जो उसके विपरीत हों, उससे उदासीन हो जाओ, उसका विरोध

मत करो। यदि विरोध करोगे तो बीच में ही रह जाओगे।

मैं जब शुरू-शुरू में प्रचार पर निकला तो मेरे गुरुदेव ने मुझे एक ही उपदेश दिया कि तुम कभी किसी का खण्डन नहीं करना। यदि तुम खण्डन में लग गए तो तुम्हारी शक्ति, तुम्हारी योग्यता और तुम्हारे समय का ह्रास होगा और उससे कोई लाभ नहीं होगा। जिसने अपना जो सिद्धान्त अपना रखा है वह उसको पकड़े रक्खेगा। तुम यदि उसका खण्डन करोगे तो वह उसकी रक्षा के लिए तुम से लड़ेगा। उन्होंने एक कहानी सुनाई कि बिना मिटाए लकीर छोटी कैसे की जाए, यह कहानी बीरबल के नाम से प्रसिद्ध है।

एक बार एक व्यक्ति ने एक लकीर खींची और घोषणा कर दी कि बिना मिटाए यदि कोई इसको छोटी कर दे तो उसको इनाम मिलेगा। बीरबल जब वहाँ पहुँचा तो उसने कहा कि यह कौन सी बड़ी बात है। मैं अभी इसे बिना मिटाए छोटी कर देता हूँ। उसने उसी लकीर के ऊपर एक बड़ी लकीर खींच दी और कहा यह देखो वह अपने आप छोटी हो गई। मेरे गुरुदेव ने कहा कि इसी रूप से यदि तुम किसी की लकीर को मिटाने की कोशिश करोगे तो वह तुम से लड़ेगा और तुम्हारी बात नहीं मानेगा। तुम किसी की लकीर को मिटाओ मत, तुम उससे बड़ी लकीर खींचने की कोशिश करो। अपने आप लोग उस बड़ी को स्वीकार करेंगे और छोटी लकीर अपने आप छूट जाएगी, यह वही बात है।

**तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च॥**

जो कुछ भगवद् विरोधी है, उससे उदासीन हो जाओ, उससे झगड़ा मत करो। बारहवें सूत्र में कहा है—

**भवतु निश्चयदाढर्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम्।**

*—ना०भ०सू० १२*

यदि तुम्हें यह निश्चय हो जाए कि अब तुम भगवान् के अनन्य भक्ति के मार्ग पर चल चुके हो तब भी तुम्हें शास्त्र रक्षा के लिए शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिए, यह नहीं कि तुम भगवान् के प्रेम को पा लिए तो तुम्हें शास्त्रों से क्या लेना देना। शास्त्र विरुद्ध काम नहीं करना चाहिए। भगवद् गीता में भी कहा गया है कि—

**यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।**

*—गीता १८/५*

यज्ञ, दान और तप को कभी नहीं छोड़ना चाहिए, इसको सदैव करते रहना चाहिए क्योंकि ये मनीषियों के भी अन्तःकरण को पवित्र करने वाले हैं, यह भगवान् का

आदेश है। जो भगवान् का आदेश है वही देवर्षि नारद ने कहा है—

**भवतु निश्चयदाढर्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम्।**

पूर्ण दृढ़ता के साथ निश्चय हो जाने पर भी 'ऊर्ध्वं शास्त्ररक्षणम्' में शास्त्र की रक्षा के लिए तुम्हें कभी भी सतकर्म से विमुख नहीं होना चाहिए। कब तक लगे रहना चाहिए? जब तक तुम्हें शरीर का होश हो, जब तक शरीर की सुधि है अर्थात् खाने की सुधि है, पीने की सुधि है तथा संसार के और कृतकर्म की सुधि है, तब तक तुम्हें शास्त्र कर्म को त्यागना नहीं चाहिए। शास्त्र कर्म स्वार्थ की दृष्टि से नहीं, स्वर्ग की दृष्टि से नहीं बल्कि परमात्मा की उपासना की दृष्टि से करने चाहिए, यहाँ पर यह बात उन्होंने समझाई है, इसकी व्याख्या कल करेंगे।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## ६

मेरी प्रिय आत्माओ !

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना ! मै यहाँ पर देवर्षि नारद द्वारा विरचित भक्ति शास्त्र कई दिनों से पढ़ा रहा हूँ। मेरी राय है कि मेरे यहाँ रहते हुए ही यह पूर्ण हो जाए इसलिए संक्षेप में ही व्याख्या करने की कोशिश कर रहा हूँ।

देवर्षि नारद का कथन है कि भक्ति ही जीव के लिए कल्याणं का एक मात्र साधन है। इस विषय में भक्ति के परमाचार्य शाण्डिल्य और नारद जी जिन्होंने सूत्र ग्रन्थ की रचना की है, एक सिद्धान्त बताया है कि भक्ति के माध्यम से ही जीव ईश्वर के साथ एक हो पाता है। भक्ति वह रसायन तत्त्व है जो जीव को ईश्वर से युक्त करके ईश्वरत्व प्रदान कर देती है। शास्त्र में एक प्रश्न उठाया गया है कि क्या ज्ञान द्वारा ईश्वरत्व की प्राप्ति नहीं होती ? इस विषय में शाण्डिल्य ने कहा है कि नहीं, ज्ञान द्वारा तन्मयता की प्राप्ति नहीं होती, तद्भाव की प्राप्ति नहीं होती, उसका बोध तो होता है लेकिन उसमें स्थिति प्राप्त नहीं होती। व्यवहारिक जगत् में भी देखा जाता है कि जिसको हम जानते हैं, उससे हमारी आत्मीयता नहीं हो जाती, जिससे हम प्रेम करते हैं, उसी से हमारी आत्मीयता होती है। आत्मीयता माने एकता, अद्वैत एवं भेद रहित भाव की अनुभूति। हम जानते तो बहुतों को हैं लेकिन जिसको हम जानते हैं, उसके साथ हमारा भेद मिट जाता है, ऐसी बात नहीं है। हमें अपने मित्र का भी ज्ञान है, शत्रु का भी ज्ञान है लेकिन शत्रु के ज्ञान से उसमें आत्मीयता नहीं हो जाती। उन्होंने बताया कि सृष्टि में जितने पदार्थ हैं, ज्ञान तो सभी का हो सकता है लेकिन सब में स्थिति नहीं हो सकती। स्थिति केवल उसमें होती है जिसमें हमारा प्रेम होता है इसलिए प्रेम ही

स्थिति में हेतु है ज्ञान नहीं, ऐसा तर्क देकर उन्होंने कहा है—

**भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी॥**

—ना० भ० सू० ८१

''परमात्मा में स्थिति प्राप्त करने के लिए भक्ति ही श्रेष्ठ है।'' जब तक परमात्मा में स्थिति नहीं हो जाती तब तक मृत्यु के प्रवाह से जीव विमुक्त नहीं हो सकता।

हमारे शरीर के तीन भाग वेदों में बताए गए हैं। नाभि से नीचे अंगूठे तक का भाग मृत्युलोक है। हमारी सारी दुनिया इसी में चलती है इसी में बनती है और इसी में बिगड़ती है। आप ज़रा कल्पना कीजिए अपने जन्म, अपने जीवन, अपनी सन्तानों और अपने संसार के विषय में तो आपको सत्य प्रतीत होगा कि आप नाभि से ऊपर नहीं, नाभि से नीचे की ही सन्तान हैं और यहीं से आपका संसार बढ़ता है। जिस समय हमारी वृत्ति नाभि से ऊपर यानी मृत्युलोक से ऊपर होती है, अन्तरिक्ष में आती है और हम हृदय या कण्ठ में आते हैं, उस समय हमारा संसार नहीं बन पाता। हम संसार को सम्भाल भी नहीं पाते, धीरे-धीरे संसार से उपरति होने लगती है। यदि सौभाग्य से हम द्युलोक में पहुँच जायें तो हमारे लिए दुनिया ही नहीं रहेगी। जब तक हम द्युलोक से नीचे हैं अर्थात् नाभि से लेकर कण्ठ तक हैं तब तक हमारे में द्वैत की भावना रहती है। इसी क्षेत्र में हमारे लिए देव लोक होता है, स्वर्ग लोक होता है और दिव्य अनुभूतियाँ होती हैं, द्वैत तो यहाँ भी होता है लेकिन वह द्वैत दिव्य होता है, इसमें मृत्यु का भय नहीं होता। इसी अवस्था में स्वयं में पुत्र और परमात्मा में पिता की भावना का उदय होता है। मृत्यु का भय तो नाभि के नीचे है क्योंकि वहीं से संसार बनता है और वहीं से बिगड़ता है। आप लोग जानते होंगे, यदि नहीं जानते तो सुन लें—हमारी मृत्यु में कारण हमारी अपान वायु होती है। हमारे जीवन को धारण करने वाली भी अपान वायु है। हमें इस शरीर में रखने वाली भी अपान वायु है। अपान वायु जहाँ विकृत हुई वहीं हमारा शरीर नहीं बचता। जिस समय अपान वायु विकृत होती है उस अवस्था को आयुर्वेद में सन्निपात कहते हैं। आप जो भोजन करते हैं, उसको पेट में खींच कर हजम करने का काम अपान वायु ही करती है।,

उपनिषदों में इसकी बड़ी लम्बी-चौड़ी व्याख्या है। कहा है कि जब विराट् पुरुष प्रकट हुआ तो उसके अंगों से देवता लोग उत्पन्न हुए। उसके मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य आदि-आदि ३३ देवता उत्पन्न हुए। जब वे सब उत्पन्न हुए तो कहने लगे कि हमारे रहने के लिए स्थान चाहिए। उस विराट् पुरुष ने पहले घोड़ा बनाया और कहा कि इसमें रह जाओ। देवताओं ने कहा कि यह हमारे लिए

उपयोगी नहीं है। फिर गाय बना कर कहा कि इसमें रह जाओ परन्तु यह बात उन्हें पसन्द नहीं आई। और भी अनेकों प्रकार के पशु-पक्षी बनाए परन्तु देवताओं ने यही कहा कि हमारे लिए उपयोगी नहीं है। यह लाक्षणिक कथा है। कहने का अभिप्राय कि समस्त सृष्टि के अन्य प्राणियों को बनाने के पश्चात् परमात्मा ने सुन्दर कृति, मनुष्य की रचना की और देवताओं को दिखाया। देवता विराट् पुरुष के जिस अंग से प्रकट हुए थे, वैसे ही स्वरूप को प्राप्त करके नृत्य करने लगे और आनन्द में मग्न हो गए। जिस अंग से जिस देवता का आविर्भाव हुआ था, वह देवता मनुष्य के उसी अंग में प्रवेश कर गया। जैसे नेत्र से सूर्य की उत्पत्ति हुई थी, सूर्य की शक्ति मनुष्य के नेत्र में प्रवेश कर गई। चन्द्रमा की शक्ति मनुष्य के मन में प्रवेश कर गई। अब देवता लोग शरीर में रहने लगे लेकिन शरीर तो उठा नहीं, वह तो मृत पड़ा हुआ था। परमात्मा ने देखा कि मेरी शक्ति के बिना यह शरीर तो उठ नहीं सकता, परमात्मा ने स्वयं विवृति मार्ग अर्थात् ब्रह्मचक्र से, जिसे तालू भी कहते हैं, अपनी शक्ति का प्रवेश किया तो मनुष्य उठ कर खड़ा हो गया। पहले उसे भोजन की समस्या आई। उसने भोजन उठाया, आँख से उसे देखा लेकिन तृप्ति नहीं हुई। वह भोजन को नाक के पास ले आया तो भी उसकी तृप्ति नहीं हुई। यदि वह इन अंगों से भोजन ग्रहण कर सकता तो केवल देखने से, केवल सूंघने से उसकी तृप्ति हो जाती लेकिन ऐसा नहीं हुआ। जब कोई देवता उस भोजन को ग्रहण करने में सक्षम नहीं हुआ तो नाभि से नीचे जो अपान वायु रहती है, उसे यह काम सौंपा गया। अपान वायु ने उसको अपनी तरफ खींच लिया। आज भी यदि अपान वायु विकृत हो जाए तो जो कुछ भी पेट में डालोगे वह तुरन्त बाहर आ जाएगा, अन्दर नहीं रह सकता। अपान वायु तथा प्राण वायु के संयोग से नाभि और हृदय के मध्य जो समान वायु है, उसने इस भोजन को हजम करने का कार्य किया। अपान वायु ने इसके तीन रूप बनाए—मल, मूत्र और रस। रस पुनः लौट कर हृदय में आया जिससे कि रक्त बन गया रेड कार्पसल्ज मिलने पर। मल, मूत्र अपान वायु के प्रवाह से नीचे चला गया। यदि अपान वायु काम करना बन्द कर दे तो मल-मूत्र का विसर्जन होना बन्द हो जाएगा और तुरन्त मृत्यु हो जाएगी। हमारे जीवन को धारण करने में अपान वायु ही काम करती है।

यह मृत्यु लोक का प्रवाह जितना चलता है; सब अपान वायु के क्रिया कलाप से चलता है जोकि नाभि से नीचे है। विद्वान् योगी आपको बताता है कि मृत्यु लोक की उपयोगिता है। यदि मृत्यु लोक की उपयोगिता न होती तो आपको यहाँ जन्म लेने की जरूरत ही न होती। इसकी उपयोगिता तो है लेकिन इसमें रमण

करने के लिए नहीं बल्कि साधन करने के लिए। आप यदि इसे साधन मात्र समझते हैं फिर तो आपका कल्याण है, यदि इसे साध्य मान, इसे भोग की साम्रगी समझ कर इसमें अनुरक्त हो जाते हैं तो आप गिर जाते हैं, ऊपर नहीं उठ सकते, मृत्यु लोक के पात्र बनते हैं, मृत्यु और जन्म के चक्र में चलते रहते हैं, यह उस उपनिषद् में बड़े विस्तार से समझाया गया है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि हमारे जीवन के ये तीन क्रम हैं। भगवान् ने गीता के चौथे अध्याय में बताया है—'अपाने जुह्वति प्राणम्,' पहले तुम अपने प्राण को अपान में ले जाकर हवन करो और 'प्राणेऽपानं तथापरे,' फिर अपान वायु को बाहर की तरफ निकालते हुए प्राण में हवन करो।

**प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा: ॥**

*—गीता ४/२९*

प्राण और अपान जब दोनों की गति रुक जाए, अपने आप सम हो जाए तो तुम प्राणायाम में परायण हो जाओगे। प्राणायाम परम तप है, यह तुम्हारे जीवन को शोध कर दिव्य बना देगा। इस प्रक्रिया में यह बात समझाई गई है कि जब तक तुम इस संसार में हो, मृत लोक का पूरी तरह त्याग नहीं कर सकते इसलिए—

**भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम्॥**

*—ना०भ०सू० १२*

तुम यह निश्यच कर लो कि भगवद् भक्ति के सिवा, भगवद् समर्पण के सिवा हमारे कल्याण का कोई दूसरा उपाय नहीं है, अन्य कोई ऐसा अवलम्बन नहीं है जिसको ग्रहण करके हम इस संसार-सागर से पार हो सकें। यह निश्चय हो जाने पर भी शास्त्र रक्षण की दृष्टि से शास्त्रानुसार जो विधि-निषेधात्मक कर्म बताए गए हैं, उनका भी तुम्हें पालन करना चाहिए। सब कुछ छोड़ कर भगवान् के भरोसे बैठ जाओ, ऐसा भी सम्भव नहीं है क्योंकि सभी मलूकदास तो बन नहीं सकते।

भारत में एक संत हुए हैं मलूकदास। उन्होंने सत्संग में एक कथा सुन ली कि भगवान् सब को देता है। जब कथा समाप्त हुई तो उन्होंने जो स्वामी जी कथा कह रहे थे, उनसे पूछा—स्वामी जी! यदि हम नहीं लेंगे तब भी भगवान् देगा? उन्होंने कहा—हाँ, भगवान् तो सभी को देता है, तुम्हें भी देगा यदि जरूरत होगी तो। मलूकदास जी ने कहा कि यदि जरूरत होने पर भी मैं न लूँ तो? स्वामी जी ने कहा—वह देगा, जबरी देगा, डंडे मार कर देगा। उसने निश्चय कर लिया कि देखते हैं कि कैसे देता है वह? उसने घर छोड़ दिया, घोर जंगल में बिना खाए बैठ

गया जहाँ कोई आने जाने वाला नहीं था, केवल यह देखने के लिए कि यहाँ भगवान् कैसे जबरी देता है। एक दिन बीत गया, दूसरा दिन भी बीत गया, तीसरा दिन भी बीत गया तो सोचने लगा कि स्वामी जी ने तो झूठ कह दिया है। तीन दिन बीत गए हैं भगवान् ने कुछ दिया नहीं, इतना सोचना ही था कि कहीं से आदमी के आने की आहट सुनाई दी। वे बरगद के पेड़ पर बहुत ऊँचे चढ़ कर बैठ गए। उसने क्या देखा-एक व्यक्ति आया, उसकी झोली में लड्डू थे, उसने लड्डू निकाले और खाने लगा। इतने में पुनः आहट हुई, वह लड्डू छोड़ कर भाग गया। मलूकदास ने पेड़ पर बैठे हुए देखा कि कुछ लोग घोड़े पर सवार होकर आए और पेड़ की छाया के नीचे खड़े हो गए। उनके सरदार ने पूछा कि यह क्या पड़ा हुआ है? किसी ने कहा—साहिब! ये लड्डू पड़े हुए हैं। ये लड्डू इस जंगल में कहाँ से आ गए? कहीं कोई ऐसा व्यक्ति तो नहीं जिसको हम लोगों का पता हो कि हम यहाँ विश्राम करते हैं और उस ने यहाँ लड्डू लाकर रख दिए हों कि हम भूखें होंगे, आऐंगे लड्डू देखेंगे, खायेंगे और मर जायेंगे और हम लोगों के पास जो कुछ होगा वह ले लेगा। जो घोड़े पर सवार होकर आया था वह डाकू था। उसने निश्चय किया कि इस लड्डू को रखने वाला जरूर यहीं कहीं होगा। उसने अपने साथियों को आज्ञा दी कि तुम लोग उस लड्डू रखने वाले को ढूँढो। इतनी जल्दी वह कहीं जा नहीं सकता, यहीं कहीं होगा, ज़रा वृक्ष पर तो देखो। जब ऊपर देखा तो वृक्ष पर मलूकदास बैठा दिखाई दिया। एक ने आवाज़ दी, "वह बैठा हुआ है।" सरदार ने कहा, उसको नीचे उतारो। जब वे उसको नीचे बुलावें तो वह और ऊपर चढ़ता जाए। सरदार ने कहा कि ऊपर जाकर इसे पकड़ कर लाओ। वे वृक्ष पर चढ़ गए और कहने लगे—सरदार! इसे नीचे फेंक दें? डाकू ने कहा—नहीं, जिस लड्डू को खिलाकर यह हमें मारना चाहता था, उस लड्डू को खिलाकर ही इसे मारना है। वे उसे पकड़ कर नीचे ले आए और लड्डू खाने को उसे कहा। उन्होंने अपना मुंह बन्द कर लिया तो सरदार ने कहा कि यह ऐसे नहीं मानेगा, इसके हाथ-पाँव पकड़ लो। एक व्यक्ति इसका मुंह खोलो और दूसरा उठाकर लड्डू इसमें डाल दो। जब इस प्रकार जबरदस्ती करके लड्डू उनके मुँह में डाल दिया गया तो वह चिल्ला पड़ा, अब समझ गए, अब जान गए, अब मान गए। वे डाकू सोचने लगे कि क्या बात हो गई और पूछा—क्या मान गया तू? उन्होंने कहा—

**अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।**
**दास मलूका कह गया सबका दाता राम॥**

कहा—राम डण्डे मारकर खिलाता है। मेरे गुरु ने कहा था। मैंने आज देख लिया है कि वह मुझे डण्डे मार कर खिला रहा है। वह मलूकदास संत बन गए फिर लौट कर संसार में नहीं आए। मेरा कहने का अभिप्राय कि सब मलूकदास तो बन नहीं सकते कि अब तो राम देगा तब हम खायेंगे, चाह अपनी बनी रहती है। नारद जी कहते हैं कि यदि यह निश्चय हो जाये कि भगवान् की भक्ति के सिवा हमारा उद्धार करने वाला दूसरा कोई साधन नहीं है तब भी शास्त्र की मर्यादा की रक्षा के लिए शास्त्रानुसार काम करते रहना चाहिए।

कबीर जी एक महान् संत थे। वे पैदा हुए जुलाहे के यहाँ, पले जुलाहे के यहाँ और जुलाहे के यहाँ पलने के कारण उन्होंने जुलाहे का काम सीखा और आजीवन कपड़ा बुनना नहीं छोड़ा। इसी रूप से संत रविदास चर्मकार के यहाँ पैदा हुए लेकिन उन्होंने जूता बनाना नहीं छोड़ा। जब तक उनका हाथ-पाँव चलता रहा जूता बनाते रहे। वे अपने काल के महान् संत थे। चित्तौढ़गढ़ के महाराणा साँगा की स्त्री झालाबाई और उनकी पुत्रवधू मीरा बाई, दोनों ही उनकी शिष्याएँ थीं। जाति के चर्मकार थे लेकिन राजपरिवार तक उनकी पहुँच थी। अपना काम करते रहते थे और गाते रहते थे—'प्रभु जी! तुम चन्दन हम पानी।'

मेरा कहने का अभिप्राय कि जो भी भगवान् के अनन्य चरणानुरागी भक्त हुए हैं, भक्ति के आवेश में आकर उन्होंने अपना कर्तव्य नहीं छोड़ा। हमें धर्म व्याध की कथा महाभारत में पढ़ने को मिलती है। धर्म व्याध कसाई के यहाँ पैदा हुआ था। माँस बेचने का काम उसके बाप-दादा करते थे, वह भी करता था। एक जाजली नाम का ब्राह्मण था। उसने जंगल में जाकर तपस्या की। तपस्या करके वह उच्च स्थिति मे पहुँच गया कि एक दिन किसी पक्षी ने उसके कन्धे पर बीठ कर दिया, उसने गुस्से में ज्यों ही उस पक्षी की तरफ देखा तो वह पक्षी जलकर नीचे गिर गया। उसने सोचा कि अब मेरी तपस्या पूर्ण हो गई है क्योंकि मेरे देखने मात्र से पक्षी जल गया है। इसका अभिप्राय मेरे में तेज आ गया है। अब वह अहं से जंगल से उठा और पहुँच गया एक गाँव में भिक्षा लेने के लिए। वहाँ पहुँच कर उसने—'भवति! भिक्षां देही', कहकर आवाज़ लगाई। घर की गृहणी ने कहा—पण्डित जी! ज़रा प्रतीक्षा कीजिए, अभी मैं आ रही हूँ। बस इतना सुनना था कि उसे गुस्सा आ गया। उसने कहा, "जानती नहीं मैं कौन हूँ? इतनी देर से भिक्षा के लिए पुकार रहा हूँ।" उस देवी ने बड़े मधुर शब्दों में कहा कि पण्डित जी! मैं वह पक्षी नहीं हूँ कि आप देख लोगे और मैं जल जाऊँगी, इसलिए आप शान्ति से खड़े रहिए, मैं अभी आ रही हूँ। उसको बड़ी हैरानी हुई कि मेरी उस पक्षी को

जलाने वाली घटना इसको कैसे मालूम है! यह तो यहाँ घर पर रहती है, मैंने तो पक्षी जलाया था जंगल में। इसका अभिप्राय, यह तो कोई पहुँची हुई संत है। वह वहाँ पर खड़ा रहा, थोड़ी देर बाद वह भिक्षा लेकर आई। उसने कहा—'देवी! हमें भिक्षा नहीं चाहिए, हमें यह बताओ कि तुम्हें कैसे मालूम हो गया कि मैंने पक्षी जलाया है?' उस औरत ने कहा कि इतनी बात करने के लिए मेरे पास फुर्सत नहीं है यदि तुम्हें वह जानना हो आगे नगर में एक वैश्य है, वह तुम्हें सारा बता देगा।

पण्डित जी ने भिक्षा नहीं ली और वहाँ से उस नगर की तरफ चल दिए। वे वैश्य के पास पहुँचे, वह सौदा तौल रहा था। दुकान पर पण्डित जी ने कहा—मैं आपसे कुछ बातें करने आया हूँ। वैश्य ने नमस्कार किया और कहा, "बैठ जाइए।" थोड़ी देर बाद फिर पण्डित जी ने कहा, "मुझे आपसे बात करनी है।" उसने कहा कि बात यह है, आपको उस देवी ने मेरे पास भेजा है न? अभी तो शाम तक काम करूँगा, यदि आप तब तक प्रतीक्षा कर सकें तो अच्छा है। यदि आपको जल्दी हो तो इसी नगर में आगे चले जाइए, आपको एक मांस बेचने वाला व्याध मिलेगा, वह आपको समझा देगा। पण्डित जी वहाँ से आगे बढ़े। वे सोचते जा रहे थे कि अभी तो हम उस स्त्री को देख कर हैरान थे अब इसको भी पता चल गया कि उस स्त्री ने हमें भेजा है और यह कह रहा है कि व्याध के यहाँ जाओ, खैर उसे जल्दी थी इसलिए वह व्याध के पास पहुँच गया। व्याध ने जब पण्डित जी को देखा तो प्रणाम किया और कहा, "आइए, पण्डित जी! विराजिए।" एक तरफ तो वह मांस तौल रहा था दूसरी तरफ उन्हें बैठने को कह दिया। पण्डित जी ने सोचा कि मैं यहाँ कैसे बैठ सकता हूँ। व्याध ने कहा—पण्डित जी! इतनी जल्दी तो मैं आपसे बात नहीं कर सकता क्योंकि मुझे अपना काम करना है। यदि आप कुछ रुकें तो काम से निवृत्त होकर मैं आपको कुछ समझा दूँगा कि आपने पक्षी को कैसे मारा, आपको उसी स्त्री ने कैसे बताया, आपको उस वैश्य ने कैसे बताया और मेरे पास आप कैसे आए। उसने देखा कि यह तो उनसे भी आगे है और काम करता है मांस बेचने का।

पण्डित जी वहीं बैठ गए। दिन भर उसने मांस बेचा, सायंकाल उसने अपनी दुकान बन्द की, पण्डित को साथ लिया और कहा कि चलिए, आप मेरे घर चलिए, मेरे घर को पवित्र कीजिए। पण्डित जी ने कहा, "तुम लोग तो स्वयं पवित्र हो, तुम मुझे बताओ कि तुम यह सब जाने कैसे?" व्याध ने कहा कि कैसे जाना, यह तो बाद में बताऊँगा लेकिन आपको यह लग रहा है कि मैं इतना जानता

हुआ भी मांस क्यों बेच रहा हूँ, पहले यह बताऊँगा। पण्डित जी ने कहा—"यह तो बहुत बड़ा संदेह है मेरे को।" व्याध ने कहा, "मैं मांस खाता नहीं हूँ। मेरा बाप भी मांस बेचता था और मेरा दादा भी, यह तो मेरा पुषतैनी धन्धा है। जब तक दुनिया में मांस खाने वाले हैं तब तक मांस बेचने वाले भी चाहिए। यह धन्धा हमारे पूर्वजों ने किया था, किसी कारणवश हम इस वंश में पैदा हो गए हैं, इसलिए इस धन्धे को करने में हमें कोई एतराज नहीं है। यह हमारा वंशगत धर्म है इसलिए मैं इसका पालन करता हूँ । मैं जानता हूँ कि मांस खाना पाप है इसलिए मैं मांस नहीं खाता। यह धन्धा करने के बाद मैं क्या करता हूँ, आप आइए मेरे साथ, मैं आपको दिखाता हूँ।" वह उसे अपने घर ले गया, उसके वृद्ध माता-पिता बैठे हुए थे। उनकी ओर संकेत करते हुए उसने कहा, "ये मेरे भगवान् हैं, मेरे देवता हैं, इनकी मैं पूजा करता हूँ।" ब्राह्मण ने भी उन्हें प्रणाम किया। यहाँ पर जाजली ब्राह्मण और व्याध का जो सम्वाद है, वह 'व्याध गीता' के नाम से प्रसिद्ध है। इसको ज्ञान का कोष कहते हैं। इतना सुन्दर उसने उपदेश दिया है—वह कहता है कि धर्म तपस्या में नहीं है, तपस्या में तो तुम्हें चमत्कार की शक्ति मिलेगी और धर्म यज्ञ में नहीं है, यज्ञ से तुम्हें स्वर्ग मिलेगा। पण्डित जी ने पूछा, "धर्म फिर कहाँ और किसमें है?" व्याध ने कहा, "धर्म है प्राणी मात्र के प्रति प्यार करने में, प्राणी मात्र की सेवा करने में। जो परोपकारी है, जो दूसरों की सेवा में रातों-दिन लगा रहता है, वही सही धर्मात्मा है, वही धर्म का रहस्य जानता है। जो अपने कर्तव्य का पालन करता है, वही धर्मात्मा है।" बाद में उसने बताया कि यह सिद्धि मुझे कैसे मिली और तुम इस सिद्धि को कैसे प्राप्त कर सकते हो।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि हमारे इतिहास में बहुत से ऐसे महापुरुष हुए हैं जो निम्न जाति में पैदा होते हुए भी उच्चावस्था को प्राप्त हुए हैं। उन्होंने अपने कर्म को नहीं छोड़ा। मनुष्य जाति से नहीं, कर्म से महान् होता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए नारद जी ने कहा है—

**भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥**

यह निश्चय हो जाए कि परमात्मा के सिवा और कोई हमारा अपना नहीं है, और कोई दुनिया में रास्ता नहीं है फिर भी शास्त्र रक्षा के लए जो कर्म हमें मिला है, जो कर्तव्य हमारे साथ जुड़ा हुआ है, उसका निश्चयपूर्वक ईमानदारी से पालन करें। ईमानदारी से अपने कर्तव्य का पालन करने वाला एक व्यापारी वैश्य भी संत हो सकता है। एक व्याध मांस बेचने वाला भी संत हो सकता है। व्याध की कथा तो महाभारत काल की है। सदना कसाई तो अभी हुआ है, कबीर जुलाहा तो अभी

हुआ है और रविदास चर्मकार भी तो अभी हुए हैं। अभी की बात है कि हरिद्वार से आगे ऋषिकेष से कुछ दूरी पर नीलकण्ठ एक स्थान है। नीलकण्ठ महादेव में एक कालूराम भक्त रहता है। वह जाति का भंगी है और उसका काम है झाड़ू लगाना। उसके हाथ में एक झाड़ू तथा एक टोकरी रहती है। जिस रास्ते से यात्री वहाँ जाते हैं उसी रास्ते की सफाई करता हुआ आपको कहीं मिलेगा। जिस यात्री को कालूराम के दर्शन हो जाएं वह सोचता है कि हमारी नीलकण्ठ की यात्रा सफल हो गई और जिसको उसका दर्शन नहीं होता वह सोचता है कि मैं महान् पापी हूँ। मुझ पर शंकर जी ने दया नहीं की इसलिए दर्शन नहीं हुए। वह सिद्ध माना जाता है यद्यपि जाति का भंगी है। बहुत से ब्राह्मण-क्षत्री हैं जो उसे अपना गुरु मानते हैं।

मैं आपको बता रहा था कि साधना, ईश्वर प्राप्ति या ईश्वरानुरक्ति किसी काम से बंधे हुए नहीं हैं। राजस्थान में एक संत हुए हैं दादू दयाल। वे सही में जाति के धुनिया नहीं थे। उच्च वर्ण में उनका जन्म हुआ था लेकिन उन्होंने केवल अपने उच्च वर्ण के अहंकार को दूर करने के लिए धुनिया का काम शुरू किया था। वे रुई धुनते और तुन-तुन में 'ॐ' की ध्वनि लगाकर उसका ध्यान करते। मैं आप लोगों को यह बता रहा था कि ऊँचे काम करने से या ऊँचे कुल में पैदा होने से कोई संत नहीं हो जाता। जो अपने कर्तव्य का पालन करते हुए परमात्मा में अनन्य अनुरक्ति रखता है, वही संत होता है, वही महापुरुष होता है, इसलिए नारद जी कहते हैं कि शास्त्र रक्षण के लिए शास्त्रानुसार जो कर्तव्य मिला है, उसका पालन करना चाहिए। यदि कोई शास्त्र की आज्ञा का पालन नहीं करता तो? उन्होंने कहा—

**अन्यथा पतित्याशङ्कया।**

—*ना०भ०सू० १३*

'उसके पतन होने का भय है।' किसी भी स्तर पर जाकर तुम गिर सकते हो। इसीलिए गीता के १६वें अध्याय में भगवान् ने बताया—

**तस्माच्छास्त्र प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।**
**ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥**

—*गीता १६/२४*

तुम्हें शास्त्र के अनुसार ही अपने कार्य वा अकार्य का निर्णय करना चाहिए। शास्त्र को समझ कर यदि तुम अपने कर्तव्य का पालन करते हो तो तुम्हें पतन की आशंका नहीं है, तुम गिर नहीं सकते क्योंकि अपने कर्म को करने में तुम्हें

अहंकार नहीं होगा। यही बात भगवान् ने गीता के १८वें अध्याय में अर्जुन से कही है कि कोई काम ऐसा नहीं है जो पूर्ण पवित्र हो। क्षत्रीय का काम युद्ध करना है लेकिन युद्ध में हिंसा है, ब्राह्मण का काम यज्ञ करना है लेकिन यज्ञ में भी हिंसा है। तप करना कौन सा हिंसा रहित है? सभी कर्मों में किञ्चित मात्र दोष तो होगा ही। भगवान् ने कहा है—

**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।** *—गीता १८/४८*

जैसे कोई भी ऐसी अग्नि नहीं जलाई जा सकती जो धूंए से रहित हो इसी प्रकार से कोई भी ऐसा कर्म नहीं किया जा सकता जो दोष रहित हो। हम बिजली जलाते हैं और सोचते हैं कि यह धुआँ नहीं हो रहा लेकिन वहाँ भी धुआँ हो रहा है, वह इतना सूक्ष्म है कि हम देख नहीं पा रहे हैं। जहाँ भी कहीं अग्नि जलेगी, जहाँ भी कहीं प्रकाश होगा वहाँ धुआँ अवश्य होगा। धुआँ है क्या? धुआँ और कुछ नहीं है, जो कुछ ठोस पदार्थ हैं, उसमें जो जलीय परमाणु हैं, वे अग्नि के ताप से भाप बन कर उड़ने लगते हैं, वही धुआँ बन जाता है। जहाँ कहीं अग्नि जलेगी वहीं जलिए परमाणु भाप रूप में परिणत हो कर उड़ेंगे, यह स्वाभाविक है। इस प्रकार जैसे अग्नि कभी धुआँ से रहित नहीं हो सकती उसी प्रकार कर्म भी कभी दोष रहित नहीं हो सकता, इसलिए दोष समझ कर के तुम कर्म का त्याग नहीं करो। कर्म को कर्तव्य समझ कर करो, कोई दोष नहीं लगने वाला, दोष तो तब होगा जब दूसरे का कर्तव्य तुम करना चाहोगे। भगवान् ने अर्जुन को समझाया—तुम क्षत्रीय हो, युद्ध करना तुम्हारा काम है, तुम इसे करो, यदि तुम युद्ध छोड़ करके संन्यासी बनते हो, भीख मांग कर रोटी खाते हो तो तुम ब्राह्मण का काम अपना रहे हो, वह दोष है तुम्हारे लिए।

**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥**

*—गीता ३/३५*

इसलिए शास्त्रकारों ने सर्वत्र यह बात समझाई है कि शास्त्र की आज्ञानुसार यदि तुम अपना कर्तव्य-पालन नहीं करते तो तुम्हारे पतन की सम्भावना है। अपने कर्तव्य को छोड़ने पर तुम में अहंकार होगा, साधक के लिए अहंकार से बड़ा कोई शत्रु नहीं है। अपने स्तर पर रहने में, अपने कर्तव्य के पालन में अहंकार नहीं होता। ब्राह्मण अपने कर्तव्य का पालन सही माने में करता है तो उसमें ब्राह्मणत्व का अहंकार नहीं होगा। यदि सही माने में नहीं करता केवल जाति अभिमान में कर्त्तव्य पालन करता है तो उसमें अहंकार होगा, जो उसके सर्वनाश में कारण होगा।

एक बात याद रखो जहाँ योग्यता के अनुसार अधिकार मिलता है वहाँ अहंकार नहीं होता और जहाँ योग्यता के अभाव में अधिकार मिलता है, वहाँ अधिकार का अहंकार होता है। अहंकार की दो प्रकार की प्रक्रियाएँ होती हैं— अपने से ऊपर वाले के प्रति चापलूसी, अपने से नीचे वाले के लिए द्वेष। यदि आपको योग्यता के अभाव में अधिकार मिला है तो आप कर्तव्य का पालन नहीं कर पायेंगे क्योंकि आपमें कर्तव्य पालन की योग्यता ही नहीं है। अपने अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए आप अपने से नीचे वालों को दबाने की कोशिश करेंगे और अपने से ऊपर वाले की आप खुशामद करेंगे। नीचे वाले यदि ईंट खिसका दें तब भी आप गिरे और ऊपर वाले धकेल दें, तब भी आप गिरे, यह रोग आपके जीवन को नरक बना देगा, कभी शान्ति नहीं मिलेगी आपको। शास्त्रकारों ने बताया कि अपनी योग्यता के अनुसार ही तुम्हें अधिकार की चाह रखनी चाहिए। यह भी बताया गया है कि अपनी योग्यता के अनुसार तुम्हें अधिकार मिलेगा ही, तुम चिंता मत करो उसके लिए। एक व्यक्ति ने सुना कि यदि पानी को $100^0$ तक तापमान दिया जाए तो वह भाप बन कर उड़ जाता है, हाईड्रोजन और आक्सीजन अलग-अलग हो जाते हैं। उसने आग जलाना शुरु किया। यदि वह $100^0$ तक तापमान न दे पाए $99^0$ तक ही रहे तो भी पानी धीरे-धीरे सूख तो जाएगा, $100^0$ पर पहुँचने पर पानी नहीं मिलेगा केवल आक्सीजन और हाईड्रोजन ही मिलेगा। यह सिद्धान्त प्रकृति का है। इस सिद्धान्त के अनुसार तुम अपने आपको मापते रहो, जब उस स्तर की तुम में योग्यता आयेगी, अपने आप तुम्हें वह अधिकार मिलेगा। इसके लिए तुम्हें किसी को कहना नहीं होगा कि तुम यह मानो कि हम बड़े आदमी हैं, हम बड़े विद्वान् हैं या हम बड़े महान् हैं। अपने आप लोग मानेंगे, यह शास्त्र का निर्देश है। अन्यथा पतित्याशङ्क्या, यदि शास्त्रानुसार आचरण नहीं करते तो तुम्हारे पतन होने का भय है। सम्भावना है कि तुम गिर जाओगे। आज नहीं गिरोगे तो कल गिर जाओगे।

मध्य-प्रदेश में एक महात्मा थे। पहले वह सप्ताह में एक बार गुफा से बाहर आते थे, फिर महीने में एक बार बाहर आने लगे, फिर छः महीने में एक बार बाहर निकलने लगे। जिस दिन उन्हें गुफा से बाहर निकलना होता था उस दिन हज़ारों आदमी बाहर दर्शन करने के लिए खड़े रहते थे। दर्शन देकर वे गुफा में चले जाया करते थे। बड़ी कीर्ति थी उनकी। लोग उन्हें गुफा वाले महात्मा कहा करते थे। अक्सर यह चर्चा थी कि वे छः महीने कुछ नहीं खाते, एक दिन जब बाहर आते हैं तो कुछ खाते हैं। एक महात्मा थे अच्छे विद्वान्, उन्होंने कहा कि

नहीं ऐसा नहीं हो सकता। यह बात तो चमत्कार की है लेकिन सही नहीं है। सभी ने कहा—फिर वे रहते कैसे हैं? जीते कैसे हैं? महात्मा जी ने कहा कि उनके जीने का साधन अलग है। वे छः महीने तक अपना अहं खाते हैं। लोगों ने कहा, अहं खाकर व्यक्ति कैसे रह सकता है? उन्होंने कहा कि मैं आपको बताऊँगा। जिस दिन उनके निकलने का समय था, उन्होंने एक व्यक्ति से चारों तरफ कहला दिया कि महात्मा जी ने संकेत किया है कि अब की वे गुफा से बाहर नहीं निकलेंगे। जब लोगों में काफी प्रचार हो गया कि महात्मा जी बाहर नहीं निकलेंगे तो जनता वहाँ नहीं आई। अपने समय पर वे ज्यों ही गुफा से बाहर निकले, देखा कोई नहीं था, उन्हें बड़ा धक्का लगा और वहीं राम नाम सत् हो गया। जिस जनता की उपस्थिति से उन्हें उत्साह मिलता था और जो वाह-वाह की खुराक मिलती थी, वह नहीं मिली जिससे शरीरान्त हो गया। कई ऐसी घटनाएँ होती हैं जिसमें हम देखते हैं कि मनुष्य के शरीर को अहं किस प्रकार से पालता है। यह अहं मनुष्य के विकास का हेतु नहीं होता बल्कि पतन का हेतु हो जाता है इसलिए शास्त्र के विपरीत जो भी आचरण किया जाता है, उसके लिए शास्त्र यही कहता है कि यदि तुम अपने आपको नहीं सम्भालोगे तो तुम्हारा पतन होगा। आगे देवर्षि नारद जी ने कहा है—

**लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीरधारणावधि॥**

*—ना० भ० सू० १४*

दो प्रकार के व्यापार होते हैं, एक शरीर से सम्बन्धित है दूसरा व्यापार हमारी इन्द्रियों से सम्बन्धित है। इन्द्रियों का व्यापार अपने से ही सम्बन्धित नहीं है, वह समाज से सम्बन्धित है। उसके लिए दूसरा भी चाहिए, रूप है तब आपकी आँख देखेगी, रूप नहीं है तो आपकी आँख क्या देखेगी? कोई बोलने वाला है तो आपका कान सुनेगा, कोई बोलने वाला ही नहीं है तो आपका कान क्या सुनेगा? कोई वस्तु होगी तो आप उसका स्पर्श करके सुखी होंगे, यदि कोई वस्तु ही नहीं तो आप स्पर्श किसका करेंगे? यानी जहाँ तक हमारी इन्द्रियों के व्यापार का सम्बन्ध है, वह दूसरों से सम्बन्धित है। एक व्यापार हमारे शरीर से सम्बन्धित है, जब हम शरीर के लिए काम करते हैं जैसे खाना-पीना, सोना-जागना, उठना-बैठना, मल-मूत्र का त्याग करना, स्नान करना आदि, इसे शारीरिक व्यापार कहते हैं। दूसरा लोक व्यापार है। लोक व्यापार माने किसी से मिलना-जुलना, पढ़ना-पढ़ाना, काम करना अथवा किसी की सहायता करना आदि। ये लोक व्यापार और शारीरिक व्यापार दो प्रकार के व्यापार हैं। कहते हैं कि जब भक्ति का पूर्ण रूप से

जीवन में प्राबल्य हो जाता है, प्रेम का प्राबल्य हो जाता है और भगवान् के प्रति पूर्णानुरक्ति होती है तो उस समय अपने लोक व्यापार से हम धीरे-धीरे उपरत होने लगते हैं। लोक व्यापार में हमारी रुचि नहीं होती लेकिन शरीर की रक्षा के लिए खाना-पीना, सोना-जागना, यह तो चलता रहता है। यहाँ पर यही बता रहे हैं कि जब तक शरीर रहेगा तब तक शरीर से सम्बन्धित व्यापार होते रहेंगे।

भटिंडा में सीबिया एक गाँव है। उन दिनों मैं भटिंडा में रहा करता था। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के शिष्य सत्यानन्द थे। उनके शिष्य थे स्वामी गिरीशानन्द, वे बड़े अच्छे वृद्ध सन्त थे। पहले वे हिसार में रहते थे बाद में गंगानगर में रहे। अभी उन्होंने ११० वर्ष से भी अधिक आयु में गंगानगर में शरीर छोड़ा है। मैं उन दिनों उनके साथ रहता था। उन्होंने कहा—बावरे! यहाँ एक तुरीय अवस्था को प्राप्त हुए परमहंस संत रहते हैं। ज्ञान की यह सातवीं भूमिका होती है। यह सबसे उच्च भूमिका है। उन्होंने कहा कि चलो हम उनके दर्शन करने चलें। भटिंडा से १०-१२ कि०मीटर की दूरी पर सीबिया गाँव है। हम लोग उस गाँव में पहुँचे और उन संत का दर्शन किया। उन्हें ९० वर्ष हो गये थे वहाँ सरकण्डे की झोपड़ी में रहते हुए। उनका शरीर भी वहीं का था, उसी गाँव का। उस झोपड़ी में सैंकड़ों मिट्टी के मटके पड़े थे और बाहर वे घुटनों को छाती से लगाये सिमटकर बैठे रहते थे। उन्होंने पाँव फैलाना भी बंद कर दिया था और न ही वे किसी की तरफ देखते थे। उनमुनि अवस्था में रहते थे। गाँव वाले कुछ ले आते, उनके मुँह में डाल देते तो वे खा लेते, अपने आप उन्हें खाने की रुचि नहीं होती थी। जहाँ वे बैठे थे वहीं उनका टट्टी-पेशाब हो जाता था, उन्हें कोई अन्तर नहीं पड़ता था। गाँव वाले आए, उनको ज़रा बगल किया और साफ कर दिया, नहीं तो नहीं। यह मैंने अपनी आँख से देखा है। वे जो मटके रखे हुए थे, उन सब में किसी में साँप, किसी में बिच्छू, सभी बारी-२ आते उनके शरीर पर रेंगते रहते, पुनः उन मटकों में चले जाते, उन्हें कोई अन्तर नहीं पड़ता था। मेरा कहने का अभिप्राय कि उस समय वे इतनी ऊँची अवस्था में थे कि उन्हें अपने शरीर का भान नहीं था। यदि किसी पर बहुत प्रसन्न होते तो पास पड़े हुए फल उठा कर दे देते। वे महात्मा तो वहाँ जाते रहते थे। महात्मा जी ने जाते ही आवाज़ लगाई तो उन्होंने बैठने का इशारा किया, देखा और हँसने लगे। उन दिनों मैं वस्त्र नहीं पहनता था। उन्होंने केले उठाए और एक, दो, तीन, चार, पाँच गिनते हुए पाँच केले तोड़ कर मुझे प्रसाद रूप में दिए। जो स्वामी जी मेरे साथ थे, उन्होंने कहा कि तुम तो बड़े भाग्यशाली हो। इतने बड़े संत हैं, ये किसी को कुछ देते नहीं, अपने हाथ से इन्होंने तुम्हें गिन कर केले दिए हैं। मैंने

बहुत से संतों के दर्शन किए हैं लेकिन इस अवस्था में पहुँचे हुए कम ही संत होते हैं। मैं आपको बता रहा था कि जब पूर्ण निश्चय हो गया, भगवान् में पूर्ण रूप से स्थिति हो गई तब भी शरीर का कर्म चलता रहता है। उनकी उस स्थिति में भी भोजन और शरीर का व्यापार चलता रहा। कब तक चलता रहा? जब तक शरीर की अवधि रही। 'शरीर धारणावधि'। कब तक शरीर रहता है? जब तक प्रारब्ध रहता है।

कर्म के तीन विभाग हैं—संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध। प्रारब्ध वह भाग है कर्म का जिसके परिणामस्वरूप आपको यह शरीर मिला है। संचित वह जो अभी पड़ा है पता नहीं कितने जन्मों का पड़ा है और क्रियमाण वह है जो आप कर रहे हैं। यदि आपको तत्त्वज्ञान हो जाए तो क्रियमाण तो कर्म नहीं बनेगा। तुलसीदास जी ने लिखा है—

**कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें॥**

जब स्वरूप का बोध हो गया फिर कर्म नहीं होगा और जो संचित है सब भस्म हो जाता है। गीता में भगवान् ने कहा है—

**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥**

*—गीता ४/१९*

संचित-जो कर्मों का संचय था, वह दग्ध बीज हो गया, खत्म हो गया लेकिन जिस प्रारब्ध को लेकर आपका शरीर बना है, वह शरीर तो आपके पास है। प्रारब्ध भी दो प्रकार के होते हैं—दुःखात्मक और सुखात्मक। सुखात्मक प्रारब्ध भी समाप्त हो गया क्योंकि जब अहं ही नहीं रहा तो सुख किसको होगा? प्रारब्ध के परिणाम दुःख-सुख भोग से तुम ऊपर उठ गए लेकिन प्रारब्ध का परिणाम शरीर तो रहेगा। उच्चावस्था में पहुँचे हुए संत के लिए शरीर रहे चाहे चला जाए, उनको इस बात की चिंता नहीं रहती।

जब रामकृष्ण परमहंस के गले में कैंसर हो गया तो डाक्टरों ने उन्हें बोलने से मना कर दिया। उन्होंने पूछा कि यदि मैं नहीं बोलूँगा तो क्या मैं अमर हो जाऊँगा? डाक्टरों ने कहा कि नहीं मरना तो है ही। उन्होंने कहा—भले आदमी, यदि मरना ही है तो बोलते हुए क्यों न मरें? जब तक शरीर में प्राण हैं तब तक लोगों को हम उपदेश देते हैं, अपनी अनुभूति बताते हैं। यदि मैं अपनी अनुभूति बताना बंद कर दूँ तो इससे हमारा ज्ञान हमारे पास रह जाएगा, लोगों को लाभ नहीं होगा। शरीर को तो जाना ही है, उसकी चिन्ता क्यों करें। शरीर आज चला जाए, कल चला जाए, दस वर्ष बाद चला जाए, क्या अन्तर पड़ता है। ये जो तत्त्व-ज्ञानी

लोग हैं, ये रातों-दिन बोलने से बाज नहीं आ सकते। जो उनके पास है, उसे वे चाहते हैं कि जल्दी से जल्दी ज्यादा लोगों तक पहुँचा दिया जाए तो ठीक है क्योंकि अनुभूति की अभिव्यक्ति तो शरीर द्वारा ही होगी? शरीर नहीं तो अनुभूति किसको कहोगे और कैसे कहोगे?

**तन बिनु भजन बेद नहीं बरना।**

बिना शरीर के कोई अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, इसलिए संत प्रारब्धानुसार उस शरीर को कायम रखते हैं, शरीर में रहते हैं और शरीर के द्वारा ही अपने अनुभूत ज्ञान को दुनिया में वितरित करते रहते हैं। लोक व्यापार और वेद व्यापार दोनों समाप्त हो जाते हैं। वैदिक व्यापार की जरूरत नहीं रहती क्योंकि उनको स्वर्ग जाना नहीं इसलिए यज्ञ करने की जरूरत नहीं। जब तक प्रारब्धानुसार शरीर को धारण करना है तब तक व्यापार चलता है। वेदान्त में एक और प्रक्रिया समझाई गई है। यह प्रारब्ध क्या होता है, उसके लिए उन्होंने कुलाल (कुम्हार) की उपमा दी। कुम्हार जब बर्तन बनाता है तो वह मिट्टी का लौंदा चाक पर रख देता है, थपकी देता है फिर गोला करता है और चाक में डंडा लगाकर उसे घुमाता है। एक बार जब वह घुमा दिया तो धीरे-धीरे बर्तन को आकार देना शुरू करता है। जो डण्डा लगा कर घुमाया वह तो हो गया कर्म। कर्म कर दिया लेकिन चाक अब भी बिना डण्डे के जो घूम रहा है वह क्रियमाण और वह जो मिट्टी का लौंदा पड़ा हुआ है बर्तन बनाने के लिए, वह है संचित। प्रारब्ध पर ही संचित क्रियमाण रूप में आगे जा रहा है। यदि वह अभी बर्तन बनाना बंद कर दे फिर भी चाक अपनी गति से घूमता रहेगा। कब तक घूमता रहेगा? चाहे जब तक घूमता रहे। चाक के घूमने में अब कुम्हार को कोई तकलीफ नहीं हो रही क्योंकि वह डण्डा लगाकर अब चाक को नहीं घुमा रहा। एक बार घुमा दिया, उसी के कारण चल रहा है। जब उसकी गति समाप्त हो जाएगी तो वह अपने आप धीरे-२ बंद हो जाएगा। इसी रूप से जो ज्ञानी है या भक्त है, जो परमात्म तत्त्व को समझ गया है, जान गया है, जिसकी स्थिति परमात्मा में हो गई है, वह प्रारब्ध से बने हुए इस शरीर रूपी चाक को घुमाना बन्द कर देता है। अब यह चाक अपनी रुचि से घूम रहा है, अपनी गति से घूम रहा है। प्रारब्धानुसार घूम करके एक दिन अपने आप बन्द हो जाता है। अब चौदहवें सूत्र तक इसकी व्याख्या करके पन्द्रहवें में देवर्षि नारद जी कह रहे हैं कि जिस भक्ति की मैं तुम्हें बात समझा रहा था, उस भक्ति के लक्षण क्या हैं? जैसे आपके हृदय में प्रेम उमड़ा तो उसके लक्षण हैं कि आपके नेत्रों में आँसू आ जाएँगे, रोंगटे खड़े हो जाएँगे, हृदय गद्‌गद हो जाएगा। आपके अन्दर

क्रोध उत्पन्न हुआ तो उससे आपकी आँखे लाल हो गईं, त्योरी आपकी चढ़ गई और नेत्र बदल गए। आप में कामना की जागृति हुई तो आपकी दृष्टि बदल जाती है, शरीर की गति बदल जाती है। ऐसे ही अपने किसी बच्चे को देखा तो आप में वात्सल्य जागृत हो जायेगा, आपके मुख और शरीर की आकृति बदल जायेगी। यानी हरेक भाव जो आपके अन्तर में जागृत होता है, उसका इम्प्रैशन आपके शरीर के माध्यम से बाहर आता है। जिन चिह्नों से आपके अन्दर के भाव को जाना जाता है, उन चिह्नों को लक्षण कहते हैं। अब यहाँ पर नारद जी ने एक प्रश्न उठाया है कि जिस भक्ति की आप बात कर रहे हैं, हम कैसे समझ लें कि यह व्यक्ति भगवान् की भक्ति कर रहा है? क्या पता कि आँख बन्द करके शैतान की भक्ति कर रहा हो। भक्ति तो भगवान् की, इन्सान की, शैतान की, धन की, विषय की, स्त्री की और पुरुष की भी होती है। भक्ति माने प्रेम। कैसे मालूम हो कि यह भगवान् की भक्ति कर रहा है? आगे उन्होंने कहा—

**तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात्॥**

*—ना०भ०सू० १५*

इसमें अनेक प्रकार के मत हैं। अनेकों ऋषियों ने अपने-२ मत से उस भक्ति के लक्षण की विवेचना की है कि कौन से ऐसे लक्षण हों जिससे हम समझें कि यह भगवान् की भक्ति कर रहा है या भगवान् से प्रेम कर रहा है। व्यासदेव पराशर के पुत्र हुए हैं, उनका कथन है—

**पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः॥**

*—ना०भ०सू० १६*

जिसमें भगवान् की भक्ति की जागृति होती है, वह भगवान् की पूजा में लगा रहता है। यहाँ पूजा शब्द का अर्थ बहुत ही गूढ़ है। पूजा माने जिसमें आपका चित्त पूर्ण रूप से भगवान् में लग जाए। आपका चित्त भगवान् के अतिरिक्त और कुछ सोचे ही नहीं, उसको पूजा कहते हैं। 'चित्त हो मूर्ति में, मूर्ति ही चित्त बने तब हो प्राणाधार की पूजा'। पूजा की व्याख्या करते हुए एक कवि ने लिखा है कि ऐसा तादात्म्य हो जाए कि पुजारी और पूज्य दोनों का भेद ही समाप्त हो जाए तब उसे पूजा कहते हैं।

**भाव का चन्दन प्रेम का पुष्प हो, रहे जल अश्रुओं के धार की पूजा।**
**पूजा पुजापा पुजारियों का, कुछ होता भी न विधान है पूजा।**
**पूजा न जानना खेल कहीं, दिल दूसरे के लिए दान है पूजा।**

जहाँ पर पूर्ण रूप से समर्पण हो उसे पूजा कहते हैं। व्यासदेव जी ने भक्ति की

व्याख्या करते हुए कहा है—'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥' पूजा माने पूर्ण समर्पण। जहाँ पर भगवान् के साथ पूर्ण एकता की अनुभूति होने लगे, ऐसा जो अनुराग है, वह भक्ति का सही लक्षण है। गर्गाचार्य जी कहते हैं—

**कथादिष्विति गर्गः ॥**

—ना०भ०सू० १७

भगवान् के चरित्र का जो श्रवण है, चरित्र श्रवण में जो अनुराग है, अनुराग में जो वाणी का गद्गद हो रोमाञ्च हो जाना है, जो अश्रुपात हो जाना है, प्रभु के चरित्र को सुनकर विह्वल हो जाना है, यह भक्ति का लक्षण है। शाण्डिल्य ऋषि कहते हैं—

**आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥**

—ना०भ०सू० १८

परमात्मा में अविरोधी रति ही भक्ति का स्वरूप है। आत्मा में रमण करने वाला जब परमात्मा में ही रम जाता है तो वह भगवान् का भक्त कहलाता है। नारद जी कहते हैं—

**नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥**

—ना०भ०सू० १९

सारे आचार-विचार को भगवान् को अर्पण करके भगवान् की अखण्ड स्मृति बनी रहे। एक क्षण के लिए भी भगवान् विस्मृत हो जाए तो ऐसा लगे कि जैसे मृत्यु हो गई हो, तब समझ लो कि यह भगवान् की भक्ति है। ये जो चार ऋषियों—व्यासदेव, गर्गाचार्य, शाण्डिल्य तथा नारद जी का मत भक्ति के लक्षणों के बारे में है, इन चारों सूत्रों की व्याख्या कल करेंगे। आज केवल संक्षेप में आप लोगों को बताया है।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## ७

मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! कल मैंने भक्ति के लक्षणों के बारे में बताया था। इस विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। एक बात मैंने आपको कल बताई थी कि भक्ति क्रियात्मक नहीं भावात्मक होती है। वह क्रियारूपा नहीं भावरूपा है। भाव ही भक्ति का मूलाधार है। वही भाव विभिन्न विषयों के साथ सम्बन्धित होकर विभिन्न रूपों में प्रकट होता है लेकिन भगवत् सम्बन्धी भाव अर्थात् भक्ति का भाव किस रूप में प्रकट होता है, इसके विषय में नारद जी कहते हैं कि पराशरनन्दन व्यासदेव जी का मत है—

**पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः॥**

*—ना० भ० सू० १६*

भगवान् की पूजा आदि में अनुराग होना, यह भक्ति का भाव अर्थात् भक्ति का लक्षण है। पूजा की प्रक्रिया वैष्णव तथा शैव दोनों सम्प्रदायों में है। खास बात यह है कि जीवन की गतिविधि तो कभी बन्द नहीं हो सकती। उस गतिविधि का मूलाधार पंचविध विषय हैं। इन विषयों की प्राप्ति के लिए हम प्रत्येक क्रियाकलाप करते हैं। आचार्यों ने इन पंचविध विषयों को भगवान् से सम्बन्धित कर दिया। उन्होंने कहा कि इन विषयों का त्याग तुम्हारे लिए असम्भव है। इन्हीं पर तो तुम्हारा शरीर टिका हुआ है। जब तक शरीर है तब तक विषयों का त्याग कठिन है। गीता में भी भगवान् ने इसी बात को समझाया है—

**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥**

*—गीता १२/५*

शरीरधारी के लिए अव्यक्त में या निराकार में गति होना मुश्किल है। इसी

बात को तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में लिखा—

**ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥**

—रा० ७/११८-१

ज्ञान का मार्ग कृपाण की धार के समान है क्योंकि वहाँ कोई आलम्बन नहीं है। निराकार में मन कहाँ टिकाओगे? यदि तुम परमात्मा में ही मन को लगाना चाहो तो परमात्मा के किसी साकार रूप में ही मन को टिकाओ। साकार रूप में आप उसके अवतार रूप को ले लें या विराट् रूप को ले लें या फिर सूर्य रूप को ले लें अर्थात् कोई भी रूप ले लें। श्रीमद्‌भागवत में तथा उपनिषदों में विराट् रूप की बड़ी महिमा गाई गई है और इस रूप को ही उत्तम ध्यान का आधार माना गया है। यदि आप विराट् का ध्यान नहीं कर सकते या आपकी बुद्धि इतनी विकसित नहीं है कि वह विराट् में लग सके या विराट् को अपने में जज़्ब कर सके तो आप सूर्य का ध्यान करें, दूसरा स्थान सूर्य का है। यदि सूर्य में भी आपकी स्थिति नहीं हो रही है फिर आप अक्षर का ध्यान कीजिए। ॐ, राम या शिव यानी कोई भी अक्षर लिख करके आप उसमें ध्यान करें। यदि उसमें भी आपका ध्यान नहीं लगता तो चौथा स्तर है मूर्ति। आप भगवान् का चित्र रखिए और उसको देखिए।

यह चित्त लगाने वाली बात है। यदि आप चित्त को भगवान् के साकार रूप में लगाते हैं जैसे राम, कृष्ण, विष्णु, नारायण, शिव, शक्ति, गणेश आदि तो उनकी लीलाओं का चितंन करते हुए उनमें भी अपने चित्त को लगाइऐ क्योंकि वह व्यक्त है इसलिए ध्यान में बड़ा उपयोगी है। अव्यक्त में चित्त को लगाना बड़ा मुश्किल है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि जब प्यार आपके हृदय में होगा तो वह प्यार निराकार में नहीं हो सकता, वह तो साकार में ही होगा और साकार ही उसके लिए माध्यम होगा। आचार्यों ने तो पंचविध विषयों को ही भगवान् के साथ जोड़कर उनका भोग करने के लिए कहा है। उनका कहना है, जब ये भगवान् के साथ जुड़ जायेंगे तो वही विषय तुम्हारे लिए साधक बनेंगे बाधक नहीं बनेंगे। सुन्दर-२ पुष्प तुम्हें प्रिय लगते हैं तो पुष्पों को इकट्ठा करके हार बनाओ और हार बना कर भगवान् को पहना दो। कितनी प्रसन्नता होगी तुम्हें जब तुम भगवान् की मूर्ति से मिले हुए प्रसाद को धारण करोगे! वह प्रसाद जो कि हार ही है परन्तु भाव प्रसाद का है

**प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।**

—*गीता २/६५*

अब जब प्रसाद करके तुम उसे लोगे तो वह तुम्हारे समस्त दुःखों को नाश करने में कारण बन जायेगा जबकि है वही तत्त्व। इसी प्रकार से जो भोजन तुम्हें प्रिय लगता है वह भोजन बनाओ और उसे पहले भगवान् को अर्पित करो। भगवान् को अर्पित किया हुआ भोजन जब तुम प्रसाद रूप में ग्रहण करोगे तो तुम्हारी स्वाद में आसक्ति नहीं होगी, उसका परिणाम तुम्हें दुःखद नहीं भोगना पड़ेगा और वह तुम्हारे लिए कल्याणप्रद हो जाएगा। इसी प्रकार कान का विषय शब्द है। यदि तुम्हें संगीत प्रिय है तो तुम भगवान् की भक्ति से सम्बन्धित संगीत गाओ और सुनो। वह संगीत तुम्हें विषयों की तरफ नहीं ले जाएगा बल्कि भगवान् की तरफ ले जाएगा। संगीत की कला में कोई अन्तर नहीं आया, कला वही है, भगवान् से सम्बन्धित कर देने पर भगवान् की तरफ ले जाएगी और वैश्या से सम्बन्धित कर देने पर वैश्यालय पहुँचा देगी। यही परिणाम नृत्य का भी होता है।

अयोध्या में एक संत हैं। भारत में इस समय जितने भी नृत्य करने वाले हैं, मैं नहीं समझता कि उनसे अच्छा कोई नर्तक भी होगा। वे संत वैष्णव सम्प्रदाय के हैं। वैसे तो वह भारत में भ्रमण करते हैं लेकिन फाल्गुन मास में १०-१५ दिन के लिए अयोध्या में आया करते हैं। वे केवल भगवान् के सामने नाचते हैं। हज़ारों लोग उनका नृत्य देखने जाते हैं। एक बार हमने उन्हें आमन्त्रित किया कि आप हमारे यहाँ भी कभी आइए आश्रम में। उनके यहाँ लेने-देने वाली बात नहीं है। उन्होंने पूछा—आपके यहाँ मन्दिर है? मैंने कहा, "नहीं, मन्दिर तो नहीं है।" उन्होंने कहा—फिर तो मैं नहीं आ सकता क्योंकि मैं तो केवल भगवान् के दरबार में ही नाचता हूँ, मेरा यह पेशा नहीं है बल्कि पूजा है।

मेरा कहने का अभिप्राय कोई भी विषय यदि भगवान् से सम्बन्धित हो जाए तो भक्ति बन जाता है, उसी को पूजा कहते हैं। पूजा माने क्या? अपने प्रिय पदार्थ को प्रभु को समर्पित कर देना। जीव के लिए सबसे प्रिय पदार्थ तो ये विषय हैं, इन्हीं के पीछे तो वह रातों-दिन मर रहा है। हर-एक विषय की क्रिया को भावात्मक रूप से प्रभु को समर्पित कर देने से वह विषय उसके लिए प्रभु का प्रसाद हो जाता है। उस प्रसाद के सेवन से न अहं आयेगा न आसक्ति होगी।

आप लोगों ने शिवाजी की कहानी पढ़ी होगी। समर्थ गुरु रामदास ने जब शिवाजी के महल के सामने जाकर भिक्षा लेने की दृष्टि से 'जय-जय समर्थ रघुबीर' का घोष किया तो शिवाजी सोचने लगे कि मेरे पास तो कुछ है नहीं, मैं

क्या दूँ इन्हें? उन्होंने अपना सारा राज्य कागज़ पर लिख कर उनकी झोली में डाल दिया। समर्थ गुरु रामदास ने देखकर कहा—"अरे शिवा! मैं तो यहाँ भिक्षा लेने के लिए आया था, तूने कागज़ मेरी झोली में डाल दिया, इसे लेकर मैं क्या करूँगा?" उन्होंने कहा, "गुरुदेव! मेरे पास इसके सिवा और कुछ देने के लिए है ही नहीं।" गुरु रामदास ने शिवा को वही राज्य देते हुए कहा कि यह मेरा प्रसाद है। शिवा ने उस राज्य को प्रसाद समझ करके आजीवन शासन किया और उसका परिणाम यह हुआ कि उस राज्य का उनको न तो अभिमान हुआ न लगाव ही, क्योंकि वह गुरु का प्रसाद है तो प्रसाद की सम्भाल होती है, प्रसाद की सेवा होती है और प्रसाद का उचित मात्रा में सेवन होता है इसलिए भोग वृत्ति ही नहीं रहती वहाँ। ऐसे भक्त हैं हमारे यहाँ भक्ति मार्ग में।

**पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः।**

*—ना० भ० सू० १६*

पराशरनन्दन व्यासदेव जी परमात्मा की पूजा में अनुराग को भक्ति मानते हैं। पूजा माने अपने प्रियतम पदार्थ को परमात्मा को समर्पित कर देना। लौकिक दृष्टि से भी आप देखिए, जिसको आप प्यार करते हो दुनिया में कहीं भी आप चले जाओ, जो कोई भी अच्छी सी वस्तु आपको दिखाई देगी,आपको होगा कि इसको मैं उसके लिए ले लूँ। आप बच्चे को प्यार करते हो तो बच्चों वाली सुन्दर वस्तुएँ आप बच्चों के लिए ले जाएँगे, स्त्री को प्यार करते हो तो आपको जो सुन्दर वस्तु जहाँ दिखाई देगी, उसे आप लाकर उसे दे देंगे। प्रियतम वस्तु को प्राणेश्वर को समर्पित कर देने की जो वृत्ति है, जो भाव है, उसी का नाम पूजा है। व्यासदेव जी ने कहा है कि जिसके हृदय में भगवान् के प्रति ऐसा भाव है, वही भक्त है। उन्होंने पूजा में अनुराग होना भक्ति का लक्षण बताया है। गर्गाचार्य कहते हैं कि—

**कथादिष्विति गर्गः॥**

*—ना० भ० सू० १७*

भगवान् के चरित्र में अनुराग भक्ति का लक्षण है क्योंकि यह श्रवण भक्ति है। रामायण में तुलसीदास जी ने लिखा है—

**जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥**
**भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥**

*—रा० २/१२८-४,५*

भगवान् ने जब पूछा कि मैं कहाँ रहूँ तो वाल्मीकि जी ने जो पहला घर बताया वह श्रवण ही बताया। उन्होंने कहा—जिनके कान समुद्र के समान हैं, जैसे

रोज़ समुद्र में नदियाँ गिर रही हैं लेकिन समुद्र ने कभी नहीं कहा कि अब मैं पूरा हो गया, अब मुझे जल की जरूरत नहीं है। समुद्र फिर भी प्यासा ही रहता है। ऐसे ही जिसके कान भगवान् की कथा से निरन्तर भरते रहते हैं, कभी तृप्त नहीं होते और अधिक से अधिक प्रभु के दिव्य चरित्र सुनना चाहते हैं, वाल्मीकि जी कहते हैं कि प्रभो वही आपके रहने के लिए सुन्दर स्थान है। तुलसीदास जी कहते हैं—

**राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥**

*—रा० ७/५३-१*

जिसने यह कहा कि अब तो बहुत सुन लिए, अब तो सुनते-२ थक गए, अब तो कुछ और करना चाहिए, उसने उसका रस नहीं समझा, उसमें अभी भक्ति का जागरण नहीं हुआ, भगवत् प्रेम की वह महत्ता अभी नहीं समझा क्योंकि बिना सुने समझ में नहीं आयेगी और बिना समझे अनुराग नहीं बढ़ेगा। सुनना प्रथम है। दुनिया में जिसको भी आप पाना चाहते हैं यदि पहले उसके विषय में सुने ही नहीं हैं तो पाने की लालसा कहाँ जागृत होगी। पहला ज्ञान श्रुत ज्ञान होता है, फिर अनुमित ज्ञान होता है, उसके बाद प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, जिसे अनुभूत ज्ञान भी कहते हैं। पहले किसी के विषय में सुनते हैं, फिर दिखाई दे या कल्पना करते हैं या अनुमान लगाते हैं कि ऐसा होगा। जब उसका अनुभव हो जाता है या उसको प्राप्त कर लेते हैं तो उसको अनुभूत ज्ञान कहते हैं। कथा आदि में अनुरक्ति होना जैसा कि गर्गाचार्य जी ने कहा है, इसका अभिप्राय यह है कि पहले तुम प्रभु के विषय में सुनो—

**समुझि-२ गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ।**
**तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम-पसाउ॥**

*—वि०प० १००/१०*

विनय पत्रिका में लिखा है कि पहले तुम सुनो, सुनते-२ जब भगवान् की महिमा का अनुभव होने लगेगा तो स्वभावतः प्रेम हो जायेगा, इसलिए श्रीमद्भागवत में भी भक्ति के रास्तों में से श्रवण भक्ति ही प्रथम है।

**श्रवणं कीर्तनं विष्णोःस्मरणं पादसेवनम्।**
**अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**

*—श्रीमदभागवत् ७/५-२३*

रामायण में भी भगवान् ने कहा है—

**मम लीला रति अति मन माहीं॥**

*—रा० ४/१६-४*

''मेरी लीला में रति होना यह भक्ति का परम लक्षण है।'' शबरी से भी नवधा भक्ति बताते हुए प्रभु ने कहा—

**प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥**

*—रा० ४/३५-८*

''मेरी कथा में अनुरक्ति होना भक्ति का दूसरा लक्षण है।'' मैं आप लोगों को समझा रहा था कि गर्गाचार्य जी का मत भी उसी भक्ति से सम्बन्धित है। पहले आप उसके विषय में सुनेंगे, फिर उसके पास जायेंगे, फिर उससे प्रेम होगा तथा आप उसकी प्रसन्नता के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार होंगे। जब आप सुने ही नहीं तो आपका प्रेम किसमें होगा, किसके लिए आप समर्पित होंगे? इसलिए—'कथादिष्विति गर्गः।' कथा आदि में अनुरक्ति होना, यह भक्ति का एक महान् लक्षण है। इसके बाद—

**आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः॥**

*—ना०भ०सू० १८*

शाण्डिल्य ऋषि के मत में आत्मरति के अविरोधी विषयों अर्थात् अनुकूल विषयों में अनुराग होना भक्ति का लक्षण है। शाण्डिल्य ऋषि ने अपने भक्ति सूत्र में—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' कहा है अर्थात् ईश्वर में परमानुरक्ति ही भक्ति है। यहाँ पर शाण्डिल्य का मत व्यक्त करते हुए नारद जी कहते हैं, जिन-२ क्रियाओं से हमें आत्मानुरक्ति हो रही है, उन क्रियाओं में राग होना भक्ति का लक्षण है।

**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**
**अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**

*— श्रीमद्भागवत ७/५-२३*

जैसे श्रवण, कीर्तन, विष्णु स्मरण, पाद सेवा, अर्चना, वन्दना, दास्य एवं सख्य भाव तथा आत्म निवेदन,ये सब भगवान् की भक्ति के साधक तत्त्व हैं। यहाँ पर आत्मरति माने परमात्म रति। परम तत्त्व की विवेचना में उपनिषदों में तीन शब्द प्रयोग किये जाते हैं—ब्रह्म, आत्मा और पुरुष। ब्रह्म शब्द परमतत्त्व की उस अवस्था का अवबोधक है जिस अवस्था में वह सृष्टि को विस्तार रूप से परिणत करता है। 'बृह्यंति इति ब्रह्म' अर्थात् जिससे विस्तार हो या जो स्वयं विस्तार को प्राप्त हो, उसे ब्रह्म कहते हैं, आज़कल जो सृष्टि के विषय में विकास का सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया गया है, वह वेद के उसी सिद्धान्त को अभिव्यक्त करता है।

इस सृष्टि में जितने ब्रह्माण्ड हैं, उन सभी का आविर्भाव बिन्दु से ही हुआ है। इस सम्बन्ध में एक दिन मैंने संकेत किया था कि पहले एक बिन्दु का

आविर्भाव होता है। जैसे-२ उस बिन्दु में गति होती जाती है, वह परमाणुओं को अपनी तरफ खींचता जाता है और खींच कर बीच में अभिव्यक्त करता जाता है। बिन्दु ही बीज है। बीज में जब गति होती है तो आकर्षण की अभिव्यक्ति होती है। आकर्षण शक्ति से पदार्थ इकट्ठा होने लगता है। जितने भी सूक्ष्म परमाणु हैं जो दिखाई नहीं देते, ध्यानावस्था में इन सबकी गति आपको दिखाई देने लगेगी। इन परमाणुओं की आकर्षण शक्ति कितनी है, ये कितनी मात्रा में दूसरों को आकर्षित करते हैं, वह भी आपको दिखाई देगा। उनमें जो प्रबल परमाणु होता है, वह अपने लिए बहुत बड़ा दायरा बना लेता है। हमारे यहाँ ब्रह्माभिव्यक्ति के सात स्तर माने गए हैं। बिन्दु जब गति करता है तो अपने लिए एक विशाल रूप बना लेता है जिसमें सात व्याहृतियां होती हैं जिन्हें भूः भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्यं कहा गया है।

वह सत्यम् जो है उसमें गति से ये सारे बनते चले जाते हैं। एक बिन्दु ही अपने आपको विस्तृत करता है इसलिए इसका नाम ब्रह्म पड़ा। ब्रह्म शब्द सृष्टि के मूल कारण रूप में स्थित उस परम तत्त्व का अवबोधन कराता है जो कि विस्तार को प्राप्त होता है। जब वह विस्तार को प्राप्त हो गया, विराट् रूप में परिणत हो गया तो उसे कहते हैं पुरुष। पुर में निवास करने वाले की पुरुष संज्ञा होती है। जितने दायरे को उसने अपने साथ आत्मसात किया, वह उसका पुर है और उस पुर में निवास करने के कारण ही वह पुरुष है। आत्मा के लिए कहा गया जो बिन्दु रूप में था, जिसने सारा विस्तार किया था, जो उसमें विराज रहा है, वह बिन्दु में ही नहीं बल्कि उन सबमें व्याप्त है जो उस बिन्दु के किरण रूपी बिन्दु और बने हैं अर्थात् 'अतति व्याप्नोति इति आत्मा', जो समष्टि रूप में है, वह पुरुष है और जो व्यष्टि रूप में है, उसकी संज्ञा आत्मा है। एक ही तत्त्व के तीन नाम हैं। जहाँ पर 'आत्मरत्यविरोधेन' की बात कही है, वहाँ पर आत्मा तो वही है, वही पुरुष है और वही ब्रह्म है। कठोपनिषद् में समझाया गया है—

**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।**
**मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥**
**महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।**
**पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥**

*—कठ० १/३-१०,११*

वहाँ पर पुरुष उस बिन्दु को कहा गया है जिससे परे और कुछ नहीं है। वही प्रकृति से परे है, वही अन्तिम है, वही परम गति है, उसी तक पहुँचना है। आत्मा,

पुरुष और ब्रह्म एक ही सत्ता के तीन नाम हैं। कहाँ पर आत्मा शब्द का प्रयोग है, कहाँ पर पुरुष शब्द का प्रयोग है और कहाँ पर ब्रह्म शब्द का प्रयोग है, यह देखते हुए उसके अर्थ अलग-२ हैं क्योंकि अलग भाव की अभिव्यक्ति के नाते अलग शब्द का प्रयोग हुआ है। भगवान् ने भक्ति को भी धर्म बताया—

**ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।**
**श्रदधानामत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥**

*—गीता १२/२०*

भक्ति को भगवान् ने अमृतमय धर्म बताया है। अमृतमय धर्म का मूल प्रयोजन है आत्मा के अविरोधी विषयों में अनुराग। धर्म का सार यह है कि जो अपनी आत्मा को प्रिय नहीं है वह दूसरे के साथ व्यवहार में मत लाओ। मन को प्रिय हो सकता है, बुद्धि को प्रिय हो सकता है, अहं को प्रिय हो सकता है, इन्द्रियों को प्रिय हो सकता है लेकिन आत्मा को प्रिय है या नहीं है, यह समझना बड़ी मुश्किल बात है। जिसने आत्मा को समझा है, वही तो उसके प्रिय-अप्रिय की बात सोचेगा। जो आत्मा की रति में अविरोधी तत्त्व है, उसमें अनुरक्ति ही भक्ति है। आत्मा के लिए कौन सा प्रिय तत्त्व है या कौन सी वस्तु है जिससे उसका उत्थान होता है, तृप्ति होती है, रति होती है, तुष्टि होती है? बुद्धि, अहं, मन और इन्द्रियों की तुष्टि के तो बहुत से साधन हैं। जब तक हम आत्मा तक नहीं पहुँचे तब तक शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि की मांग को ही आत्मा की मांग मानेंगे। महर्षि शाण्डिल्य ने कहा है कि पहले तुम अपनी आत्मा की मांग का पता लगाओ फिर उसे पूरा करो। यदि तुम उसे पूर्ण कर लोगे तो वह तुम्हारी भक्ति होगी।

जब तक हम अपने अन्तर की या अपनी आत्मा की मांग को नहीं समझते तो अनुकूल क्या है, प्रतिकूल क्या है, कैसे समझ सकते हैं? बहुत सी ऐसी चीज़ें हैं जो आत्म पतन में कारण होती हैं लेकिन बाहर से अच्छी दिखाई देती हैं, जैसे दुनिया का वैभव। जिसे दुनिया का वैभव मिलता है, वह सोचता है मेरे समान और दुनिया में कोई है ही नहीं। धीरे-२ जब वह बाह्यमुखी हो जाता है तो अन्तर का पतन शुरु हो जाता है, पता ही नहीं चलता कि कब वह गिर गया। वह सोचता है कि बस इसी में आनन्द है। आत्म विश्लेषण करने से मालूम होता है कि कैसे-२ पतन तथा उत्थान होता है। बहुत से ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने अपने आत्म पतन का विश्लेषण किया है कि किस स्तर से वे कैसे नीचे पहुँचे। जब वे उस स्तर पर थे तो उनकी क्या गति थी और जब वे उस स्तर से नीचे आए तो उनकी क्या गति हुई? भारत में क्या, दुनिया में ऐसे बहुत कम लोग हैं जो सारे के सारे लाल बहादुर

शास्त्री जैसे हों, जो हरेक स्थिति में अपना आत्म निरीक्षण करते हुए देश के सबसे ऊँचे पद पर पहुँच करके भी अपने आत्मपतन को बचाए रखे। अपनी गरीबी की जिन्दगी से भारत के प्रधानमन्त्री पद पर आसीन होने तक उनके जीवन में कोई दाग नहीं आया। वह महापुरुष इसी युग में पैदा हुआ। भारत में उन दिनों में रहा जबकि यह कहा जा रहा था कि भारत चारित्रिक दृष्टि से पतन के गर्त में गिरता जा रहा है। ऐसा महान् व्यक्ति शायद ही भारत के इतिहास में कोई मिले। यह कैसे होता है? जो आत्मनिरीक्षण करता रहता है, वही इस प्रकार की परिस्थिति से बच सकता है अन्यथा पागल हो जाए।

**प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥**

*—रा० १/६०-८*

जहाँ प्रभुता मिली वहाँ वह गया। बहुत सी ऐसी चीज़ें हैं जो हमारी आत्मा के पतन में कारण होती हैं लेकिन हम उन्हें उत्थान में हेतु मानते हैं। पतन के बाद होश आता है इसलिए उनके बारे में सावधान रहना चाहिए। आगे नारद जी ने भक्ति के बारे में अपना मत बताया है जिसमें आत्मनिष्ठा प्राप्त करने में सहायक तत्त्वों जैसे—सत्संग, सद्‌गुरु कृपा, सत् पुरुष की सेवा, सद्शास्त्रों का मनन, सदाचार का पालन, भगवद् पूजा, भगवद्-चरित्र-श्रवण आदि को समाविष्ट कर लिया है। नारद जी कहते हैं कि मेरी राय है—

**नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता।**

*—ना० भ० सू० १९*

परमात्मा को ये सम्पूर्ण आचार-विचार अर्पित कर देना ही भक्ति है। अखिल माने जो कुछ भी है अर्थात् हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया परमात्मा को समर्पित हो जाए। गीता के आठवें अध्याय में बताया है—

**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
**यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥**

*—गीता ९/२७*

"जो कुछ भी तू करता है चाहे वह अच्छा हो या बुरा, भगवान् को अर्पित करो फिर अपने आप तुम्हारे में अच्छाई आ जाएगी और बुराई नष्ट हो जाएगी। जो करता है, जो खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो तप करता है, परिश्रम करता है, भगवान् कहते हैं सब मुझे अर्पण कर दो।" जब सारा क्रियाकलाप भगवान् को समर्पित हो जाए और—

**तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥**

—ना०भ०सू० १९

उसकी क्षण भर की विस्मृति हमारे लिए मृत्यु के समान हो जाए तब समझ लो कि यह भक्ति है।'' कहने का अभिप्राय कि उसकी पल मात्र की विस्मृति भी इतनी दुःखद लगे कि जैसे जिन्दगी ही नहीं रही। भक्ति मार्ग के आचार्यों ने भक्ति के विषय में काफी विश्लेषण किया है और इन सारे विषयों का विवेचन रामचरितमानस में भी मिलता है। गीता में भी भगवान् ने कहा है कि तू जो कुछ भी करता है मेरे लिए कर—

**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**
**मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥**

—गीता ९/३४

''मन को मेरे में लगा दे, मेरा भक्त हो जा, मेरे लिए यजन कर, मेरी उपासना कर, मेरे को ही नमस्कार कर यानी तुम्हारे जीवन की सारी गतिविधि मेरे से सम्बन्धित हो जाए।'' ग्यारहवें अध्याय में बताया—

**मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।**
**निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥**

—गीता ११/५५

''जो सम्पूर्ण प्राणियों में निरवैर है, किसी से वैर नहीं करता, जो मेरे लिए कर्म करता है, हरेक काम मेरे लिए कर रहा है, अपने लिए कुछ नहीं कर रहा, जो मेरे ही परायण है, वह मुझे ही प्राप्त करता है।'' प्रिया प्रियतम के प्रेम की विवेचना करते हुए एक कवि ने लिखा है—

**प्रिया पिया की गोद में, तौ जान्यो बहु दूरि।**
**विलग होत अखियन को, व्याकुल भो दुःख भूरि।**

कथा है कि श्री राधिका जी भगवान् श्री श्याम सुन्दर की गोदी में बैठी हुई थी और वह एकटक प्रभु को देख रही थी, इतने में उनकी पलक झपक गई। पलक झपकने मात्र का जो वियोग हुआ उसको ही उन्होंने असह्य समझ लिया और उन्हें लगा कि प्रभु दूर चले गए हैं। पलक के झपकने में कितनी देर लगती है। पलक क्यों झपकी इसकी उनको व्यथा हुई, वे बेहोश हो गईं। विलग होत अखियन के व्याकुल वियोग में-केवल आँखों से बिलगाव हुआ, सारा शरीर साथ है लेकिन दृष्टि में पलक बीच में आ गई, पलक आते ही उन्हें यह लगा कि अब प्रभु दूर हो गए और इतना विरह वह सहन नहीं कर सकी, बेहोश होकर गिर पड़ीं। भगवान्

को पुनः बड़ी कोशिश करके उन्हें होश में लाना पड़ा।

भक्त कवियों ने काफी वृहद् विवेचन किया है भक्ति मार्ग का। इसमें आत्मा और परमात्मा की एकता की अनुभूति का क्रम बताया है। पल मात्र का भी वियोग परमात्मा से आत्मा का अनन्तकाल के वियोग के समान पीड़ाप्रद हो जाता है। यदि गम्भीरता से देखें तो सृष्टि क्रम में जीव का ईश्वर से पल मात्र का वियोग ही होता है। महानारायणोपनिषद् में सारी सृष्टि का क्रम समझाया गया है। बड़ी लम्बी अवधि है। सृष्टि का दिन है, पक्ष है, महीना है, अयन है, वर्ष है, युग है और युगों की अपनी गणना है। ४,३२००० वर्ष का कलियुग है, इससे दुगुना द्वापर, इससे तिगुना त्रेता और इससे चारगुना सतयुग अर्थात् १,७,२८००० वर्ष का है। ये सब मिलकर एक चतुर्युगी और ७१ चतुर्युगी का एक मनवन्तर, फिर १४ मनवन्तरों का एक कलप। वह एक कलप ब्रह्मा का एक दिन, उतनी बड़ी ब्रह्मा की एक रात्रि, उस रात्रि-दिन से ३६० दिन का ब्रह्मा का एक वर्ष और उस वर्ष से १०० वर्ष की ब्रह्मा की आयु। इस ढंग से ब्रह्मा की मृत्यु फिर उतना विष्णु का एक दिन। यह बहुत चौड़ी गणना है। गणना करते-२ महानारायण तक पहुँचते हैं। यह सारी सृष्टि जिसमें अनन्त ब्रह्मा मर गए, अनन्त विष्णु लीन हो गए, अनन्त शिव लीन हो गए, यह सब का सब उस महानारायण की आँख का खोलना, देखना और बन्द करना है। सृष्टि किसने की? उनकी प्रिय शक्ति प्रकृति ने अपने प्राणधन प्रियतम को प्रमोद प्रदान करनें के लिए अनन्त ब्रह्माण्डों की रचना की। यह लीला किसके लिए की? उसने आँख खोली, देखा और बन्द कर ली, प्रलय हो गई। 'लीलावत्तु कैवल्यम॥' उपनिषदों में, वेद में इस प्रकार का विवेचन किया गया है कि यह सारी सृष्टि केवल परमात्मा के पलक खोलने, देखने और बन्द करने में ही है। तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में उसी वेद मन्त्र का अनुवाद लिखा—

**भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।**

—रा० ४/२८-४

उनके भृकुटि विलास से, आँख के इशारे से सृष्टि हो गई, पालन हो गया और प्रलय हो गया। इसी बात को वाल्मीकि जी ने कहा है—

**जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे।**

"यह जगत् एक तमाशा है और आप इस तमाशे को देखने वाले हो, प्रभो!" इस तमाशे को करने वाला कौन है—

**बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥**

—रा० २/१२७-१

ब्रह्मा, विष्णु और महेश, ये उस तमाशे को करते हैं जो इसी प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के अधिष्ठात्री देवता ये तीनों हैं। ये इस तमाशे को करने वाले हैं और आप इसे देखने वाले हैं। आँख खोले, देखे, बन्द किए, तमाशा समाप्त हो गया यानी पल मात्र में सब कुछ हो जाता है। पल मात्र के अन्दर जीव का भगवान् से अलग होना, भगवान् में मिल जाना, यह सब कुछ पल मात्र में ही चलता है लेकिन यह अपने लोगों का पल मात्र नहीं है, यह भगवान् के पल मात्र का है। एक सज्जन एक बार कह रहे थे कि संकल्प में तो सृष्टि है लेकिन किसके संकल्प में सृष्टि है? परमात्मा के संकल्प में। अपनी सृष्टि भी संकल्प से ही होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है लेकिन अपना सारा संकल्प सृष्टि रूप में परिणत नहीं हो पाता। मनुष्य के कुछ संकल्प साकार होते हैं अर्थात् कुछ संकल्प सृष्टि रूप में परिणत होते हैं लेकिन परमात्मा का प्रत्येक संकल्प सृष्टि रूप में परिणत हो जाता है क्योंकि मनुष्य संकल्प करता ही रहता है, परमात्मा कभी-२ संकल्प करता है, अन्तर है न। मनुष्य के संकल्प झूठे भी होते हैं क्योंकि उसमें संकल्प को पूर्ण करने की सामर्थ्य नहीं है। परमात्मा तो अनन्त संकल्प युक्त है, वह अपने संकल्प को मिथ्या कैसे होने देगा?

**सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।**

*—तैत्तिरीयोपनिषद् २/६-३*

उसने संकल्प किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ और वह हो गया। उसके संकल्प में ही सृष्टि है, मनुष्य के संकल्प में सृष्टि नहीं है। इस सारी सृष्टि का आधार मनुष्य नहीं परमात्मा है। इसलिए नारद जी कहते हैं कि सारे क्रियाकलाप को परमात्मा को समर्पित कर दो और एक पल भी उसके वियोग में बीतने पर तुम व्याकुल हो जाओ, अधीर हो जाओ।

एक बार मैंने एक कहानी पढ़ी थी विवेकानन्द से सम्बन्धित रामकृष्ण परमहंस के जीवन की। विवेकानन्द रोज़ उनसे पूछा करते थे—ठाकुर, हमें भगवान् के दर्शन कब होंगे? एक दिन वे विवेकानन्द को साथ लेकर गंगा जी नहाने के लिए गए। जब वे नहा रहे थे तो विवेकानन्द ने पानी में डुबकी लगाई। रामकृष्ण ने उसका सर नीचे को पानी में दबा दिया, थोड़ी देर दबाये रहे फिर उन्होंने सोचा कहीं ऐसा न हो कि प्राण ही निकल जायें, छोड़ दिया। जब वह बाहर निकले तो घबराए हुए थे। उन्होंने पूछा कि जब तुम पानी के अन्दर थे तो तुम्हें कैसी अनुभूति हुई? उसने कहा, "ठाकुर, अनुभूति....अरे क्षण भर यदि आप बाहर न निकाले होते तो राम नाम सत् हो गया होता।" अब स्वामी जी ने

कहा कि जितनी व्याकुलता बाहर श्वास लेने की तुम्हें थी उतनी व्याकुलता जब तुम्हारे हृदय में होगी तो तुम्हें भगवान् के दर्शन होंगे। लोग दो दिन माला फेरते हैं तो सोचते हैं कि भगवान् दिखाई नहीं दिए इसलिए भगवान् है ही नहीं। अरे भले आदमी, हो कहाँ से? अभी तो संसार का रस मिल रहा है, जब संसार का रस नीरस लगने लगे तब समझो कि परमात्म रस की अनुभूति का अवसर आने वाला है। अभी तो संसार में रस मिल रहा है तो जरूरत क्या पड़ी है उकताने की कि भगवान् नहीं मिले। नारद जी कहते हैं पहले तो समपूर्ण आचार-विचार को प्रभु को समर्पित करो फिर ऐसी स्थिति आ जाये कि एक क्षण की भी विस्मृति मृत्यु के समान दुःखद हो। आगे नारद जी कहते हैं—

**अस्त्येवमेवम्।** —ना०भ०सू० २०

ऐसा ही ठीक है, यानी यही भक्ति का सही स्वरूप है कि भगवान् को सम्पूर्ण क्रियाकलाप समर्पित कर दें और उनकी क्षण मात्र की विस्मृति परम व्याकुलता उत्पन्न कर दे, यही भक्ति का लक्षण है। यही नहीं बल्कि चारों मिला करके पूजा के प्रति अनुराग, भगवान् के चरित्र श्रवण के प्रति अनुराग, आत्मा के अविरोधी तत्त्वों के प्रति अनुराग और सारे क्रियाकलाप उसे समर्पित करने के उपरान्त उसकी एक क्षण की विस्मृति भी सही न जाए, यह भगवान् की भक्ति है। चैतन्य महाप्रभु, मीरा, सूर, तुलसी, कबीर आदि ऐसे अनेकों भगवान् के भक्त हुए हैं जिन्होंने इस प्रकार का जीवन जीया है। एक क्षण के लिए भी नाम की विस्मृति उनके लिए मृत्युवत् पीड़ाप्रद होती थी। अस्त्येवमेवम् ठीक ऐसा ही भक्ति का यथार्थ स्वरूप है। नारद जी से पूछा गया—"जैसा तुम कहते हो क्या ऐसा कोई गृहस्थाश्रम में रहकर कर सकता है?" बोले—"क्यों नहीं कर सकता? प्रमाण है?"

**यथा व्रजगोपिकानाम्॥**

जैसे व्रज की गोपिकाएँ। श्रीमद्भागवत में आया है कि व्रज की गोपियाँ झाड़ू लगाते समय, भोजन करते समय, गाएँ दुहते समय, बर्तन मलते समय, दही बिलोते समय, सोते समय और जागते समय एक क्षण के लिए भी कृष्ण को नहीं भूलतीं। काम सारा कर रही हैं लेकिन सारा क्रियाकलाप कृष्ण के लिए हो रहा है इसलिए एक क्षण के लिए भी कृष्ण विस्मृत नहीं हो रहे उनसे इसलिए उन्होंने व्रज की गोपियों का उदाहरण दिया। सारे तो गोपियों के समान नहीं हो सकते। क्रम से चलें-पूजा आदि में अनुराग हो जाए, श्रवण-भक्ति में रुचि हो जाए, फिर धीरे-२ जैसे-२ साधना आगे बढ़ेगी वैसी स्थिति भी आ जाएगी। यह तो उच्चावस्था

में पहुँचे हुए साधक की स्थिति है। जब व्रज की गोपिकाओं में यह प्रेम तत्त्व जागृत हुआ तो साकार कृष्ण विद्यमान थे लेकिन अब तो साकार कृष्ण उपस्थित नहीं हैं। इस कलियुग में यह कैसे सम्भव हो सकता है? इस युग में भी अनेकों उदाहरण हैं—तुलसी, कबीर, नानक, मीरा तो इसी युग में हुए हैं। उन्होंने भी भक्ति के इसी स्वरूप को व्यक्त किया है अखण्ड स्मृति के साथ। उन्होंने जीवन में काम नहीं कियाा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। तुलसी को ही देख लीजिए, कितने ग्रन्थों की रचना की है!

एक दिन एक महात्मा समझा रहे थे कि एक नारी को सन्तान उत्पन्न करने में जितना कष्ट उठाना पड़ता है, मीरा के सारे जीवन का यदि कष्ट इकट्ठा किया जाए तो उतना कष्ट नहीं था लेकिन अनेकों सन्तानों को जन्म देने वाली नारी नारी रह जाती है मीरा नहीं बन पाती, कारण क्या है? कारण है-उद्देश्य। उसका उद्देश्य क्या होता है? मीरा का उद्देश्य क्या था? जब हमारा उद्देश्य परमात्मा के साथ सम्बन्धित हो जाता है तो हमारी क्रियाएँ भक्ति में परिणत हो जाती हैं, फिर उस अवस्था में कोई भी कष्ट हमारे लिए कष्ट नहीं होता। मीरा को ज़हर का प्याला दिया गया, उसके लिए ज़हर-ज़हर नहीं था, भगवान् का चरणामृत था। उसको कोबरा बन्द करके पेटी में भेजा गया, जब पेटी खोली गई, उसमें से ठाकुर जी की मूर्ति मिली। यह अभी की ही बात है, बहुत पुरानी नहीं है, इसमें मूल कारण भगवत् प्रेम था। उस प्रेम में विह्वल होने पर दुःख को कोई व्यक्ति दुःख नहीं समझता लेकिन जहाँ भगवत् प्रेम नहीं है वहाँ उनके लिए नरक से भी बढ़कर वह यातना, वह क्रियाकलाप और वह स्थिति हो जाती है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि संसार में जो लोग रहते हैं,वे कम दुःख नहीं उठाते, बहुत दुःख उठाते हैं लेकिन उन्हें उस दुःख का पुरस्कार मिलने वाला नहीं है। वह दुःख उनकी अज्ञानता का परिणाम होता है और जिन्होंने भगवान् के लिए दुःख उठाया वह दुःख तो उनके लिए दुःख होता ही नहीं। दुनिया देखती है कि बड़ा दुःख उठाया है इसने लेकिन उनके लिए दुःख नहीं होता, वे तो आनन्द में रहते हैं। प्रह्लाद को देखते-देखते उठा कर समुद्र में फेंक दिया गया, उसके लिए समुद्र समुद्र नहीं था, उसको हाथी के नीचे डाल दिया गया परन्तु उसके लिए हाथी काल नहीं था।

अभी इस युग की बात है, आप लोगों ने शायद कहानी सुनी होगी—जयपुर में राजा जयसिंह थे। उनकी पत्नी थी महारानी रत्नावली। वह भगवान् की अनन्या भक्ता थी। वह हमेशा भगवान् के प्रेम में निमग्न रहती थी। राजा थोड़े

दिन बाद उसके उस व्यवहार से नाराज रहने लगा। उसने रानी से कहा—"मुझे तुम्हारी इतनी भक्ति प्रिय नहीं है।" रानी धीरे-२ भगवान् की तरफ इतनी विमुग्ध हो गई कि उसकी श्रृंगार में अनुरक्ति समाप्त हो गई। राजा ने एक दिन अपने आदमियों से पूछा कि "इस देवी का क्या किया जाए जिससे हमें इसका दुःख भी न हो और छुटकारा भी मिल जाए?" उन्होंने कहा—सरकार, इसके लिए तो एक सरल सा उपाय है। क्या उपाय है? कहा—"हमारे बाग में पिंजरे में एक शेर है। शेर लाकर छोड़ दिया जाए तो अपने आप रानी का काम तमाम हो जाएगा और इससे आपको छुटकारा मिल जाएगा, इसमें इतना सोचने वाली क्या बात है।" राजा ने कहा, बड़ी अच्छी बात है। शेर लाया गया और राजमहल में छोड़ दिया गया। रानी गोबिन्द जी के मन्दिर में पूजा करने जा रही थी तो देखा वहाँ शेर था। शेर को देखते ही रानी पूजा की थाली लेकर शेर की तरफ दौड़ी—"वाह प्रभो! आज तो आप नृसिंह रूप में आए हैं। आज तो मेरा सौभाग्य है जो आपने मुझे इस रूप में दर्शन दिया।" उसने उस शेर की पूजा की, हार पहनाया, आरती उतारी, तिलक लगाया। उसकी दृष्टि में तो वह नृसिंह भगवान् थे शेर नहीं था। शेर ने उसे कुछ नहीं कहा और वह जब पूजा करके, प्रणाम करके उसकी स्तुति कर रही थी तो राजा ने उसे देखा, अपने आपको धिक्कारा और बाद में आकर उसके चरणों में गिर गया, "देवी! क्षमा कर दे मुझे।" उसने कहा—"आज तो आपने मेरे पर दया करके मुझे नृसिंह भगवान् का दर्शन करवा दिया, कोई अपराध तो किया नहीं।" यह थी रानी रत्नावली की स्थिति।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि जो लोग सर्वरूप में भगवान् की अनुभूति करने लगते हैं, वे सबके हृदय में विराजमान भगवान् को ही देखते हैं, प्रत्येक स्थिति में भगवान् को देखते हैं, उनके लिए भगवान् केवल मूर्ति रूप में नहीं रह जाता बल्कि जो कुछ भी है, सब भगवत् स्वरूप है, इसलिए उनकी अखण्ड स्मृति बनी रहती है। उन्हें जब भगवत् स्वरूप की विस्मृति होती ही नहीं तो उन्हें व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं है। इसको अखण्ड स्मृति कहते हैं।

मेरा कहने का अभिप्राय, जो लोग गृहस्थी हैं वे नहीं कर सकते और जो महात्मा हैं वही कर सकते हैं, ऐसी कोई खास बात नहीं है, बहुत गृहस्थों ने किया है, लाखों महात्मा घूम रहे हैं, उनसे नहीं हो रहा। यह तो किसी से भी हो सकता है। भगवान् की भक्ति किसी के हिस्से की नहीं है। कोई भी व्यक्ति भाव से युक्त होकर भगवान् का स्मरण कर सकता है और उसे प्राप्त कर सकता है। यहाँ पर नारद जी ने जिसका उदाहरण दिया है, वे गृहस्थ देवियाँ हैं—'यथा व्रजगोपिकानाम्'।

वे व्रज की गोपिकाएँ हैं जो कि प्रतिपल भगवान् की स्मृति अपने साथ संजोए हुए हैं। अगले सूत्र में नारद जी ने कहा है कि व्रज की गोपिकाएँ भगवान् का स्मरण करती थीं या कृष्ण का? भगवान् या कृष्ण माने? कहा—उस समय कृष्ण तो एक बालक थे, कृष्ण भगवान् हैं या नहीं हैं, इसका उन्हें पता था या नहीं? नारद जी कहते हैं—

**न तत्रापि माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः॥**

*—ना०भ०सू० २२*

भगवत् प्रेम में महात्म्य ज्ञान की विस्मृति का अपवाद नहीं है। व्रज की गोपाङ्गनाएँ जानती थीं कि यह भगवान् हैं। उनको यह नहीं पता था कि कृष्ण एक बालक हैं, सुन्दर हैं, इसलिए उससे प्यार करती थीं। यदि यह पता न होता फिर तो उनका प्रेम ज़ार का प्रेम हो जाता। ज़ार माने व्यभिचारी का प्रेम। परमात्मा की महिमा का यदि बोध न हो फिर तुम प्रेम कैसे करोगे? गोपिकाएँ जो अपनी प्रत्येक क्रिया में—

**दर द्वार दर्पण भयो जित देखहुँ तित तोहे।**
**कांकर पात्थर ठीकरो भयो आरसी मोहे॥**

कंकर में, पत्थर में, ठीकरे में भी कृष्ण को ही देखती हैं। वह भी आरसी माने शीशा हो गई हैं। जैसे शीशे में मुँह दिखाई देता है वैसे उन्हें हर पदार्थ में कृष्ण दिखाई दे रहा है।

**जित देखौं तित स्याममई है।**

सूरदास जी ने उनकी भावनाओं को लिखा है। यही बात श्रीमद्भागवत में गोपिकाओं ने कही है—'' श्रीकृष्ण हमारे लिए कोई मनुष्य नहीं हैं, वे परमात्मा हैं।'' कृष्ण की महिमा का उन्हें बोध है इसलिए वे कृष्ण को सर्वत्र देख रही हैं। यदि बोध न होता तो कृष्ण को सर्वत्र न देख पातीं। इसलिए बताया गया कि पहले परमात्मा की महिमा को समझो, परमात्मा की सर्वव्यापकता को जानो, यदि ऐसा नहीं है तो तुम्हें परमात्मा को प्रतिपल देखने की स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती।

उपनिषद् में एक कथा है कि गोपिकाएँ कात्यायनी देवी की पूजा करती थीं और आराधना में उन्होंने कार्तिक महीने का व्रत किया। व्रत के पारण में उन्होंने निश्चय किया कि हम किसी ब्राह्मण को या ऋषि को भोजन करा कर व्रत का पारण करेंगी। उन्हें पता चला कि दुर्वासा ऋषि यमुना पार आए हैं तो उन्होंने निश्चय किया कि हम यमुना के पार जाकर दुर्वासा ऋषि को भोजन करायेंगी। गोपिकाओं ने सुन्दर-२ पकवान बनाए और सारा सामान लेकर वे यमुना के

किनारे गईं तो यमुना बढ़ी हुई थी। विचार करने लगी कि यमुना कैसे पार की जाए, इतने में श्यामसुन्दर वहाँ पहुँच गए और पूछा—"देवियो! तुम लोग कहाँ जा रही हो।" उन्होंने कहा—"हमने सुना है कि दुर्वासा ऋषि यमुना पार बैठे हुए हैं, आज हमारे व्रत का पारण है इसलिए हम उन्हें भोजन कराने जा रही थीं परन्तु यमुना जी में तो पानी बहुत है, हम कैसे जा सकती हैं?" भगवान् ने मुस्कराते हुए कहा—"तुम यमुना जी से कहो कि यदि कृष्ण बाल-ब्रह्मचारी हों तो आप हमें रास्ता दे दें।" गोपिकाएँ हँसने लगी—"वाह रे ब्रह्मचारी जी! आप कितने ब्रह्मचारी हो यह तो हम लोग जानती हैं।" उन्होंने कहा—"नहीं, मैं मज़ाक नहीं करता, तुम लोग कह कर देखो तो सही।" एक गोपी ने कहा—"अपन करके देखें, इसमें जाता क्या है अपना।" सब ने यमुना जी के सामने जाकर प्रार्थना की—"भगवती! यदि हमारे कृष्ण बाल ब्रह्मचारी हों तो आप हमें रास्ता दे दो।" इतना कह कर उन्होंने ज्योंहि यमुना जी में प्रवेश किया, यमुना जी में जल कम हो गया और उन्हें रास्ता मिल गया। वे बड़ी हैरान हुईं और यमुना पार कर गईं, वहाँ जाकर उन्होंने सारे पकवान दुर्वासा जी के सामने बारी-बारी से रख दिए। दुर्वासा जी ने जब उन्हें देखा तो पूछा—"देवियो! कहो, कैसे आई हो?" उन्होंने कहा, "हमने कात्यायनी देवी की आराधना की है और भगवती ने प्रसन्न होकर हमें वरदान दिया है। आज पारण का दिन है तो आपकी सेवा में हम प्रसाद लाई हैं। आप भोग लगा लें तो हम लोग अपने व्रत को सफल समझेंगी।" दुर्वासा ऋषि ने कहा—"बहुत अच्छी बात है, लाओ रख दो।" अब जो कुछ वे ले गई थीं, सब खा गए। जब सारा का सारा भोजन उन्होंने पा लिया तो देवियों ने कहा—"भगवन्! हम आते समय तो यमुना पार कर आई लेकिन अब बड़ी मुश्किल हो गई है, सायंकाल का समय हो गया है, हमारे पति लोग आते होंगे, गऊओं के बच्चे भी भूखे होंगे, और काम भी है इसलिए हमें लौट कर जाना है। हम आपसे प्रार्थना करतीं हैं, हमें कोई ऐसा तरीका बतावें जिससे हम यमुना पार कर जावें।" ऋषि ने पूछा—"तुम लोग आए कैसे?" उन्होंने बताया—"कृष्ण ने हमें जैसे कहा, हमने वैसे कह दिया तो यमुना जी ने हमें रास्ता दे दिया।" दुर्वासा ऋषि ने कहा—"अच्छी बात है, अब तुम लोग यमुना जी से कहो कि यदि दुर्वासा ऋषि केवल दुर्वा दल का सेवन करते हैं तो यमुना जी हमारे लिए रास्ता दे दें तो यमुना जी तुम्हें रास्ता दे देंगी।" यह बात जब गोपियों ने सुनी तो वे हैरान हो गईं कि "जो कुछ हम लोग प्रसाद लाई थीं सब महाराज जी ने खा लिया, हमारे बच्चों के लिए प्रसाद भी नहीं छोड़ा और ऊपर से कह रहे हैं कि यदि दुर्वासा केवल दुर्वा

दल खाकर रहते हैं तो आप हमें रास्ता दे दो। यह कैसे सम्भव हो सकता है?'' परन्तु उनसे पूछने की हिम्मत कौन करे, वे तो बहुत क्रोधी ऋषि थे। गोपियाँ एक-दूसरे का मुँह देखने लगीं। उपनिषद् में कथा है कि गन्धर्वी नाम की एक गोपी थी, वह समस्त गोपियों में श्रेष्ठ थी। उसको सबने आगे किया कि ''देवी! तू प्रश्न कर सकती है।'' गन्धर्वी ने आगे बढ़ कर दुर्वासा को प्रणाम किया और कहा कि ''प्रभो! मेरे को इस रहस्य का पता नहीं चला कि कृष्ण कैसे बालब्रह्मचारी हैं और आप कैसे दुर्वाहारी हैं?'' तब वहाँ पर दुर्वासा ऋषि ने तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। उस उपनिषद् को गोपालतापनी उपनिषद् कहते हैं। १०८ उपनिषदों में यह एक प्रमुख उपनिषद् है, जिसके ऊपर निम्बार्क सम्प्रदाय प्रतिष्ठित है। हमारे जितने आचार्य हैं, सबके अलग-२ उपनिषद् हैं। जैसे-महानारायणोपनिषद् रामानन्द सम्प्रदाय का आधार है। माण्डूक्योपनिषद् शंकर सम्प्रदाय का आधार है, तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ल्भ सम्प्रदाय का आधार है, ऐसे गोपालतापनी उपनिषद् निम्बार्क सम्प्रदाय और चैतन्य का आधार है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि उस समय दुर्वासा ऋषि ने जिस तत्त्वज्ञान की विवेचना की है, उसमें बताया है कि हम तुम्हारे भोजन को खाने वाले नहीं और कृष्ण तुम्हारे साथ विहार करने वाले नहीं हैं। विहार कौन करता है, खाता कौन है, इसकी विवेचना की और कहा कि इस तत्त्व ज्ञान को हम जानते हैं, इस तत्त्वज्ञान में कृष्ण रहते हैं इसलिए न तो उन्हें कहीं आसक्ति है, न तो उनमें कर्तापन है और न ही हमारे में कहीं भोक्तापन है। जो इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है वह कर्ता और भोक्तापन से विमुक्त हो जाता है। यही बात भगवान् ने गीता के चौथे अध्याय में कही है—

**जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।**

*—गीता ४/९*

''हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दोनों दिव्य हैं। हम सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते। जिसने इस तत्त्व को जान लिया है वह भी मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है, वह भी समस्त कर्मों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।'' यह जो भगवत् स्वरूप का बोध है, यह गोपिकाओं को महर्षि दुर्वासा से मिला। महर्षि दुर्वासा के विवेचन के पश्चात् गोपिकाओं को यह बोध हो गया कि कृष्ण पारब्रह्म हैं, परमात्मा हैं, वे समस्त कर्मों से अलिप्त हैं और असंग हैं, उनके प्रति अनुराग करके वे गोपिकाएँ प्रतिपल अपनी प्रत्येक क्रिया में कृष्ण का दर्शन करती रही हैं इसलिए यहाँ पर बताया—

**न तत्रापि माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः।**

—*ना०भ०सू० २२*

गोपिकाओं में कृष्ण के महात्म्य ज्ञान की विस्मृति का अपवाद नहीं था। जहाँ परमात्मा के महात्म्य ज्ञान की विस्मृति नहीं होती, वह परमात्मा की स्मृति के साथ परमात्मा से एक हो करके परमात्म भाव को प्राप्त हो जाता है। इसी बात को भगवान् कृष्ण ने बार-२ गीता में समझाया है—

**मम साधर्म्यमागताः।** —*गीता १४/२*

**मद्भावायोपपद्यते ।** —*गीता १३/१८*

"मेरा भक्त मेरे को जान कर मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है। जिस भाव को मैं पाया हूँ, इसी भाव को वह भी प्राप्त हो जाता है। मेरे में वह तन्मय हो जाता है।" जिसे प्रभु की महिमा की स्मृति बनी रहती है, वह कभी भी उस रास्ते से विचलित नहीं होता और यहाँ पर आगे नारद जी बता रहे हैं कि यदि विस्मृति का अपवाद हो जाए तो—

**तद्विहीनं जाराणामिव॥**

—*ना०भ०सू० २३*

"उसके अभाव में तो ज़ार की भक्ति हो जाएगी।" फिर तो गोपियों का प्रेम ज़ार का प्रेम हो जाएगा। ज़ार प्रेम माने व्यभिचारी वृत्ति। पर पुरुष के साथ प्रेम को ज़ार प्रेम कहते हैं। हम यह कैसे मानें कि गोपियों का प्रेम ज़ार प्रेम नहीं था। इसके लिए नारद जी अगले सूत्र में कहते हैं—

**नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्॥**

—*ना०भ०सू० २४*

ज़ार प्रेम और सही प्रेम में अन्तर होता है। ज़ार भाव से प्रेम करने वाला कभी भी अपने प्रेमी के सुख में सुखी नहीं होता। अपने सुख के लिए वह दूसरों से प्यार करता है। इसका विवेचन चैतन्य महाप्रभु ने किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में बताया है कि काम और प्रेम में क्या अन्तर होता है। स्त्री भी वही काम करती है, भक्त भी वही काम करता है। स्त्री और भक्त में क्या अन्तर है? उन्होंने इसका विवेचन इस प्रकार किया है—

**निज सुख भोग इच्छा तार नाम काम।**
**कृष्ण सुख भोग इच्छा धरे प्रेम नाम।**

जहाँ अपने को सुखी बनाने की कामना हो, वह काम है। जहाँ पर अपने सुख की इच्छा नहीं है बल्कि प्रियतम को सुख प्रदान करने की अभिलाषा है, उसे प्रेम

कहते हैं इसलिए—

**कामेव तात्पर्य निज सुख केवल। कृष्ण सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥**

काम में केवल अपने सुख को ध्यान में रखा जाता है। अपने को चाह हुई तो प्रेम कर लिया अपने को चाह नहीं हुई तो नहीं सही लेकिन वहाँ पर तो अपने प्रियतम के सुख की चाह है-यह है काम और प्रेम में अन्तर! आखिर में उन्होंने कहा—

**अतैव काम प्रेम बहु अन्तर। काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर॥**

काम तो घोर अन्धकार है और प्रेम उदय होता हुआ सूर्य है।

हमें एक पुराण में पढ़ने को मिला कि बहुत वर्षों बाद भगवान् कृष्ण एक बार वृन्दावन लौटे। उस समय श्री राधिका जी अपनी सखियों के साथ प्रभु प्रेम में निमग्न थीं, उन्हें बहुत वर्ष हो गए थे अपने को संवारे हुए और न ही उन्होंने अपने केशों को कभी संवारा-सजाया ही था, क्योंकि देखने वाला ही नहीं तो सजायें-संवारे किस के लिए? बालों की लट बन गई थी, शरीर पर धूल उड़कर जम गई थी, केवल कृषकाय रह गई थी। 'हा कृष्ण' के सिवाय उनकी कोई गति नहीं थी। इस स्थिति में किशोरी जी विराजित थीं। इतने में पता चला कि भगवान् श्रीकृष्ण आ गए हैं। सभी को था कि यह दौड़ पड़ेंगी और उनसे लिपट जाएंगी लेकिन जब किशोरी जी को उनके आने का समाचार मिला तो उन्होंने सखियों से कहा कि जाकर फाटक पर खड़ी हो जाओ, किसी को अन्दर न आने देना। पूछा—यदि प्रभु आ जाएं तो? कहा—प्रभु को भी बाहर ही रोकना। सखियों से उन्होंने कहा कि जल्दी से मेरी लट खोलो और मेरा श्रृंगार करो। क्यों, कारण क्या? कहा—कारण यह कि कहीं ऐसा न हो कि कृष्ण मेरी इस अवस्था को देख लें, यदि देख लिया तो दुःखी होंगे यदि मेरी किसी भी क्रिया से कृष्ण को दुःख होता है तो मेरा प्रेम नहीं है मेरा स्वार्थ है। इसलिए किशोरी जी ने अपना श्रृंगार करवाया, जब वे तैयार हो गईं तब प्रसन्न मुद्रा में उन्होंने कहा कि अब श्याम सुन्दर को बुलाओ। कृष्ण आते हैं तो उनकी आरती उतारती हैं, उनका स्वागत करती हैं। यह है प्रेम की कहानी। वहाँ तो अपने सुख की चाह ही नहीं है। वहाँ तो कृष्ण के सुख की चाह है, कहीं इस अवस्था में देख कर उन्हें यह न लगे कि मैं उनके वियोग में इतनी दुःखी थी। यह है काम और प्रेम में अन्तर! इसलिए यहाँ बताया—

**नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्॥**

—ना०भ०सू० २४

जो ज़ार भाव का प्रेम होता है, वह तो अपनी इन्द्रियों की पूर्ति के लिए होता है प्रेम के लिए नहीं। जहाँ समर्पण की भावना है, अपने प्रियतम को ही प्रमोद प्रदान

करने की भावना है, वहाँ पर तो ज़ार भाव रहता ही नहीं, वहाँ तो दिव्य प्रेम भाव हो जाएगा। जहाँ दिव्य प्रेम भाव हो वहाँ कोई पाप नहीं है, पाप तो जार भाव में है। जहाँ अपनी वासना पूर्ति के लिए पर पुरुष का संसर्ग है, वह पाप है। जहाँ पर प्रिय को प्रमोद प्रदान करने की भावना है, वहाँ पाप नाम की कोई चीज़ नहीं है। वहाँ तो पर पुरुष की भावना ही नहीं है। वहाँ तो पर कोई है ही नहीं। वहाँ तो केवल अपना प्रियतम है और आप है, इसलिए हमारे यहाँ स्वकीया और परकीया दो प्रकार से राधा-कृष्ण की उपासना की जाती है। यह प्रश्न किया जाता है कि राधा जी का कृष्ण से सम्बन्ध स्वकीया है या परकीया? एक सम्प्रदाय मानता है कि राधा जी का कृष्ण से स्वकीया सम्बन्ध है यानी उनकी वह धर्मपत्नी हैं और ब्रह्मा ने राधा और कृष्ण का विवाह करवाया है। एक सम्प्रदाय कहता है कि नहीं स्वकीय भाव में प्रेम की वृद्धि नहीं होती। स्वकीया होते हुए परकीय भाव है। विवाहित हो गए तो एक-दूसरे से जो प्रेम होगा वहाँ स्वकीय भाव होगा, अधिकार होगा और जहाँ विवाहित न होते हुए आपस में प्रेम हो, वह परकीय भाव है, वहाँ अधिकार नहीं, समर्पण होता है। यह विवेचन बहुत सूक्ष्म है, कल बताएँगे।

**हरि ॐ तत्सत्।**

# ८

मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! कल आप लोगों को भक्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुए समझाया गया था कि भक्ति में महात्म्य ज्ञान की विस्मृति का स्थान नहीं है। परमात्मा के महत्त्व को समझ करके ही भक्ति की जाती है। यह बात सदैव याद रखनी चाहिए कि यदि परमात्म तत्त्व का बोध न हो तो भक्ति नहीं होती। तुलसीदास जी ने इसके विषय में कहा है—

**जाने बिनु भगति न, जानिबो तिहारे हाथ।**

—वि०प० २५१

"हे प्रभो! बिना जाने भक्ति नहीं होती, वह जानना तुम्हारे हाथ में है।" इसी बात को उन्होंने रामायण में भी कहा है—

**जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीति॥**

—रा० ७/८९-७

जहाँ भक्ति को प्राप्त करने की बात कही है वहाँ पर यह भी कहा है—

**मर्मी सज्जन सुमित कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥**
**भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥**

—रा० ७/१२०-१५

ज्ञान, वैराग्य के अभाव में भक्ति की साधना नहीं हो सकती। दूसरी जो उन्होंने सिद्धान्त के विषय में बात बताई है कि—

**श्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।**

—रा० ७/१००

विरति और विवेक से युक्त जो भक्ति है, वही शास्त्रीय भक्ति है, वही वैदिक भक्ति है। जो विवेक और वैराग्य से रहित भक्ति है, वह वेद प्रतिपादित भक्ति नहीं है, वह श्रुति सिद्धान्त नहीं है, ऐसा उनका कथन है। इन सारे प्रमाणों से ज्ञात होता है कि भगवान् की भक्ति में यदि भगवत् स्वरूप का ज्ञान नहीं है तो यथार्थ भक्ति नहीं होती। जो गोपिकाओं का उदाहरण दिया गया है, उसमें बताया गया है कि गोपिकाओं में अत्यन्त प्रेम था, अत्यन्त अनुरक्ति थी लेकिन उस अनुरक्ति में भगवान् के स्वरूप की स्मृति थी, भगवान् की भगवत्ता का बोध था, इसलिए जब उद्धव आदि संत समझाने आते हैं तो उन्होंने वहाँ पर सगुण–साकार उपासना का प्रतिपादन किया है। यदि ऐसा न हो तो क्या होगा?

**तद्विहीनं जाराणामिव॥** —ना० भ० सू० २३

यदि गोपिकाओं को बोध न होता कि ये भगवान् हैं तो उसके अभाव में जार की भक्ति हो जाती। इस विषय में आपको एक पुराण की कथा सुनाऊँ। जिस समय भगवान् रासलीला के प्रारम्भ में बंसी बजाते हैं और उनकी बंसी की ध्वनि सुन करके सभी व्रज–बालाएँ अपने–अपने घरों से भाग कर आ जाती हैं। आधी रात का समय है, भगवान् ने आते ही पूछा कि देवियो! तुम लोग अपने–२ घरों को त्याग करके आधी रात में यहाँ कैसे आ गईं? उन्होंने कहा कि प्रभो! आपने पुकारा और हम आ गईं। कहा—नहीं, यह तो पातिव्रत्य के बिल्कुल विपरीत आचरण है कि तुम लोग अपने पतियों का त्याग करके, परिवारों का त्याग करके अर्धरात्रि को यहाँ आई हो। यह बिल्कुल पाप है और धर्म विरोधी आचरण है। भगवान् बार–२ उनसे कह रहे हैं कि तुम लौट जाओ, यहाँ अर्ध रात्रि में तुम लोगों का रहना ठीक नहीं है लेकिन वे सब मौन खड़ी हैं, कोई पीछे जाने के लिए तैयार नहीं है क्योंकि कृष्ण को प्राप्त करने के लिए ही उन्होंने एक महीने का व्रत किया था और कात्यायनी की उपासना की थी। कात्यायनी ने उनको यह आशीर्वाद भी दिया था कि कृष्ण तुम्हें प्राप्त होंगे इसलिए अब कोई देवी घर जाने को तैयार नहीं है।

एक बात बता दूँ, हमारे यहाँ प्राचीन ग्रन्थों में कहीं 'राधा' शब्द का प्रयोग नहीं है। जहाँ भी कहीं ऐसा आया है वहाँ कहा है एक गोपी। जैसे कल के प्रसंग में मैंने सुनाया था कि उपनिषद् में उन्हें गान्धर्वी कहा गया है। ऐसे ही श्रीमद्भागवत में एक देवी–एक गोपी है। वह एक कौन है? उसके विषय में बहुत से महापुरुषों के व्याख्यान हैं। एक वही हो सकता है जो अद्वितीय हो और उसको आगे चलकर राधा कह कर बुलाया है। उसमें से एक देवी आगे बढ़कर भगवान् से प्रश्न करती है। भगवान् पहले उसे पातिव्रत्य की कथा सुनाते हैं। एक पतिव्रता स्त्री है जो

अपने पति की सेवा करती है। पति सो गया है और उसका सिर उसकी गोद में पड़ा हुआ है, उसका एक छोटा बच्चा वहाँ खेलता हुआ घूम रहा है। बगल में अग्नि कुण्ड पड़ा हुआ है। पतिव्रता स्त्री यह देख रही है कि बच्चा अग्निकुण्ड की तरफ जा रहा है परन्तु यह सोच रही है कि यदि मैं इस समय दौड़ कर बच्चे को उठाती हूँ तो मेरा पति जग जाएगा। पति जग जाए, यह उचित नहीं है इसलिए बच्चा भले अग्नि में गिर जाए लेकिन पति को मैं जगाऊँगी नहीं, इनके आराम में विघ्न नहीं आये क्योंकि यह मेरा पातिव्रत धर्म है। वह यह निश्चय करके पति के सिर को गोद में लेकर बैठी रही और पति विश्राम करता रहा। बच्चा ज्योंहि अग्निकुण्ड में गिरता है तो पातिव्रता के भय से कि कहीं यह श्राप न दे दे अग्नि उस बच्चे के लिए शीतल हो जाता है यानी अग्नि उस बच्चे को जलाता नहीं, वह बच्चा सुरक्षित रहता है। यह महत्त्व है पतिव्रता का! इतने महत्त्वपूर्ण पातिव्रत धर्म का त्याग करके यहाँ तुम लोग आधी रात में मेरे पास आई हो, यह उचित नहीं किया।

भगवान् के इस उपदेश को सुनकर भी सभी गोपियाँ शान्त हैं। कोई लौटने के लिए तैयार नहीं है। उनमें से एक गोपी आगे बढ़ कर भगवान् से प्रश्न करती है—''भगवन्! एक मेरा प्रश्न है, यदि आप इसका उत्तर दे देंगे तो हम लोग आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए तैयार हैं। जो आप कहेंगे हम वही करेंगी।'' भगवान् ने कहा—क्या प्रश्न है तुम्हारा? गोपी ने कहा—प्रभो! एक ब्राह्मण था। उसकी स्त्री बड़ी ही पतिव्रता थी। अपने पति के चरण धोए बिना, उसका चरणामृत लिए बिना, वह कभी जलपान नहीं करती थी। दैवयोगवश उसके पति को कुछ काल के लिए उससे अलग हो जाना पड़ा। उस स्त्री ने उससे निवेदन किया कि प्रभो! आप तो जा रहे हो और मैं आपके चरणामृत के बिना जलपान नहीं करती, आपके बिना कैसे जीवन बिताऊँगी? उस व्यक्ति ने मृतिका की अपनी मूर्ति बना कर उसे दे दी कि जब तक मैं न आऊँ तो तुम इस मूर्ति की सेवा, पूजा किया करना। इसको भोजन करवा कर भोजन करना, इसको स्नान करवा कर चरणामृत लेना, ठीक है ना? इतना कहकर वह ब्राह्मण चला गया। वह स्त्री उस मूर्ति की उपासना के माध्यम से अपने पति का चिन्तन करती रही। एक दिन की बात है कि घर में किवाड़ बन्द करके मूर्ति की पूजा कर रही थी। मूर्ति को स्नान कराया और कपड़े पहनाने जा रही थी कि इतने में उसके पति ने आकर दरवाजा खटखटाया। शास्त्र कहता है कि यदि आपने किसी मूर्ति की पूजा आरम्भ की है तो मूर्ति को स्नान करा कर उसे नग्न नहीं छोड़ना चाहिए। यदि छोड़ते हैं तो घोर पाप होता है। आप ही बताइए कि अब उस औरत को दौड़ कर दरवाजा

खोलना चाहिए या फिर मूर्ति को वस्त्र पहनाना चाहिए?'' भगवान् ने कहा—देवियो! यह तो एक नासमझ व्यक्ति भी जानता है कि यदि असली पति उसका आ गया है और वह दरवाजा खोलने के लिए आवाज़ लगा रहा है तो भला वह मूर्ख नारी मिट्टी के पति की पूजा में क्यों अपना मन लगाए बैठी है? उस गोपी ने कहा—भगवन्! एक सामान्य सा आदमी तो इसे जानता है, पता नहीं आप क्यों नहीं इसे जानते? क्या यह सत्य नहीं कि अभी तक जिसकी सेवा में, जिसकी पूजा में हम लोगों को लगाए थे, वे हमारे नकली पति हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि आप ही हम सबके असली पति हैं? यह प्रश्न किया उन्होंने तो भगवान् के पास इसका कोई उत्तर नहीं रहा। भगवान् ने उनके यथार्थ भाव को देखकर फिर आवाह्न किया और रासलीला प्रारम्भ की।

मेरा कहने का अभिप्राय है कि गोपिकाओं को भगवान् के महात्म्य-ज्ञान का बोध था। वे जानती थीं कि कृष्ण पुरुषोत्तम हैं। यदि उन्हें ज़रा भी सन्देह होता तो उनका प्रेम ज़ार का प्रेम होता और वे कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए हरेक प्रकार की क्रिया में प्रवृत्त न होतीं क्योंकि ज़ार भाव में पुरुष के सुख में सुखी होने की चाह नहीं होती। वहाँ तो अपने सुख के लिए, अपनी ऐन्द्रिक मांग की पूर्ति के लिए पर-स्त्री या पर-पुरुष से प्रेम किया जाता है। नारद जी कहते हैं कि गोपिकाओं में तो अपने प्रियतम को प्रमुदित करने की भावना थी। उनका सारा क्रिया-कलाप प्रभु को समर्पित था। कृष्ण के सिवा उनके जीवन में कोई दूसरा नहीं था। इसी बात को तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में लिखा है—

**गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जाने दृढ़ सेवा॥**

''गुरु, पिता, माता, बन्धु, पति जो कुछ भी है, सब को मेरे स्वरूप में देखता हुआ और सब कुछ मेरे को ही समझता हुआ दृढ़ भाव से उनकी सेवा करे'' और—

**मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥**

''मेरा स्मरण करते हुए, मेरा गुणानुवाद गाते हुए उसके नेत्रों से जल बहने लगे, वाणी गद्‌गद हो जाए, शरीर पुलकित हो जाए तथा''

**काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥**

''जिसके हृदय में काम आदि किसी प्रकार के दम्भ वा पाखण्ड के लिए गुँजाइश नहीं है'', अर्थात् विशुद्ध प्रेम जहाँ पर है ''हे तात! मैं उसी के वश में होता हूँ,'' यह भगवान् का कथन है। गोपिकाओं का इसी प्रकार का निश्छल प्रेम है। वहाँ कपट नहीं है, वहाँ दम्भ नहीं है, वहाँ पाखण्ड नहीं है, वहाँ दिखावा नहीं है, वहाँ भ्रान्ति नहीं है, वहाँ स्वार्थ नहीं है, अतः वहाँ अपने सुख की लालसा नहीं है, इसलिए उनके विशुद्ध प्रेम को नारद जी ने आदर्श माना है—

**यथा व्रजगोपिकानाम्।**
**न तत्रापि माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः।**
**तद्विहीनं जाराणामिव।**
**नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्।**

*—ना०भ०सू० २१-२४*

इन चारों सूत्रों में उन्होंने इसकी विवेचना की है। पाँचवा सूत्र है

**सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥२५॥**

भक्ति कर्म से भी श्रेष्ठ है, ज्ञान से भी श्रेष्ठ है और योग से भी श्रेष्ठ है। इस विषय में भगवान् स्वयं प्रमाण हैं। गीता के छठे अध्याय में भगवान् ने स्वयं समझाया है कि—

**तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।**
**कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥**

*—गीता ६/४६*

''हे अर्जुन! जो तपस्वी है, उससे भी श्रेष्ठ भक्त-योगी है। ज्ञानी से भी श्रेष्ठ भक्त-योगी है तथा कर्मी से भी श्रेष्ठ भक्त-योगी है।'' कहा—किस प्रकार के योगी की भगवान् बात कर रहे हैं? भगवान् कहते हैं—

**योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।**
**श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥**

*—गीता ६/४७*

''जिसका मन, जिसकी आत्मा मेरे में लग गई है, जो श्रद्धा से अभिभूत होकर मेरी अखण्ड स्मृति रखता है, वही श्रेष्ठतम योगी है। मेरे मत से वही मेरा अनन्य भक्त है।'' इसी बात को दसवें अध्याय में भगवान् ने कहा—

**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**
**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥**

*—गीता १०/१०*

इसी प्रकार के योगी के विषय में १८वें अध्याय में भगवान् ने कहा—

**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।**
**समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥**
**भक्तया मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।**
**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥**

*—गीता १८/५४,५५*

इस प्रकार की जो भक्ति है, वह कर्म से भी श्रेष्ठ है। तुलसीदास जी ने लिखा है—

**छूटइ मल कि मलहि के धोए।**

जैसे मल के धोने से मल नहीं छूटता, जल के धोने से ही मल छूटता है, ऐसे वे कहते हैं—

**प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥**

*—रा० ७/४९-६*

"अन्तर का मल भक्ति रूपी जल से ही जा सकता है। कर्म रूपी मल से मल कभी नहीं छूटता।" गीता में भी भगवान् ने कर्मात्मा की अपेक्षा भक्त को श्रेष्ठ बताया है। कर्मात्मा को उन्होंने कामात्मा बताया है—

**कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।**
**क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥**

*—गीता २/४३*

भगवान् ने कहा है—"जिनकी बुद्धि हरी गई है, वे ही कर्म में आसक्त होते हैं। बुद्धिमान् कभी कर्म में आसक्त नहीं होता। कर्म मार्ग भगवत प्राप्ति का, मोक्ष प्राप्ति का मार्ग नहीं है।" तपस्वी से भी योगी श्रेष्ठ है क्योंकि तपस्वी अपने अहं को शुद्ध करने में लगा हुआ है, अपने प्रयत्न द्वारा अपना मल धोना चाहता है, अपने प्रयत्न से दोष नाश करने की भावना स्वयं अहंयुक्त है यानी उसमें सीमित अहं निहित है तभी तो 'मैं अपने मल को स्वयं नष्ट करूँगा' यानी 'मैं' वहाँ जीवित है अर्थात् जिस डार को काटना चाहता है, उसी पर बैठा है। जीवन में जितने दोष हैं सब अहं से ही हैं। यदि तुम उसी अहं को माध्यम बना कर किसी क्रिया विशेष में प्रवृत्त होते हो तो अहं का नाश कैसे होगा? योगी वह है जिसने अपने अहं को प्रभु को समर्पित कर दिया है। वहाँ न तपस्या करना है और न कुछ और करना है इसलिए वह तपस्वी से श्रेष्ठ है। योगी कर्मी से भी श्रेष्ठ है और ज्ञानी से भी श्रेष्ठ है। गीता के सातवें अध्याय में भी यह बात बताई गई है—

**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।**

*—गीता ७/१९*

"अनेक जन्मों के बाद फिर ज्ञानी आकर मुझे समर्पित होता है।" जैसे-जैसे ज्ञान होता जाता है वैसे-२ वह समर्पित होता जाता है, पूर्ण ज्ञान होने पर ही समर्पण होता है। जब पता है कि परमात्मा के सिवा हमारा कोई महत्त्व नहीं है तो हम अपने व्यक्तित्व को कैसे सुरक्षित रखेंगे और कहाँ तक रखेंगे? इसलिए ज्ञानी से

भी योगी श्रेष्ठ है। कौन सा योगी श्रेष्ठ है—

**योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।**

''जिसने पूर्ण रूप से मन और बुद्धि को मेरे में लगा दिया है। परमात्मा के सिवा जिसकी दृष्टि में कुछ है ही नहीं, ऐसे योगी के लिए भगवान् कहते हैं—'ते मे युक्ततमा मताः।' वह योगी युक्ततम है, सर्वश्रेष्ठ है।'' यहाँ पर उसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है—

**सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।** —ना०भ०सू० २५

भक्ति कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठतर है क्योंकि—

**फलरूपत्वात्।** —ना०भ०सू० २६

''वह भक्ति फलरूपा है।'' यानी ज्ञान-वैराग्य नयन हैं, भक्ति मणि है, सुमति कुदारी है जिसके द्वारा भक्ति मणि को खोदना है। तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में लिखा है—

**सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥**

—रा० १/३७-१४

यह एक बड़ा रहस्यमय विवेचन है, इसको आप ध्यान से समझिए। साधन का फल ज्ञान है और ज्ञान का फल मोक्ष है। मोक्ष का कोई फल नहीं होता। मोक्ष माने स्वतन्त्रता या बन्धनरहित स्थिति। दो विचारधाराएँ हैं—एक कहते हैं कि मोक्ष में व्यक्ति का अलग अस्तित्व होता है दूसरे कहते हैं कि नहीं होता। प्रश्न होता है कि यदि मोक्ष में व्यष्टि भाव नहीं है तो क्या है, यदि है तो यह आखिरी मंजिल है कि आगे जाना है? उत्तर है—मोक्ष की एक अवस्था ऐसी है जिसमें अलग अस्तित्व बना रहता है लेकिन वह अभी चर्मावस्था नहीं है। यह आत्म निर्वाण की अवस्था है। इसमें आगे ब्रह्म निर्वाण है। वाण माने दुःख। निर्वाण माने दुःख रहित स्थिति। दुःख रहित स्थिति जीव को सम्प्रज्ञात समाधि में भी प्राप्त हो जाती है लेकिन उसका अलग अस्तित्व भी बना रहता है क्योंकि चित्त अभी साथ है, चित्त नष्ट नहीं हुआ। यह स्थिति निर्वाण की तो है लेकिन आत्म निर्वाण की नहीं है। यहाँ आपका व्यष्टि भाव है इसलिए अनेक प्रकार के उपद्रवों की सम्भावना हो सकती है। तुलसीदास जी ने रामायण में कहा है—

**जे ग्यान मान बिमत तव भव हरनि भक्ति न आदरी।**
**ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥**

''जो ज्ञान के मद में मतवाले होकर संसार को नष्ट करने वाली आपकी भक्ति का आदर नहीं करते, वे देवताओं को दुर्लभ ब्रह्मलोक को प्राप्त करके पुनः संसार में

गिर जाते हैं,'' क्योंकि यदि चित्त साथ है तो उसमें कल तमोगुण या रजोगुण आ जाए तो आप नीचे गिर सकते हैं। यदि आपको व्यष्टि भाव खत्म करना है तो फिर आपको आत्मरति नहीं ब्रह्मरति चाहिए। आत्म निर्वाण के आगे ब्रह्म निर्वाण है। उस अवस्था में सीमित अहं को या तो ब्रह्म में लय करना होगा या ब्रह्म के आश्रित करना होगा। भगवान् कहते हैं—

**स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥**

*—गीता ५/२१*

''ब्रह्म निर्वाण के बाद अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।'' यह ब्रह्म निर्वाण आखिरी मंज़िल है। साधना में सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति तो योग से ज्ञान में स्थिति है लेकिन असम्प्रज्ञात समाधि आपके प्रयत्न का परिणाम नहीं है, यह तो प्रभु-कृपा का परिणाम है। उसी को पराभक्ति कहते हैं, उसी परा भक्ति में आप अपने सीमित अहं को ब्रह्म में लय कर देते हैं—

**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।**

*—गीता १८/५५*

भगवान् कहते हैं कि वह मेरे में लय हो जाता है और उसके बाद क्या स्थिति आती है?

**यथा नद्यः सयन्दामानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।**
**तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥**

*—मुण्डकोपनिषद् ३/२-८*

जैसे नदियाँ समुद्र में लीन होकर के अपने नाम और रूप का त्याग कर देती हैं, उसी प्रकार से विद्वान् अपने नाम-रूप का त्याग कर ब्रह्म में लीन हो जाता है और ब्रह्म हो जाता है। इसी को परा भक्ति कहते हैं। यही परानिष्ठा है। साधन का फल ज्ञान होता है। ज्ञान का भी कुछ फल होता है?

**तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥**

*—रा० २/२१०-५*

ज्ञान का फल है प्रभु दर्शन। आपने परिश्रम किया आपको फल मिल गया। फल हाथ में आ जाने से आपको सन्तुष्टि तो हुई लेकिन तृप्ति नहीं हुई। तृप्ति कब होती है? जब उस फल का फल आपको मिल जाए तब। फल का फल क्या है? स्वाद लेना, खाना या उसके रस का पान करना। जब आप उस फल का सेवन करेंगे तब आपकी तृप्ति होगी। ज्ञान रूपी फल का सेवन क्या है?

**प्रभु पद रति रस बेद बखाना।**

प्रभु में पूर्ण रूप से लीनता ही ज्ञान का फल है। यदि उस अवस्था को आप प्राप्त नहीं किए तो ज्ञान रूपी फल से आपको कोई लाभ नहीं होगा। सन्तुष्टि तो होगी लेकिन तृप्ति नहीं होगी। रामायण में इसी बात को भरत के जीवन के माध्यम से समझाया है। भरद्वाज ऋषि के आश्रम में जब महात्मा भरत जाते हैं वहाँ भरद्वाज भरत से यही बात कहते हैं—

**सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥**

मैंने बड़ी साधना की थी और उस साधना के फल में हमें राम, लक्ष्मण और सीता का दर्शन हो गया लेकिन—

**तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा।**

अब उस फल का फल है कि तुम्हारा दर्शन हो गया।

**सहित पयाग सुभाग हमारा॥**

फल का फल क्या होता है? कहा फल का फल होता है फल का रस। बोले— राम जो मिले तो क्या तृप्ति नहीं हुई थी? कहा—नहीं, तृप्ति नहीं हुई थी क्योंकि राम तो मिले लेकिन राम का प्रेम नहीं मिला। भरद्वाज जी कहते हैं कि—

**तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥**

—रा० २/२०८-८

''भरत तो राम जी के प्रेम की साकार मूर्ति हैं। राम तो मिल गए थे लेकिन भरत जी के मिलने से ऐसे लगा मानो राम का प्रेम मिल गया हो। राम के प्रेम के बिना राम को मिलने का कोई लाभ नहीं।'' जैसे-आप हमारे पास आए, आपने प्रश्न किया और हमने अपने ज्ञानानुसार उसका उत्तर दे दिया। आपने अपना रास्ता लिया और चले गए लेकिन उससे आप मुझे प्राप्त कर लिए, ऐसी बात नहीं है। यानी जब तक आप किसी व्यक्ति का प्रेम प्राप्त नहीं किए तब तक उस व्यक्ति की प्राप्ति कोई महत्त्व नहीं रखती। स्त्री विवाह करके पति के पास गई, पति ने उसके शरीर का प्रयोग किया, यदि पति के प्रेम को स्त्री ने नहीं पाया या स्त्री के प्रेम को पति ने नहीं पाया तो उसका जीवन व्यर्थ रहा। शरीर का प्रयोग करने मात्र से, विषय की पूर्ति करने मात्र से किसी का प्रेम तो नहीं मिलता, प्रेम पाना एक अलग चीज़ है, व्यक्ति को पाना एक अलग चीज़ है। प्रेम खरीदा नहीं जा सकता व्यक्ति तो खरीदा जा सकता है। इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण मिलते हैं कि प्रेम के बिना व्यक्ति की उपलब्धि कुछ अर्थ नहीं रखती। यह जो स्थिति है उसको

कहते हैं फल का फल। यहाँ पर प्रेम स्वयं फल रूप है, ज्ञान फल रूप नहीं है। ज्ञान तो साधना का फल है, ज्ञान रूपी फल का भी फल प्रेम है। उसके आगे और कोई फल नहीं है। रस का फल क्या होगा? रस का फल आनन्द है। वेद में कहा है—

**रसःह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।**

*—तैत्तिरीय० २/७*

उस रस को प्राप्त करके जीव आनन्दित हो जाता है।

**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति।**

*—तैत्तिरीय० २/४*

आनन्द रूपी ब्रह्म की अनुभूति करने के पश्चात् कहीं भय के लिए स्थान नहीं रहता इसलिए बताया है कि—'फलस्वरूपत्वात्'। भक्ति स्वयं फल रूपा है। वह ज्ञान, तप, कर्म, योग आदि सभी साधनों से श्रेष्ठ है क्योंकि वह स्वयं साधन नहीं है। यहाँ तक तो भक्ति की महत्ता का गान किया है। पहले भगवान् से प्रेम प्राप्त करना ही भक्ति बताया गया—'सा परानुक्तिरीश्वरे॥' भगवान् से प्रेम कैसे प्राप्त हो? कोई साधना है? साधन तो इतने बता दिए—उसकी पूजा में अनुराग, उसकी कथा में अनुराग, उसके नाम सुमिरन में अनुराग, आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग, सभी वस्तुएँ प्रभु को समर्पित करके प्रभु के हो जाना—ये सब भक्ति के ही साधन हैं। इस भक्ति के मार्ग पर चलने वाला जो साधक है उसके लिए कौन सा सरल उपाय है या सीढ़ी है, जिस पर वह अपना पहला कदम रख सके और आगे बढ़ सके? नारद जी कहते हैं कि भक्ति की तरफ पहला कदम दैन्य है। दैन्य माने दीनता या विनम्रता। यदि भक्त में दैन्य भाव नहीं आया तो वह कभी भी भक्ति के रास्ते पर नहीं चल सकता। नारद जी ने यहाँ पर एक सूत्र कहा है—

**ईश्वरस्याभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च॥**

*—ना०भ०सू० २७*

ईश्वर को भी अभिमान से द्वेष है और दीनता से प्यार है। जो बच्चा अकड़ कर चलता है, माँ-बाप उसकी तरफ ध्यान भी नहीं देते। जो बच्चा विनम्र होता है, दीन होता है, उसको सभी प्यार करते हैं। कोई व्यक्ति गुणवान हो, धनवान हो, ज्ञानवान हो, कुछ भी हो लेकिन यदि विनम्रता न हो, दैन्य भाव न हो तो उसे कोई पसन्द नहीं करता। उसे तो ईश्वर भी नहीं चाहेगा क्योंकि ईश्वर का भी अभिमान से द्वेष है। जिसको ईश्वर नहीं चाहता उसको कोई नहीं चाहता। जिसको प्रभु चाहते हैं उसको सब चाहते हैं। प्रभु दैन्य भाव में रहने वालों को प्यार करते हैं।

विनम्र भाव से जो सभी को मिलते हैं, सभी के प्रति जो विनम्र रहते हैं, प्रभु उनको प्यार करते हैं। एक बात याद रखना, प्रभु का अभिमान से द्वेष है, अभिमानी से नहीं। तुलसीदास जी ने रामायण में एक बहुत अच्छी बात लिखी है कि भुशुण्डि जी गरुड़ को समझा रहे हैं—"गरुड़! आप तो भगवान् के वाहन हो, सदा भगवान् के साथ रहते हो। आपको फिर भी मोह हो गया है, आपको इसका दु:ख है लेकिन—

**नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमबादी॥**

—रा० ७/७०-६

दुनिया में कौन ऐसा है जिसे मोह न हुआ हो? चाहे वह ब्रह्मा है, चाहे वह शिव है, चाहे वह नारद है, चाहे वह सनकादि है, चाहे वह ऋषि है या मुनि है अर्थात् कोई भी हो, कोई ऐसा अभी तक नहीं हुआ जिसे मोह न हुआ हो।"

**मोह न अंध कीन्ह केहि केही।**

किसको मोह ने अंधा नहीं किया? गरुड़ ने कहा—"यह मोह क्यों होता है?" काकभुशुण्डि कहते हैं—"भगवान् के भक्त को जो मोह होता है, वह भगवान् की कृपा से होता है।" पूछा—"इसमें भगवत् कृपा क्या है?" काकभुशुण्डि जी कहते हैं—इसमें भगवत् कृपा यह है कि भगवान् के सिखाने के ढंग बड़े अजीब हैं। जब तुम्हें ज्ञान का अहंकार हो जाएगा तो तुम्हें अज्ञानी का पाठ पढ़ा कर सिखाएंगे। यदि किसी को धन का अभिमान हो जाए तो उसका सारा धन छीनकर दरिद्री बना कर उसे सिखाते हैं। जब भी किसी विषय का किसी को अहंकार होता है तो भगवान् उससे विपरीत स्थिति में डालकर उसे सिखाते हैं। यह बात उन्होंने संकेत की गरुड़ के प्रति कि आपको भी अभिमान हो गया होगा कभी—

**होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥**

—रा० ७/६२-८

क्योंकि अभिमान तो प्रभु को प्रिय नहीं है। वहाँ पर भुशुण्डि जी ने समझाया—

**संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥**

—रा० ७/७४-६

जन्म-मरण की जड़ नाना प्रकार की पीड़ाओं को देने वाला और अनेक प्रकार के शोकों को प्रदान करने वाला अभिमान है इसलिए जब भी अभिमान आया—

**ताते करहिं कृपानिधि दूरी।**

जिस वस्तु का अभिमान आप में आयेगा भगवान् वही आपसे छीन लेगा और छीन करके आपको उस अवस्था में ले जाएगा जिससे आप अच्छी प्रकार से

समझ लें—

**सेवक पर ममता अति भूरी ।**

कहा—जब प्रभु छीन लेते हैं तो सेवक दुःखी होता है। वहाँ पर उदाहरण दिया—

**जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं ।।**

—रा० ७/७४-८

जैसे किसी बच्चे के शरीर में फोड़ा हो जाए तो माँ उस बच्चे को लेकर डॉक्टर के पास जाती है। उसकी गोद में पड़े हुए बच्चे के फोड़े में डॉक्टर चीरा लगा देता है। जो माँ अपने बच्चे को ज़रा भी दुःखी देखना पसन्द नहीं करती वही माँ अपने बच्चे को गोद में लेकर उस पर चाकू चलवाती है। उसे दुःख नहीं होता क्या? होता है—

**जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर ।**

वो बच्चा चीखता है, चिल्लाता है लेकिन फिर भी—

**ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर ।।**

—रा० ७/७४ क

उस बच्चे की पीड़ा को, उसके रोने चीखने पर माँ ध्यान नहीं देती क्योंकि जानती है कि इसके रोग का नाश हो रहा है—

**तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि ।**
**तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि ।।**

—रा० ७/७४ ख

ऐसे ही जब भक्त में अभिमान आता है तो जिस विषय का अभिमान होता है प्रभु उससे वह छीन लेते हैं। वह रोता है, दुःखी होता है, अपमानित होता है, वह यह सोचता है कि मेरा तो सब कुछ नष्ट हो गया, हम इतने वर्षों तक भगवान् की भक्ति किए, क्या लाभ हुआ? जब अहंकार उसका नष्ट हो जाता है तो प्रभु वहाँ से उसे उठाते हैं। कहा—प्रभु इसी प्रकार करुणा करके अपने भक्तों के अहंकार को दूर करते हैं। यानी भगवान् जब अपने किसी भक्त को दुःख देते हैं या उसके अहंकार को दूर करने का प्रयत्न करते हैं तो उसमें भी करुणा छिपी हुई होती है। यह नहीं कि भगवान् को द्वेष है, भगवान् उस भक्त से द्वेष नहीं कर रहे हैं, बल्कि वे तो उसके अभिमान से द्वेष करते हैं। भगवान् को अभिमान से द्वेष है दीनता से प्रेम है। यदि भगवान् तुम्हें अपनाना चाहेंगे फिर तो तुम्हारे अभिमान को जड़ से उखाड़ देंगे और यदि नहीं अपनाना चाहेंगे तो उसी में और धकेल देंगे। जैसे माँ बच्चे को उठाना चाहती है, दूध पिलाना चाहती है तो उसके हाथ से खिलौने छीनकर बाहर

फेंक देती है और उसे उठा लेती है। जब माँ उसे नहीं उठाना चाहती, बालक रोता है दूध के लिए तो माँ एक झुनझुना पकड़ा देती है और कहती है-जाओ खेलो। इसी रूप से भगवान् उसी भक्त को दुनिया की सम्पत्ति, दुनिया की इज्जत, दुनिया का मान उसे ही पकड़ाते हैं जिसे अपनाना नहीं चाहते। जो खिलौने में मस्त हो गया, उसे भगवान् कहते हैं कि तुम खेलते रहो। जिसको कोई खिलौना नहीं चाहिए, जैसे माँ बच्चे को खिलौना दे वह फेंक दे, डालर पकड़ावे वह फेंक दे, मिठाई पकड़ावे तो वह फेंक दे, कुछ नहीं चाहिए तब माँ उठाती है, गोद में लेती है, कहती है—'आ, मर यहाँ।' इसी रूप से जिसको कुछ नहीं चाहिए उसे भगवान् कहते हैं कि आजा तू, तब उसे अपनाते हैं। यदि कुछ चाहिए फिर तो लेकर वह सन्तुष्ट हो गया, अच्छा है खेलते रहो। इसी रूप से यहाँ बताया—

**ईश्वरस्याभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च॥**

—ना० भ० सू० २७

ईश्वर को दैन्य से प्रेम है, अभिमान से द्वेष है। जब भी अभिमान आयेगा, भगवान् उसे नहीं तुम्हें अपनाना चाहेगा तो तुम्हारे अभिमान को नष्ट करेगा। अभिमान को नष्ट करने का केवल एक ही तरीका है कि जिस बात पर तुम्हें अभिमान है उसको अलग कर दो। गरुड़ स्वयं को भगवान् के सेवक और महाज्ञानी मानते थे।

**गरुड़ महाग्यानी गुन रासी ।**

—रा० ७/५५-३

उनको मोह हो गया कि राम मेघनाद के द्वारा नागपाश में बन्ध गए। जब उन्हें मोह हो गया तो वे पहले नारद के पास गए। नारद जी ने कहा कि यह तो हमारे बस की बात नहीं है, तुम ब्रह्मा जी के पास जाओ। वे ब्रह्मा के पास गए और उनसे प्रार्थना की। ब्रह्मा ने कहा—''मैं भगवान् की माया से पहले ही हाथ जोड़े रहता हूँ, यह छूत की बीमारी है, कहीं मेरे को न लग जाए, तुम शंकर के पास जाओ।'' गरुड़ जी शंकर के पास चले गए। शंकर जी ने कहा कि ''तुम मुझे रास्ते में मिले हो, मैं तुम्हें क्या समझाऊँ, तुम भुशुण्डि जी के पास जाओ।'' पार्वती ने पूछा—''भगवन्! क्या आप गरुड़ को समझा नहीं सकते थे?'' शंकर जी ने कहा—''नहीं, समझा तो सकता था लेकिन पक्षियों में सबसे श्रेष्ठ गरुड़ है और सबसे निकृष्ट काग है। ऋषि लोमष ने शाप दिया था—

**सपदि होहि पच्छी चण्डाला ॥**

—रा० ७/११२-१५

चाण्डाल पक्षी हो जा तो भुशुण्डि जी ब्राह्मण से काक शरीर में पहुँच गए। अब

इसको भी अपनी बड़ाई का अभिमान है। यदि वह अपने से निम्न स्तर के पक्षी के पास जाकर, उससे हाथ जोड़ कर उसको गुरु बना कर सीखेगा तो उसका अभिमान जाएगा। यदि उसे मैं ही समझा देता तो उसे लगता कि मैं शिष्य बना तो कोई ऐरे गेरे का थोड़े ही बना, मैं तो शंकर जी का शिष्य हूँ यानी अभिमान उसका दूर होने की बजाए पुष्ट होगा।'' इसलिए शंकर जी ने कहा—

**होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥**
**ताते उमा न मैं समुझावा। रघुपति कृपाँ मरमु मैं पावा॥**

—रा० ७/६२-८,७

''मैं भगवान् की प्रेरणा से मर्म जान गया, इसलिए उसे नहीं समझाया और काक-भुशुण्डि के पास भेज दिया।'' काक-भुशुण्डि के पास जाकर जब उनको गुरु रूप में स्वीकार किया तब जाकर उसका भ्रम दूर हुआ। ज्ञान का अहंकार वहाँ नष्ट हुआ, जाति का अहंकार वहाँ नष्ट हुआ। अहंकार किसी भी प्रकार का हो बहुत खतरनाक होता है इसलिए नारद जी ने बताया—

**ईश्वरस्याभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च ॥**

—ना० भ० सू० २७

भगवान् को अभिमान से द्वेष है और दीनता से प्यार है। भक्ति का पहला लक्षण विनम्रता है। सभी में प्रभु विद्यमान हैं इसलिए सबके सामने झुक कर चलो।

**नानक नन्हा होई रहो जैसे नन्ही दूब ।**
**और घास जरि जायेंगे दूब खूब की खूब ॥**

श्रीगुरु नानक देव जी ने कहा कि दूब को देखते हो! दूब एक घास है जो कि नीचे-नीचे फैलती है। जब घोर गर्मी पड़ती है तो सभी घासें जल जाती हैं तब भी दूब हरी की हरी रहती है। नानक जी कहते हैं कि तुम अपने आपको दूब जैसा बना लो। सभी घासें जो ऊँची-२ हैं, जल जायेंगी लेकिन दूब हरी ही रहेगी क्योंकि वह नीचे रहती है। वही बात चैतन्य महाप्रभु ने कही है—

**त्रिणादपि सुनिचेन तरोरुः सहिष्णुनाम् ।**
**अमानीनां मानदेन कीर्तनीय सदाहरि ॥**

अपने आपको तृण से भी तुम छोटा समझो। तुम्हारे में वृक्ष से भी ज्यादा सहनशीलता हो, सबको मान दो और आप अमानी बने रहो—

**सबहि मानप्रद आप अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥**

—रा० ७/३८-४

भगवान् कहते हैं, ''जो सबको मान देता है और स्वयं अमानी रहता है, वही मेरा

प्राण के समान प्यारा है।'' गीता में भी भगवान् ने जहाँ साधन बताया है—

**अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।**

*—गीता १३/७*

मान न हो, दम्भ न हो, किसी को दुःख देने की वृत्ति न हो, अन्तर में शान्ति हो, जीवन में सरलता हो, यह साधन का प्रारम्भ है। चाहे भक्त हो, चाहे ज्ञानी हो, चाहे कोई भी हो भगवान् उसका अभिमान नहीं रहने देते। आगे नारद जी कहते हैं कि भक्ति का साधन क्या है—

**तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके॥**

*—ना०भ०सू० २८*

उस भक्ति का ज्ञान ही एक साधन है। जब तक पूर्ण ज्ञान नहीं होगा तो भक्ति नहीं होगी। वे कहते हैं—

**अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये॥**

*—ना०भ०सू० २९*

दूसरे लोग कहते हैं कि नहीं, ज्ञान और भक्ति एक दूसरे के आश्रित हैं। ज्ञान से भक्ति होती है और भक्ति से ज्ञान हो जाता है लेकिन—

**स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः॥**

*—ना०भ०सू० ३०*

ब्रह्म कुमार, सनत कुमार, नारद आदि कहते हैं कि भक्ति स्वयं फल रूपा है, वह किसी साधन की अपेक्षा नहीं रखती। यहाँ ज्ञान माने शास्त्र ज्ञान समझना चाहिए। कुछ आचार्यों का मत है कि यदि शास्त्र ज्ञान होगा तो भक्ति होगी। भारत में ऐसे अनेकों संत हुए हैं जिन्हें शास्त्र ज्ञान नहीं था लेकिन वे महान् भक्त हुए हैं। बहुत से ऐसे भी हुए हैं जिन्हें ज्ञान भी था, प्रेम भी था, भक्ति भी की उन्होंने। सही क्या है? नारद जी ने कहा कि मेरे विचार से भक्ति स्वयं फलरूपा है। ज्ञान होने पर भक्ति हो ही जाएगी, कोई ऐसा कानून नहीं है। यदि ज्ञान होने पर भक्ति हो ही जाती फिर तो जितने ज्ञानी थे सब भक्त हो जाते लेकिन भगवान् कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है—'ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।' ''जब ज्ञानी मेरी शरण में आता है तब वह मेरी भक्ति को प्राप्त करता है।'' इसी बात को रामायण में हम उत्तर काण्ड में देखते हैं। जब भुशुण्डि जी से गरुड़ जी प्रश्न करते हैं—

**कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना॥**
**सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गोसाईं। नहिं आदरेहु भगति की नाईं॥**

*—रा० ७/११५ -९,१०*

"ज्ञान से बढ़ कर कुछ है नहीं और मुनि भी आपको ब्रह्मज्ञान का उपदेश दे रहे थे लेकिन आपने उसका आदर क्यों नहीं किया?" कहा—"केवल ज्ञान से बात नहीं बनती। जो भक्ति का त्याग करके केवल ज्ञान के लिए श्रम करते रहते हैं, वे शठ हैं, मूर्ख हैं—

**जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥**

—रा० ७/११५-२

**ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरी पार चाहहिं जड़ करनी॥**

—रा० ७/११५-४

जो भक्ति का या भगवान् का आश्रय छोड़कर केवल ज्ञान के बल से संसार सागर से पार जाना चाहते हैं, वे मूर्ख हैं। वे समुद्र को बिना नाव का सहारा लिए अपने हाथों से तैर कर पार होना चाहते हैं। जैसे समुद्र को तैर कर पार करना असम्भव है इसी रूप से भगवान् का सहारा लिए बिना केवल ज्ञान के बल से संसार सागर को पार करना भी असम्भव है", ऐसा तुलसीदास जी ने बताया है। यहाँ पर भी महात्मा नारद जी ने यही सिद्धान्त स्थापित किया है। इन तीनों सूत्रों का विवेचन मैं कल करूँगा, आज इतना ही।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## ९

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! कल आप लोगों को समझाया था—

**ईश्वरस्याभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च ॥**

—ना०भ०सू० २७

ईश्वर को भी अभिमान से द्वेष और दीनता से प्यार है। भक्ति का मूल आधार दैन्य है। दैन्य माने अपनी लघुता या अपनी तुच्छता का अनुभव और प्रभु की महत्ता या उनकी बढ़ाई का ज्ञान। जिस स्थिति में मनुष्य अपनी लघुता तथा प्रभु की महत्ता के विषय में सजग हो जाता है तब उसका प्रभु के प्रति अनुराग बढ़ता है। तुलसीदास जी ने विनय पत्रिका में लिखा है—

**मन मेरे, मानहि सिख मेरी। जो निजु भगति चहै हरि केरी॥**

—वि०प० १२६-१

''हे मन! यदि तू भगवान् की भक्ति चाहता है तो मेरी सीख मान ले। सीख है— अब तक प्रभु ने जो कुछ तेरा हित किया है, उसको तू अपने हृदय में ले आ। यह प्रभु की कृपा ही है कि वे तुम्हें कीड़े से भी बदतर अवस्था से उठाकर मनुष्य शरीर में ले आए हैं।

**आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥**

**फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥**

**कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥**

—रा० ७/४४-५,६

''प्रभु ने बिना कारण ही करुणा करके तुम्हें मनुष्य शरीर प्रदान किया है। यह मनुष्य शरीर तुम्हारे किसी पुण्य का परिणाम नहीं है।'' क्यों नहीं है? इसके बारे में मैं कई बार आप लोगों को समझा चुका हूँ कि मनुष्य से अतिरिक्त और कोई योनि नहीं है जहाँ तुम पुण्य कर्म कर सको—

**उर आनहि प्रभु-कृत हित जेते। सेवहि ते जे अपनपौ चेते॥**

—वि०प० १२६

अपनी स्थिति का चिन्तन करो कि प्रभु ने तुम्हें कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया। उनकी करुणा से तुम मनुष्य बन गए। प्रकृति पर तुम्हारा अधिकार हो गया। तुम प्रकृति का स्वामी बन कर उसका उपभोग कर रहे हो फिर भी ऐसे करुणानिधान को भूल कर संसार में रमते हो। प्रभु को छोड़ कर दुनिया से प्यार करते हो, कितनी बड़ी कृतघ्नता है। जब प्रभु की बड़ाई और अपनी लघुता का बोध होगा तो प्रभु में अपने आप प्रेम होगा। जहाँ तुम प्रभु की महत्ता को भूले और अपनी लघुता भूले, वहीं अभिमान तुम्हें दबा देगा।

मनुष्य में अभिमान जानते हो कब आता है? जब वह अपनी औकात भूल जाता है। जहाँ उसने सोचा कि मैं भी कुछ हूँ, वहाँ उसे अभिमान दबा लेगा। वह क्या है? कल्पना करने पर तुम्हें पता चल जाएगा। एक अरब सीमन में पाँच अरब जीवाणु होते हैं। उनमें से एक जीवाणु वोवा के साथ मिल करके तुम्हारे अस्तित्व को जन्म देता है। एक बूँद का पाँच अरबवां हिस्सा तुम्हारा वज़ूद है। परमात्मा की सारी सृष्टि के कोने में भी तुम नहीं हो, फिर उसमें अहंकार इतना किस लिए?

एक दिन एक विज्ञान की पुस्तक मैं पढ़ रहा था। उसमें बताया गया कि यदि सारे ब्रह्माण्ड को भींच कर उसका ठोस पदार्थ निकालें तो एक छोटा-सा गेंद बनेगा। जो इतने से गेंद के रूप में परिणत होने वाली सत्ता है, वह पूरे ब्रह्मण्ड की स्थिति है। ऐसे अनेक ब्रह्माण्ड जिसके एक-एक रोम में लगे हुए हैं—

**रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड ।**

—रा० १/२०१

उस प्रभु को तुम अहंकार के कारण चुनौती देते हो। अपनी स्थिति ज़रा सोचो और उस नियन्ता की स्थिति भी ज़रा सोचो—कहाँ वह कहाँ तुम। भगवान् की महत्ता का बोध नहीं है इसलिए तुम्हें अभिमान है। उसकी महत्ता जहाँ समझ में आई वहाँ तुम ही नहीं रहोगे तो अभिमान क्या करोगे?

एक बार बीरबल से बादशाह ने पूछा, ''बीरबल! क्या दुनिया में कोई ऐसा भी काम है जो मैं कर सकता हूँ भगवान् नहीं कर सकता?'' उसने कहा—

''हाँ! बहुत से ऐसे काम हैं जो जनाब कर सकते हैं ईश्वर नहीं कर सकता।'' बादशाह बड़ा हैरान हुआ और पूछा—''ऐसा कौन सा काम है?'' बीरबल ने कहा—''सरकार! आप अपने राज्य से किसी को निकाल सकते हो लेकिन खुदा ऐसा नहीं कर सकता। तुम्हारे राज्य की सीमा है, तुम अपने राज्य से किसी को भी बाहर जाने के लिए कह सकते हो। परमात्मा के राज्य की कोई सीमा ही नहीं है, वह कहाँ निकालेगा किसी को? तुम्हारी दी हुई वस्तु का यदि कोई दुरुपयोग करे तो तुम उससे छीन लोगे परन्तु परमात्मा की दी हुई वस्तु का रोज़ दुरुपयोग कर रहे हैं, वह उसे कभी नहीं छीनता। उसके देखते ही अनेकों अपराध कर रहे हैं फिर भी वह सभी को क्षमा ही कर रहा है।'' यह जो प्रभु की महिमा है, उसकी विस्मृति ही मनुष्य में अभिमान को जन्म देती है। तुलसीदास जी ने अपनी दोहावली रामायण में लिखा है—

**करमठ कठमलिया कहैं ग्यानी ग्यान बिहीन।**
**तुलसी त्रिपथ बिहाइ गो राम दुआरें दीन॥**

—*दोहावली ९९*

जितने कर्मकाण्डी हैं वे तो कहते हैं कि यह तो कठमलिया है, कुछ नहीं करता, सारा दिन लकड़ी की माला ही फेरता रहता है। ज्ञानवान समझते हैं कि यह नासमझ है। हमें न तो कर्मकाण्ड का रास्ता पसन्द आया, न ज्ञान का और न भक्ति का। इसलिए तीनों का त्याग करके दीन बन कर हम राम द्वारे पहुँच गये हैं क्योंकि—

**तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।**

इससे बड़ा और कोई सम्बन्ध नहीं है कि तू दीनबन्धु है और मैं दीन हूँ।

**दीनबन्धु तजि दीन को ठौर न दूसरा और।**

उसके सिवा और कोई दूसरा ठौर हो नहीं सकता। यह जो दीनता प्रभु को प्रिय है, यह इसलिए है कि वहाँ अहं के लिए स्थान नहीं होता। इस श्रेष्ठतम अवस्था को प्राप्त करने के लिए अनेकों आचार्यों ने विभिन्न प्रकार के साधन बताए हैं—

**तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके॥** —*ना०भ०सू० २८*

कोई कहता है कि भक्ति ज्ञान को प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। बिना ज्ञान के भक्ति नहीं मिलती और कुछ कहते हैं—

**अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये॥** —*ना०भ०सू० २९*

नहीं, ज्ञान से भक्ति और भक्ति से ज्ञान प्राप्त होता है। गीता के अठारहवें अध्याय के कुछ श्लोकों में भी ऐसा ही दिखाई देता है। कभी भगवान् भक्ति से ज्ञान को

श्रेष्ठ कहते हैं और कभी ज्ञान से भक्ति को कहते हैं। ऐसा लगता है कि दोनों एक दूसरे के आश्रय हैं।

**स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः।** —ना०भ०सू० ३०

लेकिन ब्रह्मकुमार कहते हैं कि नहीं यह भक्ति स्वयं फलरूपा है। यह ज्ञान का परिणाम नहीं है। ज्ञान से ही भक्ति होती है, ऐसी बात नहीं। हाँ, ज्ञान से भी भक्ति होती है। जानना यदि ज्ञान है तो—

**जाने बिनु भगति जानिबो तिहारे हाथ।**

—वि०प० २५१

यहाँ भी समर्पण है। प्रभु जिसे अपनी करुणा से जना दे, उसे वही जानता है। वेद में एक मन्त्र है जिसमें बताया गया है—

**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।**
**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणते तनूँस्वाम्॥**

—कठ० १/२-२३

परमात्मा न तो प्रवचन से प्राप्त होता है, न बहुत सुनने से प्राप्त होता है, न बुद्धि से प्राप्त होता है, न किसी प्रकार के अन्य साधन से प्राप्त होता है। यह कैसे प्राप्त होता है? जिसका वह स्वयं वरण कर ले, उसे ही यह प्राप्त होता है। भगवान् से पूछा गया—"प्रभो! आप वरण किसका करते हो?" उन्होंने कहा—

**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**
**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥**

—गीता १०/१०

"जो सतत मेरे से युक्त होकर के प्रेमपूर्वक मेरा सुमिरन करते रहते हैं उनको मैं बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।" उसी के लिए परमात्मा अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है। तुलसीदास जी से पूछा गया कि परमात्मा किसको वरण करते हैं? कहते हैं—

**मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥**

—रा० १/२००-६

जो मन से, कर्म से, वचन से चातुरी त्याग कर प्रभु की शरण हो जाता है, प्रभु का भजन करता है, उसी को प्रभु वरण करते हैं और उसी पर कृपा करते हैं। नारद सनकादि का मत है कि भक्ति स्वयं फल रूपा है, यह किसी साधन का परिणाम नहीं है, भगवत् कृपा से ही प्राप्त होती है। आगे पूछा कि ज्ञान से भक्ति क्यों नहीं होती? तो कहा—

**राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥**

*—ना०भ०सू० ३१*

राजगृह और भोजनादि में ऐसा ही देखा जाता है। अभिप्राय राजा तथा राजमहल का ज्ञान हो जाने पर आप राजा के प्रेम के पात्र नहीं हो जायेंगे। दूसरी बात, यदि आपको अच्छा भोजन बनाने का ज्ञान है तो इससे आपकी तृप्ति नहीं हो जायेगी। तुलसीदास जी ने विनय पत्रिका में लिखा है—

**षट्रस बहुप्रकार भोजन कोउ, दिन अरु रैनि बखानै ।**
**बिनु बोले संतोष-जनित सुख खाइ सोइ पै जानै ।**

जैसे कोई षट्रस भोजन का दिन-रात बखान करता रहे लेकिन भोजन नसीब न हो और एक व्यक्ति ऐसा है जो उस विषय में कुछ नहीं जानता लेकिन भोजन करता है तो उसे उसके स्वाद का पता चलता है। क्या भोजन की पूर्ण व्याख्या करने वाले की क्षुधा तृप्ति हो सकती है? नहीं हो सकती। तुलसीदास जी ने कहा है—

**निसि गृहमध्य दीपकी बातन्ह, तम निबृत्त नहिं होई ।**

*—वि०प० १२३*

जैसे कोई अंधेरी कोठरी में बैठ कर प्रकाश की बात करे कि बिजली ऐसे बनती है अर्थात् पूर्ण ज्ञाता हो बिजली का और अन्धेरी कोठरी में बैठा रहे तो उसकी व्याख्या करने से वहाँ प्रकाश तो नहीं हो जाएगा। इसलिए जैसे बिजली की व्याख्या करने से अंधेरी कोठरी में प्रकाश नहीं होता, जैसे भोजन की व्याख्या करने मात्र से क्षुधा निवृत्ति नहीं होती, जैसे राजा के विषय में अच्छी प्रकार से जान लेने से कोई राजा का कृपापात्र नहीं बन जाता, इसी रूप से केवल ज्ञान से भगवत् प्रेम की उपलब्धि व भगवत् प्राप्ति नहीं होती—

**बाक्य ग्यान अत्यंत निपुन भव-पार न पावै कोई ।**

यहाँ ज्ञान का अभिप्राय शास्त्र ज्ञान से है। यही नहीं बल्कि ऋग्वेद में एक मन्त्र है जिसमें यह बात समझाई गई है—

**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।**

*—श्वेता० ४/८*

एक परम व्योम है, उसमें ये सभी ऋचाएँ निवास करती हैं और उसी में सारे देवता भी निवास करते हैं—

**यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति**

यदि कोई उस परम व्योम को नहीं जाना तो ये ऋचाएँ क्या करेंगी?

यही बात आचार्य शंकर ने अपने विवेक चूड़ामणि में कही है—

**वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।**
**वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥**

*—वि० चू० ६०*

खूब शास्त्र याद कर लिया और बड़ा अच्छा व्याख्यान देता है, शास्त्र की चर्चा करता है लेकिन शास्त्र का जो सार है, उसका बोध नहीं हो सका, ऐसा व्यक्ति शास्त्र का व्याख्यान देकर दुनिया में भोग तो प्राप्त कर सकता है लेकिन मोक्ष नहीं। शास्त्र बोध अलग चीज़ है परमात्म बोध अलग चीज़ है। वेद में एक मन्त्र है जिसमें बताया—

**अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।**
**दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥**

*—कठ० १/२-५*

जो अविद्या में वर्तता है, दुनिया में लगा हुआ है, स्वयं को पण्डित, धीर मानता है और वेद की व्याख्या करता है, वह वैसा व्यक्ति है जैसे किसी अन्धे की लाठी पकड़ कर दूसरा अन्धा जा रहा है। वह व्याख्याता श्रोता वैसे है जिसने सत्य का बोध नहीं पाया। केवल शास्त्र ज्ञान से बात बनती नहीं। यहाँ पर यही बात बता रहे हैं—

**स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः।** *—ना० भ० सू० ३०*

परमात्मा की जो भक्ति है वह फलरूपा है, वह ज्ञान का परिणाम नहीं। वह प्रभु कृपा का परिणाम है। प्रभु-कृपा के लिए कोशिश करनी चाहिए क्योंकि केवल ज्ञान मात्र से उस स्थिति की प्राप्ति नहीं होती। राजदरबार में जाने पर केवल राजगृह को समझ लेने पर उससे कोई राजा की कृपा का पात्र नहीं बन जाता, ऐसे ही शास्त्र का ज्ञान होने मात्र से कोई भगवान् की भक्ति नहीं पा सकता, भगवत्-प्रेम का पात्र नहीं बन सकता। बहुत से ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने कोई शास्त्र नहीं पढ़ा। नानक, कबीर, सूरदास, मीरा, दादू क्या कोई शास्त्र पढ़े थे? इनके गुरु महान् थे। जो सद्गुरु के लक्षण बताये गए हैं हमारे शास्त्रों में, वे लक्षण इनमें थे। सद्गुरु के लक्षणों में बताया गया है—

**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥**

*—मुण्डक० १/२-१२*

गुरु श्रोत्रिय यानी शास्त्र का ज्ञाता हो और ब्रह्मनिष्ठ हो अर्थात् ब्रह्मतत्त्व का ज्ञाता हो। पूर्ण गुरु वही है जिसे अनुभूत ज्ञान हो और जो शास्त्र का ज्ञाता हो। यदि

केवल शास्त्र का ज्ञान है तो वह अधूरा है, वह कुछ नहीं कर सकता। यदि ब्रह्मतत्त्व का बोध हो गया तो उसके बारे में आचार्य शंकर ने एक जगह लिखा है—

**अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।**
**विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला॥**

*—विवेक चूड़ामणि ६१*

यदि आपको परमतत्त्व का ज्ञान हो गया है तो आपका प्रयोजन पूरा हो गया, तब शास्त्र का अध्ययन किस काम का। यदि परमतत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ तब भी शास्त्र का सारा अध्ययन बेकार चला गया। वैदिक साहित्य में लिखा है कि जो लोग वेद की ऋचाओं को ढोते हैं, उन्होंने ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त नहीं किया। वेद की ऋचाएँ उस पर भार होकर ऐसे चलती हैं जैसे ऋषभ् पर भार लदा हुआ हो। मेरा कहने का अभिप्राय कि यदि शास्त्र ज्ञान के प्रकाश में आचरण नहीं हुआ और परमात्मा का यथार्थ बोध नहीं हुआ तो उससे कोई लाभ नहीं है। यदि परमात्मा का बोध हो गया या किसी सद्गुरु के पास जाने से अथवा उसके सत्संग से आपको लाभ हो गया तो यह महान् भगवत् कृपा है।

**न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा** *—ना०भ०सू० ३२*

केवल जान लेने मात्र से राजा की प्रसन्नता नहीं मिलती। केवल भोजन का ज्ञान होने से क्षुधा की निवृत्ति नहीं होती, वह तो राजा के प्रेम को प्राप्त करने और खाने से होती है।

**तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः** *—ना०भ०सू० ३३*

इसलिए संसार से पार होने की इच्छा वाले जो मुमुक्षु लोग हैं, उनके लिए यही ग्रहण करने योग्य है। सा माने भक्ति जैसे—

**सा परानुरक्तिरीश्वरे सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च।**

मुमुक्षु के लिए भक्ति ही ग्राह्य है। भक्ति के प्रभाव में ज्ञान बेकार हो जाता है क्योंकि अन्त में ज्ञानी को भी भगवत् शरणागति लेनी ही पड़ती है—

**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।**

*—गीता ७/१९*

अनेक जन्मों के बाद ज्ञानी भगवान् की शरण में जाता है। पहले क्यों नहीं जाता? क्योंकि बुद्धि उसे तकलीफ देती रहती है, अहं उसे तकलीफ देता रहता है, जानने का अभिमान उसे भगवान् की शरण में नहीं जाने देता। जब हार जाता है तब वह भगवान् की शरण में जाता है। इसलिए उसे भगवान् की शरण में जाने में कई जन्म

लग जाते हैं। नारद जी कहते हैं—

**तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः** —*ना० भ० सू०* ३३

भक्ति ही मुमुक्षु के लिए ग्राह्य है। मुमुक्षु की व्याख्या एक बार मैंने आप लोगों को समझाई थी।

दुनिया में तीन प्रकार के प्राणी हैं जिन्हें—नित्य जीव, मुक्त जीव और बद्ध जीव, इन तीन भागों में बाँटा गया है। एक तो मुक्त जीव हैं, जिन्होंने अपनी साधना से या भगवत् कृपा से मोक्ष प्राप्त कर लिया है। जैसे सनत, सनन्दन, सनातन और नारद आदि। दूसरे नित्य जीव हैं जो कभी बन्धन में आए ही नहीं जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश। ये ईश्वर कोटि के जीव हैं। तीसरे बद्ध जीव हैं जो कि मोह-माया के बन्धन में हैं, उनको बद्ध जीव कहा गया है। इन्हीं के लिए ही शास्त्र है। बद्ध जीव की दो कोटियाँ हैं—बुभुक्षु और मुमुक्षु। एक बुभुक्षु हैं जो कि भोग की चाह लेकर मर रहे हैं और दूसरे मुमुक्षु जो मोक्ष की अभिलाषा से साधन में रत हैं। बुभुक्षु के लिए दो प्रकार का साधन है—हेय और प्रेय। हेय माने संसार का सारा भोग जो आज है कल नहीं रहेगा और प्रेय माने स्वर्ग का भोग। इस संसार के भोगों को यज्ञ, दान व तप में लगा करके जो स्वर्ग के लम्बे भोग को भोगना चाहते हैं, वे भी बुभुक्षु इन्द्र आदि लोकों को जाकर भोग भोगते हैं और यज्ञादि के द्वारा वे पुनः संसार में आते हैं। ऐसे बुभुक्षु भोग के लिए ही सारा तप आदि करते हैं।

दूसरे हैं मुमुक्षु, जो स्वर्ग जाना नहीं चाहते हैं। वे मोक्ष चाहते हैं। वे जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा चाहते हैं। जैसे बुभुक्षुओं के लिए दो मार्ग हैं, ऐसे मुमुक्षुओं के लिए भी दो मार्ग हैं—एक ज्ञान मार्ग दूसरा भक्ति मार्ग। इसके और भी कई मार्ग हैं। गीता में भगवान् ने कई रास्ते मुमुक्षुओं के लिए बताए हैं—

**ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।**
**अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥**

—*गीता* १३/२४

कुछ लोग ध्यान योग के द्वारा अपनी बुद्धि से स्वयं के आत्मस्वरूप को देखते हैं, अन्य लोग सांख्य योग के द्वारा, कोई कर्मयोग के द्वारा भी आत्मसाक्षात् करते हैं। अनेकों प्रकार के मार्गों का यदि विश्लेषण किया जाए तो इन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक बुद्धि का रास्ता है, दूसरा हृदय का रास्ता। मनुष्य के पास बुद्धि तथा हृदय है। यदि वह हृदय प्रधान होगा तो बुद्धि उसके पीछे चलती होगी। यदि वह बुद्धि प्रधान होगा तो हृदय उसके पीछे चलता होगा। एक भक्ति

मार्ग है दूसरा ज्ञान मार्ग है। इसमें भक्ति की महिमा गाते हुए नारद जी कह रहे हैं—

**तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः।** —*ना० भ० सू० ३३*

मेरी राय है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए यदि ग्राह्य है तथा करणीय है तो यह भक्ति का ही रास्ता है। यदि ज्ञान के रास्ते से चलेंगे तब भी तुम्हें वहीं आना पड़ेगा इसलिए यदि पहले ही इस रास्ते से चलें तो अच्छा है। यही बात गीता के बारहवें अध्याय में समझाई गई है। यह पूछा गया कि भक्त और ज्ञानी में कौन आपको प्रिय है? भगवान् ने कहा कि ज्ञानी भी हमें ही प्राप्त करता है परन्तु—

**अव्यक्ता हि गतिर्दुखं देहवद्भिरवाप्यते।** —*गीता १२/५*

"शरीरधारी के लिए अव्यक्त में गति करना बड़ा ही मुश्किल है इसलिए जो लोग मेरी ही उपासना करते हैं—

**यो मद्भक्तः स मे प्रियः।** —*गीता १२/१६*

वे मुझे प्रिय हैं"। पाँचवें अध्याय में कहा—

**तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥**

—*गीता ५/२*

कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है। कर्मयोग भक्ति का मार्ग है और कर्मसंन्यास ज्ञान का मार्ग है। यह जो भक्ति का मार्ग श्रेष्ठ बताया गया है यह इसलिए बताया गया है कि यह मुमुक्षु के लिए बड़ा सरल है। इसमें सहारा है—

**ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥**

ज्ञान के मार्ग में सहारा नहीं है, आकाश में चलना है परन्तु भक्ति के मार्ग में भगवान् का आलम्बन है। सहारा होने के नाते सहारे से खड़े होना, सहारे से चलना लाभप्रद होता है। इसलिए कहा है—मुमुक्षुओं के लिए भक्ति का मार्ग ही एक श्रेष्ठतम मार्ग है। भक्ति प्राप्त करने के लिए ज्ञान जरूरी है। गीता में यही बात भगवान् ने समझाई है कि विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ही भक्ति मिल सकती है। मैंने गीता तत्त्व-बोध में इसकी पूरी व्याख्या की है जिसे पढ़ कर आप यह बात समझ सकते हैं। भक्त तो भक्ति ही चाहते हैं मुक्ति नहीं चाहते लेकिन जो मोक्ष चाहते हैं, उनके लिए भी भक्ति श्रेष्ठतम रास्ता है। आचार्यों ने भी उस भक्ति के साधन के विषय में अनेक प्रकार के मत व्यक्त किए हैं। उनमें से कुछ आचार्यों के मत यहाँ पर बता रहे हैं। भक्ति में पहली शर्त है—

**तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च**

—*ना० भ० सू० ३५*

विषय का त्याग और आसक्ति का त्याग—ये दो चीज़ें हैं। सङ्ग शब्द का अभिप्राय आसक्ति भी है और सङ्ग शब्द का अभिप्राय कुसङ्ग भी है क्योंकि यदि आप कुसंग को नहीं छोड़ते तो भक्ति के रास्ते पर नहीं चल सकते।

**हानि कुसङ्ग सुसङ्गति लाहू। लोकहुँ बेद बिदित सब काहू॥**
**गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहिं मिलइ नीच जल संगा॥**

—रा० १/७-७ से ९

कहा है कि धूल यदि हवा का संग पा जाए तो वह आकाश में चढ़ जाती है और यदि पानी का सङ्ग पा जाए तो कीचड़ बन जाती है। जब धूल की यह गति है तो मनुष्य की क्या गति होगी! कहा—

**साधु-असाधु सदन सुक सारीं। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारीं॥**

—रा० १/७-१०

साधु एक तोता पाल लेता है तो वह तोता साधु के दरवाजे पर बैठ कर राम-राम कहता है। एक दुष्ट यदि तोता पालता है तो वह दरवाजे पर आने-जाने वालों को गालियाँ देता है, जो कुछ वह सुनेगा वही सीखेगा न। जब पशु-पक्षी भी कुसङ्ग और सुसङ्ग से प्रभावित होते हैं, तुम तो मनुष्य हो। कुछ लोग कहते हैं कि क्या अन्तर पड़ता है, दुनिया कुछ भी करती रहे, हम उससे अलग रहें। अरे भले आदमी! तुम प्रकृति पर शासन करने वाले ईश्वर तो नहीं। प्रकृति तुम्हारे ऊपर शासन कर रही है या नहीं कर रही? धीरे-२ तुम पहले जुआ खेलने वालों को देखते हो और उनके पास बैठते हो। कल से पत्ता भी उठा लोगे तो तुम्हारे साथी कहेंगे तुम पैसे नहीं लगाया करो केवल पत्ता चलाया करो। आपको लगेगा कि इसने पैसा लगाया तो दस का बीस बना लिया, हो सकता है हम दस से पन्द्रह ही बना जायें। पन्द्रह बनाने के फेर में तुमने बीस गँवाये और सोचने लगे कि जब तक बीस न लौट आवें तब तक घर कैसे चलें। बीस लौटाने के लालच में चालीस गया तो दोस्त कहेंगे कि आज नहीं चलो कल लग जाएगा। यह जो आदत बिगड़ती है इसमें कुसङ्ग ही कारण होता है। दुष्ट लोग पहले तुम्हें मुफ्त में पिला कर तुम्हारी आदत बिगाड़ देंगे और जब तुम रम जाओगे तो तुम्हें तुम्हारे भाग्य पर छोड़ देंगे। तुलसीदास जी की घोषणा है—

**को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई ॥**

—रा० २/२४-८

दुनिया में कौन ऐसा हुआ है जिसको कुसङ्गति मिली और नाश नहीं हुआ उसका। नीच के संग तुम अपनी चातुरी रखना चाहो तो कभी नहीं रह सकती। संस्कार

अवश्य आयेगा इसलिए एक कवि ने कहा है—

**काजल की कोठरी में कैसो ही सयानो जाय।**
**काजल की लीक लागि है पै लागि है॥**

काजल की कोठरी में चाहे कितना भी सयाना क्यों न हो, जाने पर तो एक लीक लगेगी ही। इसी प्रकार कुसङ्गति में तुम बैठो और कुसङ्गति असर न करे, ऐसा कैसे हो सकता है? इसलिए कुसङ्गति से सदा दूर ही रहना चाहिए। यहाँ पर दो बातें बताई—

**तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ।** *—ना०भ०सू० ३५*

एक तो विषयों का त्याग जितना हो सके, दूसरा कुसङ्गति का त्याग। यदि इन दो बातों को व्यक्ति अपने जीवन में अपना ले तो तुलसीदास जी प्रतिज्ञा करते हैं—

**बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।**
**होहि राम को, नाम जप तुलसी तजि कुसमाजु॥**

*—दोहावली २२*

कैसे सुधर सकती है? उन्होंने कहा कि मेरी तीन शर्तें है—पहले यह निश्चय कर लो कि हे प्रभु! मैं तेरा हूँ, दूसरे प्रभु के नाम का अखण्ड सुमिरन और तीसरा कुसमाज का त्याग। यदि कुसङ्ग का त्याग नहीं हुआ तो प्रभु का होना और जप दोनों ही अर्थहीन हो जायेंगे। जैसे वैद्य ने बताया कि तुम दवा लो, इसके साथ यह परहेज करो। तुम दवा तो लेते रहो और परहेज किए नहीं, तो दवा क्या करेगी? वैद्य क्या करेगा? उससे लाभ नहीं होगा। परहेज तो दवा के साथ आवश्यक है। गोस्वामी जी के शब्दों में—

**रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥**

*—रा० ७/१२२-७*

भगवान् की भक्ति मानस रोग को नष्ट करने के लिए संजीवनी बूटी है। समस्त जीव मानस रोग से पीड़ित हैं। गोस्वामी के शब्दों में—

**एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी॥**

*—रा० ७/१२२-१*

दुनिया के सारे जीव रोगी हैं। इस रोग से छुटकारा पाने का केवल एक मात्र साधन बताया है—

**सदगुरु बैद बचन बिस्वासा।**

*—रा० ७/१२२-६*

कोई सद्गुरु रूपी वैद्य मिल जाए और उसके वचनों में विश्वास हो जाए। यदि

सद्‌गुरु के वचनों पर विश्वास नहीं है फिर तो कुछ नहीं होने वाला। कबीर दास जी ने एक जगह लिखा है कि सद्‌गुरु से मन्त्र लेने से बड़ा प्रभाव होता है। काया ही पलट जाती है। किसी ने आकर कहा—हमने तो सद्‌गुरु से मन्त्र लिया है परन्तु हमारा तो कुछ बना नहीं। उन्होंने कहा—"मन्त्र लेकर किया क्या?" कहा—करना क्या है? मन्त्र लिया है, कुछ देर समय मिलता है तो राम-राम कर लेते हैं। कबीरदास जी ने अपने एक दोहे में कहा है—

**गुरु से लीन्हें मन्त्र अरु नहिं कीन्हें सत्सङ्ग।**
**कह कबीर कोरी रही कैसे लागे रंग॥**

सद्‌गुरु से मन्त्र लेकर कभी उसके पास बैठ सत्संग नहीं किया तो कोरा का कोरा ही रह गया, उस पर रंग कैसे चढ़ सकता था? जिसका संग किया हुआ है उसका रंग चढ़ा हुआ है। इसमें किसी का दोष नहीं है। इसके लिए गीता में भगवान् ने कहा है—

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।**
**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥**

*—गीता ४/३४*

आप तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाओ, उनके पास बैठो, उनसे प्रार्थना करो, उनकी सेवा करो, उनकी वन्दना करो फिर उनसे प्रश्न करो, वे तुम्हारे संशय को दूर करेंगे। सङ्ग पाकर बड़े-२ अज्ञानी भी सुबोधयुक्त हो जाते हैं। जिन संतों का मैंने नाम बताया है, वे बहुत पढ़े-लिखे संत नहीं थे लेकिन उन्होंने सद्‌गुरु का सङ्ग किया था। स्वामी रामानन्द के यहाँ प्रतिदिन सत्संग हुआ करता था। वे वेद-वेदाङ्ग के महान् पण्डित थे, तत्त्वज्ञ थे, सिद्ध पुरुष थे, उनके सङ्ग से उनके जितने शिष्य थे, वे सब के सब महान् सिद्ध हुए। उन्होंने अपनी वाणियों में अपने गुरु की ही महिमा का गान किया।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि या तो तुम स्वयं शास्त्रज्ञ बनो, साधक बनो, नहीं तो सद्‌गुरु की शरण में बैठ करके उनके सद्‌विचारों को सुनो जो कि शास्त्र सम्मत हैं। इससे तुम्हारी इस दिशा में प्रगति होगी। पहली शर्त है—'तत्तु विषय त्यागात्।' विषयों के पीछे मत दौड़ो। दुनिया की वस्तु तुम यहीं छोड़ जाओगे। जब तुम इनको लेकर नहीं जाओगे तो तुम इनके पीछे क्यों रातों-दिन मरते हो? उतना ही करो जिससे तुम्हारी शान्ति भंग न हो। पूछा—"आप सत्सङ्ग में क्यों नहीं आए?" कहा—"क्या बतायें, स्वामी जी! हम बड़े व्यस्त रहे क्योंकि हमारे रिश्तेदार आ गए थे।" यह विकृत बुद्धि का ही परिणाम है। भला

उनसे पूछो कि एक घण्टे के सत्संग में जो तुम्हें मिलता है, वह तुम्हारे रिश्तेदार तुम्हें दे सकते हैं क्या? उत्तर मिलेगा—नहीं, लेकिन 'सोसाइटी मेनटेन' जो करनी होती है। यह जो बुद्धिहीनता है इसमें उनका कोई दोष नहीं, संस्कार ही ऐसे हैं। उन्होंने किस बात को अधिक महत्त्व दिया है जीवन में? किसकी महत्ता समझी है? घण्टे के सत्सङ्ग की महिमा समझी है या समाज के मेनटेनैंस की? जिसको मूल्यवान् तुम समझते हो उसके लिए तुम समय देते हो, सम्पत्ति देते हो, जीवन देते हो। जिसको मूल्यवान नहीं समझा उसको देने के लिए तुम्हारे पास कुछ नहीं होता। यह जो वृत्ति है इसका ही परिणाम है कि सब कुछ करते हुए भी शान्ति का दर्शन नहीं होता, रोते-रोते जिन्दगी बीत जाती है। एक महात्मा जी एक कहानी सुनाया करते थे। उस कहानी में उन्होंने सुनाया—

**बाबू जी आकर दुनिया में काम क्या-२ कर गए ?**
**पढ़ाई की, नौकरी की, पेंशन ली और मर गए ॥**

इस प्रकार जिन्दगी ऐसे ही खत्म हो जाती है लेकिन यदि थोड़ा सा भी जीवन में परिवर्तन आ जाए, अपने आपको उधर लगा दे तो जिन्दगी बदल जाती है। विषय तो एक दिन तुम्हें छोड़ेंगे, तुम पहले छोड़ दो तो अच्छा है। तुलसीदास जी ने बड़ी अच्छी बात कही है—

**सुत बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते।**
**अंतहु तोहिं तजैंगे पामर! तू न तजै अबही ते॥**

—*वि०प० १९८-३*

एक दिन वे तुम्हें छोड़ेंगे ही। तुम पहले से ही सावधान हो जाओ तो तुम्हें उनके छोड़ने का कोई दुःख नहीं होगा। यदि तुम्हें पता चल जाए कि मकान मालिक तुम्हें मकान से निकालना चाहता है तो तुम पहले ही कहो कि भाई मैं जा रहा हूँ। मकान से इज्जत के साथ चले तो जाओगे, बेइज्जत होने से तो अच्छा होगा। यदि नौकरी से जवाब मिलने वाला हो तो पहले इस्तीफा दे दो नौकरी से। इससे क्या होगा? इससे यह होगा कि दूसरी जगह तुम्हें नौकरी मिल जाएगी। यदि तुम निकाले गए तो नौकरी मिलनी मुश्किल होगी। जहाँ नौकरी करने जाओगे वह पूछेगा—"क्यों निकाले गए नौकरी से?" क्या जवाब दोगे? पहले यदि इस्तीफा दे दोगे तो आप कहोगे कि हम जहाँ पहले नौकरी करते थे, वहाँ त्याग पत्र दे दिया। क्यों दे दिया? अरे भाई! यह दोष था, वह दोष था इसलिए हमने त्यागपत्र दे दिया। यदि निकाले गए तो सफाई पेश करोगे, यदि स्वयं नौकरी छोड़ दी तो दोष बताओगे इसलिए तुलसीदास जी ने कहा है—

**अंतहु तोहिं तजैंगे पामर! तू न तजै अबही ते ॥**

विषयों का त्याग कर दे और कुसङ्ग का त्याग कर दे। अब तीसरा नारद जी कहते हैं—

**अव्यावृतभजनात्।** —ना०भ०सू० ३६

अखण्ड भजन। प्रभु के नाम का सुमिरन। गुरु बीज मन्त्र देता है। गुरु के द्वारा जो शब्द कर्णरन्ध्र से अन्दर जाता है, वह एक बीज होता है। सुमिरन और ध्यान उसकी खाद और उसकी सम्भाल है। इससे उसमें से अंकुर निकलता है। अखण्ड सुमिरन ही प्रेम रूपी और ज्ञान रूपी वृक्ष में परिणत होता है। गुरु ने यदि मन्त्र दे दिया और तूने उसे खाद नहीं डाला, पानी नहीं दिया, वह तो पड़ा-२ सूखेगा। थोड़े दिनों बाद खत्म हो जाएगा इसलिए कहा—'अव्यावृतभजनात्'। साधक के लिए बताया कि यदि तुम खाट पर सोवो तो दस मिनट खाट पर बैठे-बैठे भजन करना शुरु करो और भजन करते-करते सो जाओ, तुम्हें नींद आ जाएगी। वह नींद तुम्हारी भजन में ही गिनी जाएगी। जब तुम उठो तो तुरन्त दस मिनट के लिए बैठ जाओ और उसी बीज मन्त्र का सुमिरन करो तथा प्रभु का ध्यान करो। वह जो ध्यान है तुम्हारा वह अखण्ड भजन हो जाएगा। भगवान् सब जगह हैं, सर्वत्र हैं, सभी स्थितियों में हैं, वहाँ पवित्रता या अपवित्रता की भ्रान्ति नहीं है। जिस स्थिति में तुम हो उसी स्थिति में बैठ जाओ। एक महात्मा बताते थे कि नहा-धोकर चौकी पर बैठ कर भगवान् का नाम लेना चाहिए और एक महात्मा बताते थे—भई, जब चाहो तब भगवान् का नाम लो। भगवान् का नाम तो चौबिस घण्टे ही लेना चाहिए। एक ने उनसे पूछा—"जब शौचालय में जाएँ तब क्या करना चाहिए?" कहा—"वहाँ भी भगवान् का नाम लेना चाहिए।" कहा—"वह तो बड़ा अपवित्र स्थान है?" स्वामी जी ने कहा—"यदि वहीं हृदय गति रुक जाए तो क्या करोगे?" भारत के दो राष्ट्रपति—जाकिर हुसैन और फखरुद्दीन अली अहमद शौचालय में मरे थे इसलिए तुम जिस भी स्थिति में हो भगवान् तुम्हें याद रहने चाहिए—

**सुमिरन करिए राम को काल गहै हैं केस।**
**न जाने कब मारिहैं क्या घर क्या परदेस ॥**

कौन जानता है व्यक्ति कहाँ खत्म हो जाए, इसलिए प्रभु का सुमिरन प्रत्येक क्षण करते ही रहना चाहिए। यदि अखण्ड भजन चलता रहेगा तो मेरे विश्वास से तुम भक्ति के रास्ते पर दो कदम आगे बढ़ पाओगे।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## १०

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! कल आप लोगों को समझाया गया था—

**तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ।**

—*ना० भ० सू० ३५*

भक्ति का सबसे प्रथम साधन विषय त्याग और कुसङ्गति है। जो विषयानन्द में निमग्न रहते हैं, वे परमानन्द को प्राप्त नहीं कर पाते। जो संसार के विषयों में ही तृप्त हैं उनको परमात्मा के प्रेम रूपी आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। मन तो एक है, उसको चाहे इधर लगा दो चाहे उधर। मनुष्य के शरीर में चेतना के पाँच स्तर हैं। उसमें दो ऊपर हैं, दो नीचे हैं और बीच में मन है। अन्नमय, प्राणमय कोष नीचे हैं, विज्ञानमय, आनन्दमय कोष ऊपर हैं और बीच में मनोमय कोष है। मनोमय कोष से ही सारी अनुभूति होती है। वह दोनों तरफ नहीं लग सकता। यह नहीं हो सकता कि आधा ऊपर लगा दो और आधा नीचे। ऊधो ने जिस समय जाकर गोपिकाओं से अपने योग की बात करनी प्रारम्भ की तो गोपिकाओं ने उसके बदले में जो कहा सूरदास जी ने अपने सूरसागर में एक पद में उसका संकेत किया है—

**ऊधो, मन न भजिए दस बीस ।**

''ऊधो! तुम्हारी योग की बातें बड़ी अच्छी हैं परन्तु एक व्यक्ति के पास एक ही मन होता है, कोई दस-बीस तो नहीं होते''—

**एक हुतो सो गयो स्याम सँग, को आराधै ईस॥**

''एक ही मन था वह तो श्यामसुन्दर के साथ रहता है परन्तु तुम जो ईश्वर की

बात समझा रहे हो, उसकी आराधना अब कौन करे, क्योंकि दूसरा तो कोई है नहीं। यदि दूसरा मन होता तो तुम्हारी बात मान लेता।'' एक दिन मैंने आपको बताया था कि जब गोपिकाएँ भगवान् की बंसी की धुन सुन कर आ जाती हैं तो भगवान् उनको घर जाने के लिए समझाते हैं। सूरदास जी ने लिखा है कि गोपिकाओं ने यही उत्तर दिया—

**घर तन मन बिना नहीं जात।**
**आप हँसी-२ कहत हौं हरि चतुराई की बात॥**

''आप तो हम लोगों से चालाकी की बात कर रहे हो कि घर लौट जाओ लेकिन घर जाए कौन? यदि हमारे तन को घर भेजना है तो पहले हमारे मन को तो लौटा दो। शरीर अकेला मन के बिना कैसे जा सकता है? मन तो एक है वह भी आप में लगा हुआ है, घर कौन जाए, कैसे जाए?''

मैं आप लोगों को बता रहा था कि मन एक है दो नहीं हैं। यही नहीं कि आधा मन संसार में लगा रहे और आधा भगवान् में लग जाए। भगवान् एकांगी प्रेम चाहते हैं। वे पूर्ण समर्पण चाहते हैं। ब्रह्मानन्द और विषयानन्द दोनों साथ-२ नहीं चल सकते। या तो मनोमय कोष से तुम्हारा मन प्राणमय, अन्नमय कोष में जाएगा यानी इन्द्रियों और शरीर में जाएगा, संसार में जाएगा या फिर वहाँ से मुड़ कर विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोष की तरफ जाएगा, बीच में नहीं रह सकता। खास बात यह है कि मन कभी बिना आधार के नहीं रह सकता। यदि तुम कहो कि मन न नीचे जाए और न ऊपर जाए, अपनी जगह पर ही रहे तो यह नहीं हो सकता। यदि तुम मन को निराधार कर दोगे तो यह मर जाएगा। योगी लोग मन को अमन करने के लिए उसको निराधार रखने की कोशिश करते हैं इसलिए मन या तो नीचे की तरफ जाएगा या ऊपर की तरफ जाएगा, उसके लिए कोई दूसरा रास्ता नहीं है, इसलिए सर्वप्रथम जो भक्ति को चाहता है, वह विषय का त्याग करे। कहा—विषय का त्याग बड़ा मुश्किल है। कहा—विषय को फिर तुम भगवान् की तरफ मोड़ो। गीता के दूसरे अध्याय में भगवान् ने जो बात कही है, वह बहुत ही अच्छी है। इसे गीता के सिद्धान्त का सार समझो। भगवान् ने कहा—एक आदमी वह है जिसने विषयों से इन्द्रियों को रोक लिया है और मन से विषयों का चिन्तन करता है। एक वह है जिसने मन को विषयों से रोक लिया है और इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपयोग करता है। पहले वाले को मिथ्याचारी कहा है। वह विषयों से विमुक्त नहीं हुआ, वह दम्भी है। दूसरे के लिए कहा—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

*—गीता २/६४*

उसने मन को विषयों से हटा कर भगवान् में लगाया है और इन्द्रियों से विषयों का सेवन करता है। पूछा—वह क्या है? कहा—वह तो परमात्मा के प्रसाद को पाता है। वह विषयों का सेवन तो करता है लेकिन विषयों का सेवन वह अपने लिए नहीं परमात्मा के लिए कर रहा है। इनको वह भगवान् के पूजा की सामग्री समझ रहा है। विषय माने काम ही नहीं होता। विषय माने शब्द, रूप, रस, गन्ध। मन भगवान् में लगा हुआ है-सुन्दर रूप देख रहा है तो भगवान् के नाते देख रहा है, सुन्दर संगीत सुनता है तो भगवान् के नाते सुनता है, सुन्दर स्वाद लेता है तो भगवान् के प्रसाद के रूप में लेता है, सुन्दर सुगन्ध लेता है तो भगवान् के प्रसाद से लेता है। वह जो भाव बना इसमें इन्द्रियों को विषयों से नहीं हटाया, इन्द्रियों से तो विषयों का उपयोग कर रहा है लेकिन मन भगवान् में लगाया है इसलिए भगवान् के नाते सब कुछ कर रहा है। अब इन्द्रियों का नाता नहीं रहा भगवान् का नाता हो गया। काम वही है भाव बदल गया है। क्रिया बदल लेने से बात नहीं बनती है। बन्धन क्रिया में नहीं भाव में है। भगवान् कहते हैं कि जो मन को मेरे में लगाकर संसार का उपयोग कर रहा है, वह मेरा प्रिय भक्त है। वह मुझे प्राप्त करेगा संसार को नहीं अर्थात् संसार में वह नहीं गिरेगा। यही भक्ति मार्ग का वैशिष्ट्य है, यही इसकी महिमा है कि इसमें संसार के क्रिया-कलाप वर्जित नहीं हैं।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्तवा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

*—गीता ५/१०*

गीता के पाँचवें अध्याय में भगवान् ने बताया है कि वह मन को ब्रह्म में लगा कर सारे कर्मों को उसी के नाते कर रहा है इसलिए वह किसी भी कर्म से लिपायमान नहीं हो रहा है। जैसे कमल का पत्ता पानी में रहते हुए भी पानी से अलग रहता है, ऐसे ही वह योगी जगत् में रहते हुए भी जगत् से अलग रहता है इसलिए—

तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ॥

*—ना०भ०सू० ३५*

सबसे पहले विषय त्याग दे और विषय के बाद कुसङ्ग का त्याग कर दे। कुसङ्ग माने आसक्ति। आसक्ति का त्याग उत्तम है। आसक्ति मन का स्वभाव है। जैसे

मैंने बताया कि मन निराधार नहीं रह सकता इसलिए यह कहीं न कहीं अवश्य आसक्त होगा। भगवान् ने कहा है—

**मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।**

*—गीता ७/१*

मन की आसक्ति किस में होती है? जो सबसे अधिक सुन्दर हो। भगवान् से ज्यादा तो कोई नहीं है इसलिए इसे भगवान् के सौन्दर्य की कहानी सुनाओ। एक बहुत बड़ा इश्कबाज था। वह लड़कों से इश्क करता था जिसे अंग्रेजी में 'होमो सैक्स' कहते हैं। उसकी वृत्ति में था कि बहुत सुन्दर लड़का देखा तो उसके पीछे लग जाना, जो उसकी प्रिय वस्तु हो वह उसे देना और उससे प्रेम करता। एक दिन वह दिल्ली में चला जा रहा था तो एक जगह उसने पण्डित जी को श्रीमद्भागवत का पाठ करते हुए देखा। पण्डित जी श्रीकृष्ण के स्वरूप का वर्णन कर रहे थे। वह पठान उसी रास्ते से जा रहा था। उसके कानों में वे शब्द पड़े तो वहीं रुक कर सुनने लगा। उसने सोचा, यहाँ तो किसी सुन्दर लड़के की चर्चा हो रही है। पण्डित जी उस दिन—

**बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं**
**बिभ्रद्वासः कनकपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।**

*—श्रीमद्भागवत १०/२१-५*

वह इस श्लोक का वर्णन बड़ी मस्ती में कर रहे थे। ऐसा लग रहा था कि भगवान् इनके सामने खड़े हैं और ये इसके प्रत्येक अंग का वर्णन कर रहे हैं। जैसे-२ वह सुना कि घुंघराले केश हैं, ऊँचे उठे हुए कपोल हैं, बड़ी-२ आँखें हैं, ऐसा सुन्दर मुखारविन्द् है तो वह विमुग्ध होता गया। जब कथा समाप्त हो गई, सब चले गए तो वह पठान पण्डित जी के पास आया। उसने पूछा, "जिस लड़के की आप चर्चा कर रहे थे, वह कहाँ रहता है?" पण्डित जी ने कहा कि वह वृन्दावन में रहता है। वृन्दावन में क्या करता है? वह गाय चराता है। पण्डित जी एक बात और बता सकते हो क्या? पठान ने पूछा। पण्डित जी ने कहा—"बोलो, क्या पूछना चाहते हो?" कहा—"उस लड़के को सबसे प्रिय चीज़ क्या है?" पण्डित जी ने कहा—"माक्खन और मिश्री।" उसने सोचा यह तो बहुत सरल सी चीज़ है। उसने निश्चय किया कि मैं माक्खन और मिश्री लेकर वृन्दावन जाऊँगा और उस लड़के को अवश्य देखूँगा। "क्या नाम है उस लड़के का, पण्डित जी?" कहा—"उसका नाम कृष्ण है।" अब वह पठान माक्खन और मिश्री

लेकर मथुरा की तरफ चल पड़ा। दिल्ली से मथुरा ७० मील पड़ता है। दो तीन दिन पैदल चल कर वह मथुरा पहुँचा। उसके दिमाग में कृष्ण का सुमिरन चल रहा था कि कहीं नाम न भूल जाये। यदि नाम भूल गया तो वह वहाँ किसको ढूंढेगा? वहाँ जाकर उसने पूछा, ''वह वृन्दावन में रहता है, गाय चराता है, नन्द का लड़का है, क्या आप बता सकते हैं कि वह कहाँ मिलेगा?'' लोगों ने कहा— ''भई! यहीं कहीं होगा,'' क्योंकि अब यह तो कह नहीं सकते थे कि हम उसे नहीं जानते या यह पुरानी बात है। वृन्दावन में यदि आज भी आप जाओ और श्रीकृष्ण के बारे में बात करो तो कोई यह नहीं कहेगा कि यह पुरानी बात है या कृष्ण नहीं है। उस पठान के पूछने पर जब पता चला कि कृष्ण यहीं कहीं गऊएँ चरा रहा होगा तो वह कृष्ण की खोज में माखन-मिश्री लेकर चल पड़ा। उसको खाना-पीना सब भूल गया। वह कृष्ण-कृष्ण का चिन्तन करता हुआ सायंकाल और सवेरे चारों तरफ जंगलों में घूमता रहा। इस प्रकार कई दिन बीत गए। अब वह इतना थक चुका था कि उससे चला फिरा भी नहीं जाता था। वह चलते-२ बेहोश होकर गिर गया। उसकी इस दशा पर भगवान् को दया आ गई और वे उसी समय प्रकट हो गए। आवाज़ लगाई—''बाबा! तुम किस के लिए इतने व्याकुल हो रहे हो?'' ज्योंहि उसने भगवान् की तरफ देखा तो पण्डित जी के व्याख्यान को उनके एक-२ अंग से मिलाने लगा और विचार करने लगा कि हो न हो यह वही लड़का हो। उसने बताया, ''मैं कृष्ण को ढूंढ़ रहा हूँ।'' ''क्या करोगे कृष्ण को? उसके लिए कुछ ले आए हो?'' उसके हाथों में माखन-मिश्री देखकर भगवान् ने हाथ बढ़ाते हुए कहा, ''मुझे दे दो यह माखन-मिश्री।'' भगवान् ने माखन-मिश्री ली और अन्तर्धान हो गए। वह जो भगवान् की एक झाँकी मिली, उससे उसका सारा जीवन बदल गया। उस पठान का नाम पड़ा रसखान। वे आज से ४०० वर्ष पूर्व एक महान् संत हुए। आप में से किसी ने हिन्दी साहित्य पढ़ा हो तो रसखान का नाम जरूर पढ़ा होगा। हिन्दी साहित्य में उस पठान का नाम अमर हो गया। उसके हृदय में पहले कृष्ण के प्रति भगवान् की भावना नहीं थी। वह इश्कबाज था और कृष्ण नामक लड़के को ढूँढ़ने निकला था भगवान् को नहीं। उसको क्या पता था कि यह इश्क उसके लिए वरदान बनेगा। उस पठान रसखान ने व्रज भाषा में इतनी सुन्दर कवितायें लिखी हैं कि उनकी कविताएँ अच्छे-२ सन्त ही नहीं गाते बल्कि स्कूलों और कालेजों में पढ़ाई जाती हैं। उन्होंने अपने भावों को इस प्रकार व्यक्त किया है—

**ब्रह्म मैं ढूँढ़यौ पुरानन कानन बेद रिचासुनि चौगुनै चायन।**
**देख्यौ सुन्यौ कबहूँ न कित वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥**
**टेरत-टेरत हारि पच्यो रसखानि बतायौ न लोग-लुगायन।**
**देखौ दुरौ वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन॥**

"जिस ब्रह्म को हमने वेद और पुराणों में सुना, लोगों से पूछा और लोगों ने कहीं नहीं बताया, उसको ढूँढते-२ जब मैं थक गया तब उस ब्रह्म को मैंने सेवा-कुञ्ज में राधिका के पाँव दबाते हुए देखा।"

मैं आप लोगों को बता रहा था कि विषयों को परिवर्तित करने का जो क्रम हमारे संतों ने समझाया है, वह बड़ा ही सुन्दर है। तुम किसी भी विषय को यदि भगवान् के साथ जोड़ देते हो तो तुम्हारा मन प्राणमय और अन्नमय कोष की दिशा में न जाकर के वहाँ से लौट पड़ेगा और विज्ञानमय तथा आनन्दमय दिशा में अपने आप चल पड़ेगा, उसके लिए किसी प्रयत्न की जरूरत नहीं है। देवर्षि नारद जी कहते हैं—'तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च।' विषयों का त्याग और कुसङ्ग का त्याग कर देना चाहिए। भगवान् में आसक्त होने पर इनका त्याग अपने आप हो जाता है। मन आसक्ति के बिना नहीं रह सकता। आसक्ति रहित होते ही मन मर जाता है। मरना किसी को पसन्द नहीं इसलिए मन भी मरने से बचता है। भगवान् ने कहा है कि उसे निरासक्त मत बनाओ—

**मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ॥**

*—गीता ७/१*

"मन को मेरे में आसक्त करके मेरे से ही युक्त कर दो और उसे मेरे ही आश्रित कर दो। जब वह मेरे आश्रित हो जाएगा तो फिर वह संसार में कहीं नहीं जायेगा।" तुलसीदास जी ने विनय पत्रिका में लिखा है—

**जो सन्तोष-सुधा निसिबासर सपनेहुँ कबहुँक पावै।**
**तौ कत बिषय बिलोकि झूँठ जल मन-कुरंग ज्यों धावै॥**

*—वि०प० १६८/२*

इस मन को कभी स्वप्न में भी यदि संतोष रूपी सुधा किञ्चित मात्र भी मिल जाए तो यह मृगा की तरह संसार के झूठे सुख को देखकर क्यों इधर-उधर दौड़ेगा? इसलिए मन को किसी भी प्रकार से भगवान् की तरफ कर दो। भगवान् की तरफ करने के लिए भगवान् की महिमा का वर्णन ही साधन है। यदि उस पठान ने भगवान् की महिमा न सुनी होती तो क्या वह कृष्ण पर मोहित होता? क्या वह कभी रसखान के नाम से प्रसिद्ध होता? सर्वप्रथम उसने सुना, सुन करके उसको

प्रेम जागृत हुआ। वह प्रेम चाहे विषयात्मक था या वासनात्मक लेकिन वह कृष्ण से सम्बन्धित था। उसका प्रेम अन्त में परिवर्तित हो गया।

केवल एक रसखान ही नहीं, कई ऐसे और भी मुसलमान संत हुए हैं। लखनऊ की एक ताज नाम की बेगम थी। उसने मक्के की यात्रा का निश्चय किया। वह हज करने चली। उसके साथ बहुत लाव-लश्कर, हाथी, बग्घियाँ, सेवक, सेविकाएँ तथा ऊँट आदि थे। वह जब आई तो मथुरा के पास उसका डेरा पड़ा। सायंकाल जब द्वारिकाधीश के मन्दिर में पूजा होने लगी तो घण्टे बजने लगे। उसने कभी एक ध्वनि में घंटे बजते हुए नहीं सुने थे। सुन करके उसे बड़ा आनन्द आया। उसने मौलवी से पूछा कि यह इतनी सुन्दर आवाज़ कहाँ से आ रही है? मौलवी ने कहा—"बेगम साहिबा! यहाँ थोड़ी दूरी पर काफिरों के भगवान् रहते हैं। काफिर लोग उनकी पूजा कर रहे हैं, उनकी यह आवाज़ आ रही है।" "काफिरों के भगवान् इतने नज़दीक रहते हैं?" उसने पूछा। मौलवी ने कहा, "हाँ! हमारे खुदा तो बड़े हैं न इसलिए वे बहुत दूर रहते हैं। काफिरों के भगवान् छोटे हैं इसलिए नज़दीक रहते हैं।" उसने कहा, "मौलवी साहिब फिर तो पहले अपने को छोटे भगवान् के दर्शन करने चाहिए और बाद में बड़े भगवान् के।" उसने कहा, "नहीं बेगम, ऐसे नहीं। अपन काफिरों के भगवान् के दर्शन करने क्यों जाएँ?" मौलवी ने बहुत समझाया। जब वह नहीं मानी तो उसने उसे बताया, "बेगम साहिबा! ये काफिर लोग अपने भगवान् के दर्शन करने की आपको अनुमति नहीं देंगे।" उसने कहा, "भगवान् के दर्शन करने के लिए कोई मना नहीं करेगा, मैं तो जाऊँगी।" बेगम साहिबा ने हठ पकड़ा, वह चल पड़ी, उसके साथ और भी लोग चल पड़े। जब वह वहाँ आई तो पण्डों ने दरवाज़ा बन्द कर लिया और कहा कि मुसलमानी तो अन्दर नहीं जा सकती। वह हठ करके वहीं बैठ गई और कहा कि मैं तो दर्शन करके ही जाऊँगी। उसकी श्रद्धा को देखकर उन्होंने कहा कि तुम अन्दर नहीं जा सकती, बाहर फाटक पर खड़ी हो जाओ, किवाड़ जब खुल जाएगा तो तुम दूर से भगवान् के दर्शन कर लेना। उसने कहा—ठीक है, हमें दर्शन करने से ही मतलब है। जिस समय द्वारिकाधीश का मन्दिर खुला, उसकी दृष्टि अन्दर मन्दिर में पड़ी। मन्दिर में उसे मूर्ति के स्थान पर प्रत्यक्ष भगवान् ही खड़े हुए दिखाई दिए। भगवान् को देखते ही उसका सारा दूषित संस्कार नष्ट हो गया और वह वहीं पर समर्पित हो गई। उसने एक कविता कही जो कि आज भी हमारे यहाँ इतिहास के पन्नों में लिखी हुई है। वह ताज बेगम सारा जीवन मथुरा में रही, वहीं पर उसकी कब्र बनी हुई है। वह न लौटकर

मक्का गई न लखनऊ ही गई। रसखान की भी वहीं पर कब्र बनी हुई है। उसने जो उस समय कविता लिखी है—

**सुनो दिलजानी मेरे, दिल की कहानी,**
**तुमदस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।**
**देव पूजा ठानी औ नमाज भी भुलानी,**
**तजे कलमा-कुरान सारे गुननि गहूँगी मैं॥**
**साँवला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार,**
**तेरे नेह-दाध में निदाघ ज्यों दहूँगी मैं।**
**नन्द के कुमार कुरबान तेरी सूरत पै,**
**हौं तो मुगलानी, हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं॥**

उसने कहा—"मैं हूँ तो मुगलानी लेकिन आज से मैं हिन्दुवानी होकर तुम्हारे दरवाज़े पर रहूँगी।" उसने अपना सारा जीवन वहाँ लगाया और वह संत बन गई। मैं आपको बता रहा था कि भगवान् की भक्ति में आलम्बन भगवान् स्वयं हैं और उस आलम्बन को अपना करके उनमें मन लगाने के पश्चात् मन पुनः संसार की तरफ नहीं जाता, विषयों से उपरत हो जाता है। सङ्ग से आसक्ति, आसक्ति से उसको पाने की कामना, कामना की आपूर्ति से क्रोध, क्रोध से बुद्धि भ्रष्ट और बुद्धि भ्रष्ट से सर्वनाश, ऐसा गीता के दूसरे अध्याय में भगवान् ने बताया है—

**सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।**
**क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः ॥**
**स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।**

*—गीता २/६३*

सर्वनाश का रास्ता है सङ्ग, इसलिए नारद जी कहते हैं—'तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च॥' विषयों का त्याग, आसक्ति का त्याग या कुसङ्ग का त्याग, यही भक्ति के रास्ते के पहले चरण हैं और—अव्यावृत भजनात्। अखण्ड भजन दूसरा चरण है—

**जागत रामहि सोवत रामहि बोलत रामहि बान पड़ी है।**
**स्वासहुँ स्वास जथा जल पीवत रैण दिना गह टेक धरी है॥**
**ऊठत बैठत गान करे पुनि जेवत हूँ बिसरे न घड़ी है।**
**यो हरि दास कहै रसना रस राम के नाम तमाम भरी है॥**

२४ घण्टे प्रभु के नाम के सिवा कोई दूसरी चर्चा ही न हो। चर्चा है तो भगवान् की है, सुमिरन है तो भगवान् का है, काम है तो भगवान् का है, साधक जब सब कुछ

भगवान् के साथ जोड़ देता है तो उसको 'अव्यावृत भजनात्' कहते हैं। कबीर जी ने कहा है—

**सुमिरन स्यों मन लाईए ज्यों सुरभि सुत माहिं।**
**कह कबीर चारियो चरत पलहु बिसरत नाहिं॥**

जैसे नई ब्याई हुई गाए चारा चरते हुए भी अपने बच्चे का ध्यान करके रम्भाती रहती है, इसी रूप से हर एक काम करते हुए प्रभु के सुमिरन में जो लगा हुआ है, वह अखण्ड भजन कर रहा है। यह पूछा गया कि जो अखण्ड सुमिरन में लगा हुआ है, उसका लोक व्यवहार कैसे चलेगा? लोक व्यवहार के लिए क्या किया जाए? सभी तो महात्मा बन नहीं सकते। साधु बनकर घर द्वार छोड़कर जा नहीं सकते। फिर क्या करना चाहिए? नारद जी कहते हैं—

**लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् ॥**

—ना० भ० सू० ३७

ये तीन बातें संसार में रहते हुए भी व्यक्ति कर सकता है। परिवार में रहते हुए यदि तुम कोई काम करते रहो, कीर्तन करते रहो तो क्या तकलीफ हो सकती है? काम करते हुए भी तुम्हारा मन चिन्तन रहित नहीं होता। जब मन से चिन्तन करना ही है तो उस चिन्तन की जगह भगवान् को बिठा दें, इससे चिन्तन भी होता रहेगा और काम भी होता रहेगा। यही बात गीता में भगवान् ने बताई है—'मामनुस्मर युध्य च।' ''मेरा स्मरण करते हुए युद्ध कर।'' एक संत ने एक बात कही कि जब कोई लड़की किसी पुरुष से विवाहित हो जाती है तो वह रोज उठकर अपना हाथ अपने पति के हाथ में नहीं देती। वह तो एक बार उसके माता-पिता ने अग्नि को साक्षी मान कर उसके हाथ में पकड़ा दिया, उसे वह अखण्ड स्मृति बनी हुई है। घर में जितने लोग हैं सभी की सेवा वह उसी के नाते करती है। जैसे समर्पण एक बार एक दिन होता है, रोज़-२ नहीं होता, ऐसे रोज़ सवेरे उठ कर यह कहने की जरूरत नहीं पड़ती कि हे भगवान् मैं तेरा हूँ। एक बार यदि—

**भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥**

दृढ़ निश्चय हो जाए कि मैं प्रभु का हूँ, बहुत है। हमारे यहाँ दीक्षा की प्रक्रिया भी इसी सिद्धान्त पर आधारित है। जब तक लड़की का विवाह नहीं हुआ होता तब तक वह कोई भी सुन्दर पुरुष देखती है तो उसके मन में आता है कि यह उसका पति हो जाए लेकिन जब उसके माता-पिता उसका हाथ किसी पुरुष के हाथ में दे देते हैं तो यदि वह साध्वी है तो उसके लिए निश्चय होता है कि दुनिया में बहुत सुन्दर पुरुष होंगे लेकिन उसके पति के समान नहीं है। उसके लिए तो उसका पति

ही सब कुछ है क्योंकि अब उसकी बुद्धि इधर-उधर नहीं जाती। इसी रूप से हमारे यहाँ शास्त्र में बताते हैं कि बुद्धि कुंवारी कन्या के समान है। यही रहस्यवाद क्रिश्चियनिटी में भी है। इनके पुराने संतों की यदि आप कहानियाँ पढ़ेंगे तो आपको आश्चर्य होगा कि किस प्रकार के वे रहस्यवादी थे। हमारी बुद्धि ही कुवांरी है। उसका सही में पति परमात्मा है। उसमें परमात्मा के माध्यम से जीव की अभिव्यक्ति होती है या अहं की अभिव्यक्ति होती है। यह अहं अपने आपको मनुष्य की सन्तान कहता है। आप बाईबल पढ़िए, हमेशा क्राईस्ट ने अपने आपको मनुष्य की सन्तान कहा है और ईश्वर की सन्तान कहा है। अब तो क्रिश्चेनिटी से ये सारी बातें चली गई हैं। अब तो पाखण्ड ही रह गया है। हरेक धर्म में ऐसा ही होता है। जब साधक नहीं होते, अनुभवकर्ता नहीं होते, केवल पोथी के पण्डित होते हैं तो यथार्थपना नहीं होता। सब जगह यह पाखण्ड आ जाता है। वही बात हमारे यहाँ भी कही गई है कि बुद्धि हमारी कुंवारी कन्या के समान है। गुरु आचार्य होता है, वह बुद्धि को लेकर इष्ट के साथ ब्याह देता है। इष्ट माने परमात्मा। परमात्मा के जिस रूप में जैसे-राम, कृष्ण, दुर्गा, शिव रूप में आपकी रुचि पूछ कर ही गुरु आपको दीक्षा देगा और आप उसी इष्ट को वरण करेंगे। बुद्धि रूपी कन्या जब गुरु के द्वारा इष्ट को ब्याह दी जाती है तो उसे ब्रह्म सम्बन्ध कहते हैं। ब्रह्म सम्बन्ध जब हो जाता है तो अब उसके लिए दूसरा कोई दुनिया में नहीं रह जाता। गुरुमुख हो जाने के पश्चात् उसके जीवन का सारा क्रियाकलाप भगवान् से सम्बन्धित हो जाता है। जब तक बुद्धि मनमुखी होती है तब तक मन जहाँ ले जाता है बुद्धि वहीं चली जाती है—

**इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।**

*—गीता २/६०*

इन्द्रियों ने मन को खींचा, मन ने बुद्धि को खींच लिया। एक पद में मैंने संकेत किया है—

**गृह स्वामिनी प्रज्ञा पतित सो यार के संग हो चली।**
**दूषित अनेकों जन्म से वातावरण में थी पली॥**
**प्रिय लगत भोग न रोग भय फिर प्रभु कहो क्या ढाल है।**

गृह-गृहणि माने बुद्धि। बुद्धि का पति तो आत्मा है लेकिन उसका यार जो है वह मन है इसलिए बताया गया कि बुद्धि को यदि परमात्मा के साथ जोड़ दिया जाए तो फिर उसका सम्बन्ध परमात्मा से होकर के सारे क्रियाकलाप उसके परमात्मा के नाते होते रहते हैं, यह उसकी विशेषता है। इसलिए कहा है—

**लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् ॥**

—ना०भ०सू० ३७

भगवान् के गुणों का श्रवण, भगवान् के गुणों का कीर्तन लोक में रहते हुए भी व्यक्ति करता रहे तो भक्ति के रास्ते पर वह चलता रहेगा। लोक व्यवहार में दो चीज़ें हैं–जब आप मौन हैं तो भगवद् गुण सुनते रहें, चिन्तन करते रहें, जब आप बोल रहे हैं तो भगवद् गुण कीर्तन करें। इससे आप भक्ति पथ पर आगे बढ़ते रहेंगे। अब इसमें श्रवण भक्ति तथा कीर्तन भक्ति बताई। प्रभु के गुण चिन्तन तीसरी भक्ति है। भक्ति के वे अंग श्रीमद्भागवत् में बताए गए हैं—

**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**
**अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**
**इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।**
**क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥**

—श्रीमद्भागवत् ७/५-२३, २४

यहाँ पर श्रवण और कीर्तन मनुष्य के लिए सबसे उत्तम साधन हैं। इससे उत्तम कोई साधन नहीं जिससे वह धीरे-२ भगवतसन्मुख हो। संसार में रहते हुए भी ये काम हो सकते हैं। भारत में ऐसे सैंकड़ों नहीं लाखों लोग मिलेंगे जो अपने काम के साथ भगवान् के नाम को जोड़े हुए हैं। गृहस्थों में बहुत से ऐसे गृहस्थ हैं जो अपने आप में आदर्श हैं। उनके जीवन को देख कर कभी-कभी ऐसा लगता है कि सही में आज भी भारत की हज़ारों वर्ष पूर्व की संस्कृति या संस्कार जीवित हैं। आगे बताया कि क्या भगवन् गुण श्रवण-कीर्तन से ही भक्ति पूरी हो जाएगी या विषय त्याग से? नारद जी कहते हैं, "नहीं, ये सब उसके सहायक साधन हैं। उसको पूर्ण करने में ये सब सहयोगी हैं।" इनमें मुख्य साधन क्या है? बताया—

**मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥**

—ना०भ०सू० ३८

मुख्य तो है महापुरुष की कृपा हो जाए या लेशमात्र भगवान् की कृपा हो जाए तो भगवद् भक्ति प्राप्त होती है। यह भक्ति अपने प्रयत्न से नहीं होती। प्रयत्न तो ज्ञान तक है। ज्ञान के बाद जब वह समर्पित होता है तब भक्ति होती है। सभी आचार्यों का मत है कि भक्ति प्रयत्न साध्य नहीं कृपासाध्य है। हमारे यहाँ वैष्णव सम्प्रदाय में दो मत हैं जिसे मर्कट न्याय तथा मारजार न्याय कहते हैं। इन दोनों में अन्तर है। एक कहता है कि भगवान् की भक्ति में बन्दर के बच्चे जैसा व्यवहार होना चाहिए। बन्दर का बच्चा स्वयं माँ को पकड़े रहता है लेकिन बंदरी जब छलांग मारती है तब बच्चे को एक हाथ नीचे लगा कर सम्भालती है कि कहीं गिर न

जाए। यह मर्कट न्याय है कि तुम भी प्रयत्न करते रहो भगवान् भी तुम्हें स्वयं सम्भालते रहें तो भक्ति प्राप्त हो जाऐगी। दूसरा मारजार न्याय बिल्ली के बच्चे जैसी स्थिति है। बिल्ली अपने बच्चे को स्वयं मुँह में पकड़ती है, जहाँ कहीं जाना होता है, उठा कर ले जाती है और वहां रख देती है। बिल्ली का बच्चा कोई कोशिश नहीं करता। वह पूर्णरूपेण माँ पर निर्भर रहता है। वही माँ जिन दाड़ों में चूहों को दबाती है और मसल देती है, उन्हीं दाड़ों में अपने बच्चों को उठाती है और बड़े प्यार से ले जाती है। इसको मारजार न्याय कहते हैं।

ये दो प्रकार के सिद्धान्त हैं भक्ति मत में। एक मत है-हमें भी प्रयत्न करते रहना चाहिए तथा भगवान् की कृपा भी हो जाएगी। इस प्रकार इन दोनों के सहयोग से हमें भक्ति प्राप्त हो जाएगी। दूसरा मत है-पूर्णरूप से अपने आपको बिल्ली के बच्चे की भाँति परमात्मा पर ही छोड़ देना चाहिए-अपना प्रयत्न क्या करेगा? अनन्त ब्रह्माण्ड में हमारी स्थिति ही क्या है? हमारे इस भूमण्डल की ही कोई स्थिति नहीं है। सूर्य से कई गुणा न्यून पृथ्वी का अस्तित्व है जिस पर हम रहते हैं। पृथ्वी से कई गुणा अधिक बड़ा हमारा सूर्य है और यह सूर्य नेबुले का एक सदस्य है जिसमें हमारे वैज्ञानिकों के अनुसार ४२ बिलियनज़ सूर्य हैं। अब उस ४२ बिलियन सूर्यों से युक्त जो एक नेबुला है उसमें से एक हमारा सूर्य है। ऐसे और कितने नेबुला हैं? असंख्य नेबुला हैं। ये असंख्य ब्रह्माण्ड हमारे उस विराट् के एक अंग में निवास करते हैं। ऐसे असंख्य ब्रह्माण्डों का अधिपति विराट् है और यह विराट् भी परमात्मा के एक अंशमात्र में है—

**ततो व्विराडजायत व्विराजोऽधि पुरुषः।**

—पु०सू० ५

**एकांशेन स्थितो जगत्॥** —गीता १०/४२

गीता में भगवान् ने बताया कि जब उस विराट् का ही उस परमात्मा की दृष्टि में कोई अस्तित्व नहीं है तो और की तो बात ही क्या है। जो विराट् परमात्मा के अंश रूप में प्रकट हुआ है उस विराट् के एक-२ अंश में कोटि-२ ब्रह्माण्ड लगे हुए हैं। एक ब्रह्माण्ड में हमारा सूर्य अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता। उस सूर्य की सदस्या यह पृथ्वी हमारी, इसकी कुछ गणना ही नहीं है और उस पृथ्वी पर अपन कीड़े-मकौड़े से भी बदतर हैं। भला, सोचो क्या अस्तित्व है हमारा! तो अपना प्रयत्न उस परमात्मा को पाने में क्या हो सकता है? इसलिए अपने प्रयत्न का पूर्णरूप से परमात्मा में समर्पण ही भक्ति का मूलाधार है। तुलसीदास जी ने यही

बात कही है अपनी विनय पत्रिका में और रामायण में भी कही है—

**सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥**
**तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥**

हे प्रभो! अपने किए से कुछ नहीं होता। जो तेरी रुचि होती है वही होता है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से केवल अहं की उत्पत्ति ही कर सकता है और कुछ नहीं कर सकता। अहं के द्वारा वह सतत पीड़ित हो सकता है, दुःखी हो सकता है, संतप्त हो सकता है, इसके सिवा और उसे कुछ मिलने वाला नहीं है इसलिए भक्ति केवल एक मात्र उपाय है—'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव।' किसी महापुरुष की कृपा से ही प्राप्त होती है या 'भगवत्कृपालेशाद्वा॥' लेशमात्र भगवान् की कृपा हो जाने पर होती है। वैसे भगवान् सब कुछ देते हैं भक्ति नहीं देते। रामायण में यही कहा है भुशुण्डि जी ने—

**प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥**

—रा० ७/८४-४

जब भगवान् की भक्ति ही नहीं मिली तो सभी सुख किस काम के हैं। भक्ति के अभाव में मोक्ष भी नहीं टिकता। तुलसीदास जी ने लिखा—

**जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥**
**तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥**

—रा० ७/११९-५,६

कहते हैं कि बिना थल के जल नहीं टिकता। जल तो बहता है पहाड़ पर लेकिन बह कर नीचे चला जाता है क्योंकि पहाड़ पर थल नहीं है इसलिए वहाँ जल नहीं रुकता। जैसे जल ऊँचे गिरता है लेकिन वहाँ टिकता नहीं इसी प्रकार से बहुत ऊँचे उठने पर ज्ञान की उपलब्धि तो हो जाती है लेकिन मोक्ष वहाँ टिकता नहीं है क्योंकि भक्ति रूपी थल के बिना मोक्ष रूपी जल नहीं टिक सकता इसलिए भक्ति की आवश्यकता है और वह भक्ति—'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव।' महापुरुषों की कृपा से ही प्राप्त होती है। तुलसीदास जी ने भी यही कहा है—

**जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये।**
**जेहि दरस-परस-समागमादिक पापरासि नसाइये॥**

ये सारे विकार जब सुबोध उत्पन्न होता है तो अपने आप समाप्त हो जाते हैं और यह भगवत् कृपा पर ही अवलम्बित है। रामायण में भी तुलसीदास जी ने यही बात कही है—

**पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥**

—रा० ७/४५-६

बिना भगवत् कृपा के सत्संग नहीं मिलता। दुनिया में हरेक चीज़ अपने प्रयत्न से मिल जाती है लेकिन सत्सङ्ग प्रभु कृपा का ही प्रसाद है। यदि सत्संग मिल जाए तो समझ लो कि भगवत् कृपा हो गई है। भगवत् कृपा नहीं होती तो सत्संग कैसे मिलता! यही बात गरुड़ जी ने भुशुण्डि जी से कही है कि भगवान् की कृपा मेरे ऊपर है तभी तो उन्होंने आपके पास मेरे को भेज दिया है नहीं तो कहाँ मैं और कहाँ आप? यह भगवत् कृपा का लक्षण है। आगे बता रहे हैं—

**महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥**

—ना०भ०सू० ३९

महापुरुषों का साथ बड़ा ही दुर्लभ है अर्थात् बड़े कष्ट से प्राप्त होता है। तभी तो कबीर जी ने कहा है—

**शीश दिये यदि गुरु मिले तो भी सस्ता जान।**

यदि सिर देने से सद्गुरु मिल जाता है तो यह सस्ता सौदा है, कर लेना चाहिए। सस्ता सौदा भी यदि हो तभी न, होता कहाँ है? बहुत कठिन है। इसलिए नारद जी ने कहा है कि महापुरुषों का संग दुर्लभ है और अगम है, सुगमता से प्राप्त नहीं होता अर्थात् होते हुए भी नहीं मिलता, अमोघ है-मिल जाए तो कल्याण हो ही जाता है। क्षण मात्र का भी सत्सङ्ग व्यर्थ नहीं जाता।

रामायण में एक कथा है कि हनुमान जी जब लंका में प्रवेश कर रहे थे तो उन्होंने छोटा सा रूप धारण किया और लंका में प्रवेश कर गए। लंका की अधीश्वरी देवी लंकिनी थी जिसे यह वरदान था कि लंका में कोई भी गुप्त रूप से प्रवेश करेगा तो वह उसे जान जायेगी। हनुमान जी जब गुप्त रूप में प्रवेश करने लगे तो उसने देख लिया और ललकारा—"अरे, कौन है? कहाँ जा रहा है? तुम्हें पता नहीं मैं लंका की रक्षिका हूँ?" हनुमान जी ने उसकी तरफ देखा और देखते ही बिना किसी वार्तालाप के एक घूँसा जब मारा तो उस हाथ के स्पर्श से वह व्याकुल होकर गिर गई लेकिन उस हाथ के स्पर्श का इतना लाभ हुआ कि उसका सारा पाप नष्ट हो गया और वह हाथ जोड़ कर खड़ी हो गई तथा हनुमान जी से कहने लगी—

**जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा। चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा॥**
**बिकल होसि तैं कपि कें मारे। तब जानेसु निसिचर संघारे॥**

—रा० ५/४-६,७

"आज मेरा बहुत बड़ा पुण्य उदय हुआ है जो कि राम भक्त को अपने नेत्रों से देखा है।" वहाँ पर एक दोहा कहा है—

**तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।**
**तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥**

—रा० ५/४

स्वर्ग के और मोक्ष के सारे सुखों को एक पलड़े पर रक्खें और क्षण मात्र के सत्संग के सुख को दूसरे पलड़े पर रख दें तो वे सारे सुख मिल करके लव मात्र के सत्संग के बराबर नहीं हो सकते। हनुमान जी के हाथ के स्पर्श से ही उसे ज्ञान हो गया और उसने परम गति को प्राप्त करते हुए फिर प्रार्थना की—

**प्रबिसि नगर कीजे सब काजा। हृदयँ राखि कोसलपुर राजा॥**

—रा० ५/५-१

मेरा कहने का अभिप्राय किसी भी प्रकार से सत्संग हो तो अमोघ होता है। मारा तो उन्होंने घूंसा लेकिन घूँसे के कारण जो स्पर्श हो गया, वह भी उसे ज्ञान दे गया। इस प्रकार सत्संग हमेशा अमोघ होता है—

**लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव॥** —ना०भ०सू० ४०

वह भगवत् कृपा से प्राप्त होता है, वैसे प्राप्त नहीं होता क्योंकि भगवान् में और उनके भक्त में भेद का अभाव ही होता है—

**भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु, चतुर नाम वपु एक ।**
**इनके पद बंदन किये, नाशहिं विघ्न अनेक ॥**

ऐसा नाभादास ने भक्तमाल में लिखा है, भक्ति, भक्त, भगवान् और गुरु, ये कहने के लिए चार हैं लेकिन चार नहीं हैं, एक ही है इसलिए यहाँ बताया—

**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्॥**

—ना०भ०सू० ४१

भगवान् और भगवान् के भक्त में भेद का अभाव होता है। नारद जी आगे कहते हैं—

**तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम्॥**

—ना०भ०सू० ४२

सदैव सतपुरुषों का ही सङ्ग प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए, ऐसा दो बार कहा है। इन चार सूत्रों की विशेष रूप से व्याख्या कल की जाएगी।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## ११

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् की असीम करुणा आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना। कल आप लोगों को भक्ति की प्राप्ति के साधन रूप में कई बातें बताई थीं जिसमें मुख्यतया—

**मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा।**

*—ना० भ० सू० ३८*

ये दो बातें बताईं गईं कि किसी महापुरुष का संग प्राप्त हो जाए तो उसके संग से भक्ति की प्राप्ति हो जाती है या भगवान् की लेश मात्र कृपा प्राप्त हो जाए तो उससे भक्ति उपलब्ध हो जाती है। भगवत् कृपा से भक्ति की प्राप्ति कैसे होती है, इस विषय में भगवान् ने स्वयं गीता में समझाया है कि मेरी कृपा प्राप्त करने का एक मात्र साधन है पूर्ण समर्पण। भगवान् का कथन है—

**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्।**
**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥**

*—गीता १०/१०*

"जो मेरे से युक्त होकर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, सुमिरन और सेवा करते हैं, उन पर मैं कृपा करके उन्हें बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। मेरे प्रति पूर्ण समर्पण के लिए भी तो प्रेरणा की जरूरत है।" उसे कैसे प्राप्त किया जाए? उसके लिए कहा—'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव।' महापुरुषों की कृपा द्वारा।

भारत में एक संत हुए हैं। उनके जीवन की एक घटना मैं आपको सुनाऊँ, शायद पहले भी सुनाया हूँगा। जयपुर के पूर्वी भाग में एक पहाड़ी है। उस पहाड़ी

पर एक स्थान है जिसे गलिता कहते हैं। वह गालिब ऋषि का स्थान रहा है। आज से ४०० वर्ष पूर्व एक महापुरुष अयोध्या से चले और वहाँ आकर निवास करने लगे। उन दिनों जयपुर शहर नहीं था, आमेर था। आमेर में जयपुर की राजधानी थी। आमेर में गलिता नामक स्थान पर वे महात्मा जिनका नाम स्वामी अग्रदास था, जो रामानन्द के शिष्य सुरेशवाचार्य के शिष्य थे, वहाँ रहने लगे। उन्हें लोग पयहारी बाबा के नाम से जानते थे। एक दिन वे आमेर में सड़क पर जा रहे थे तो उन्होंने डोम जाति की स्त्री को अपना पाँच साल का बच्चा बेचते हुए देखा। डोम लोग राजस्थान में अधिकांश नाचने गाने का काम करते हैं। वह औरत पाँच साल का बच्चा पाँच रुपये में बेच रही थी लेकिन उसे लेने वाला कोई नहीं था। स्वामी जी चले जा रहे थे, उनकी दृष्टि उस पर पड़ी और उन्होंने उससे पूछा कि देवी! तू क्या कर रही है? वह रोने लगी और कहा-'पेट के लिए अपने बच्चे को पाँच रुपये में बेच रही हूँ लेकिन लेने वाला कोई नहीं है।' उन्होंने कहा, "कोई बात नहीं, आओ मेरे साथ।" यह कह कर स्वामी जी चल पड़े और एक सेठ की दुकान पर जाकर उन्होंने कहा, "इसे पाँच रुपये दे दो।" पाँच रुपये दिलाकर उस बच्चे को साथ लेकर स्वामी जी आश्रम में चले आए। वहाँ लाकर उसे वैष्णव धर्म में दीक्षित किया और अपने साथ रख लिया। अब उस बच्चे को प्यार मिलने लगा। वह बच्चा गुरु प्रदत्त मन्त्र का जाप करने लगा और साथ में पढ़ने भी लगा। उसके संस्कार जागृत हो गए। साधन में उसकी बड़ी अच्छी गति थी। वह बालक १७ साल का हो गया। एक दिन पयहारी बाबा अन्दर ध्यान में बैठे हुए थे और वह बाहर उनकी सम्भाल में बैठा था। उस समय वहाँ घोर जंगल था। पयहारी जी ने ध्यान में देखा कि जंगल में एक शेर गाय पर झपट रहा है। जब उन्होंने देखा तो उन्हें हुआ कि गाय को बचाना चाहिए। अब कौन बचावे? इतने में उन्होंने देखा कि अचानक शेर गिर गया और मर गया। शेर को मरते हुए देखा तो उन्हें लगा कि किसी सिद्ध ने उसे मारा है। वे तुरन्त कुटिया से बाहर निकले। ज्योंहि वे बाहर निकले तो बाहर बैठे हुए बालक ने प्रणाम करके पूछा, "गुरुदेव, आप इतने घबराए हुए क्यों हैं, गाय तो बच गई, न?" उन्होंने कहा, "बेटे, गाय तो बच गई लेकिन उसको बचाया कौन?" "गुरुदेव! आपने ही बचाया उसे।" इसका अभिप्राय? "इसका अभिप्राय यह कि मैंने देखा कि आपके ध्यान में विघ्न पड़ रहा है तो मैंने जल लिया और आपके मन्त्र का प्रयोग किया, शेर मर गया, गाय बच गई। यह तो आपने ही किया।" इतना सुनना था कि पयहारी बाबा ने दौड़ कर उस बालक को अपने हृदय से लगा लिया और उसे आदेश दिया कि तुम

१०८ भक्तों की जीवनियाँ लिख कर उसे प्रभु को समर्पित करो। उस सन्त ने एक ग्रन्थ लिखा है। साधु समाज में जितना आदर रामचरितमानस का है उतना ही आदर उस ग्रन्थ का है जिसका नाम है भक्तमाल और उस सन्त का नाम था नाभादास। सन्त नाभादास जिन्होंने भक्तमाल की रचना की, उनके जीवन की यह घटना है। डोम का बालक जिसको किसी भी प्रकार के संस्कार की संभावना नहीं थी, वह एक संत कृपा से यानी गुरुकृपा से एक महान् तत्त्वज्ञ संत बने और उन्होंने सैंकड़ों नहीं लाखों को प्रेरणा देकर भक्ति की दिशा में प्रेरित किया। अनेकों और भी उदाहरण मिलते हैं। जैसे वाल्मीकि, डाकू अंगुलीमाल आदि जो संतों की महत् कृपा से अपने जीवन को परम पवित्र बनाये हैं और भगवान् का साक्षात्कार किये हैं। भक्ति में यही एक मात्र साधन है इसलिए—'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव।' भगवान् की कृपा भी तभी प्राप्त होती है जब किसी महापुरुष की कृपा हो जाए। हमारे यहाँ शास्त्रों में बताया गया है कि जीव के उद्धार में चार कृपा हेतु होती है। उसमें सबसे पहले आत्म कृपा ही कारण है। जब अपनी कृपा अपने पर हो जाए तब वह किसी सद्‌गुरु की तलाश करता है। गुरु कृपा हो जाए तो वह शास्त्र बोध करा देता है, तब शास्त्र कृपा हो जाती है। जहाँ गुरु और शास्त्र दोनों की कृपा हुई तब आखिर में भगवत् कृपा हो जाती है जिससे कि उसका उद्धार हो जाता है। आत्म कृपा, गुरु कृपा, शास्त्र कृपा औरं परमात्म कृपा-चार प्रकार की कृपा से जीव का उद्धार होता है। यहाँ पर भगवत् कृपा भी महापुरुषों की कृपा पर ही अवलम्बित है, इसलिए आगे के सूत्र में नारद जी बता रहे हैं—

**महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥**

महापुरुषों का संग दुर्लभ है, इतना सरल नहीं है। भारत में एक संत हुए हैं। एक दोहा कहा करते थे वो—

**राम नाम की लूट है लूट सके तो लूट।**
**अन्तकाल पछताएगा जब प्राण जाएंगे छूट ॥**

एक अन्य महापुरुष ने इसके उत्तर में कहा—

**लूट न ऐसी जानिए सब कोई लेवे लूट।**
**इतने डंडे पड़त हैं हाड़ जात हैं टूट ॥**

इतनी सरल लूट नहीं है कि जो चाहे वही लूट ले, बहुत मुश्किल है।

महापुरुषों का सङ्ग करना बड़ा दुर्लभ है। यदि कोई अपने मित्रों के संग क्लब में जाता हो, शराब-खाने जाता हो या पत्ते खेलने जाता हो तो घर वालों को

कोई चिन्ता नहीं होती। यदि वह धीरे-धीरे किसी महापुरुष के पास जाने लगे तो चिन्ता इतनी बढ़ने लगती है कि कहीं ऐसा न हो कि यह महात्मा ही बन जाय। जैसे महात्मा बनना पाप है या अपराध है। ऐसा क्यों होता है ? इसलिए कि व्यक्ति जहाँ स्वयं होता है दूसरे को भी वहीं देखना चाहता है, उससे आगे नहीं देखना चाहता।

एक बार की बात है कि एक महात्मा थे, उनके पास एक नौजवान लड़का आया करता था। एक दिन उसकी माँ ने उसके बाप से कहा कि यह महात्मा के यहाँ बहुत जाता है। ऐसा न हो कि यह भी महात्मा बन जाए। बाप ने बुलाया और कहा—"बेटा! देख तू मेरा अकेला लड़का है। मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकता। तुम्हारे बिना मेरा जीवन अधूरा है। आज से तू महात्मा के पास जाना छोड़ दे।" उसकी माँ ने भी यही कहा। उसकी स्त्री ने भी यही कहा। थोड़ी देर ही हुई थी उसकी शादी हुए। उस लड़के ने सोचा कि जब हमारे माँ-बाप और स्त्री हमारे बिना रह ही नहीं सकते तो हम क्या करेंगे महात्मा के यहाँ जाकर। परिणाम यह हुआ कि एक दिन महात्मा जी स्वयं उनके घर आए। पूछा—"क्या बात है इतने दिनों से दिखाई ही नहीं दिया तू?" लड़के ने कहा—"क्या बताऊँ गुरुजी! जब मैं आपके यहाँ जाता हूँ तो मेरे माता-पिता और मेरी स्त्री बहुत दुःखी होते हैं।" पूछा—"क्यों होते हैं ?" कहा—"पता नहीं, लेकिन ये कहते हैं कि हम मर जायेंगे, जीयेंगे नहीं, यदि तुम वहाँ गए तो।" उन्होंने कहा—"कल तू मेरे पास अवश्य आना।" दूसरे दिन वह गया। उन्होंने लड़के से कहा—"मैं तुम्हें प्राण की क्रिया सिखा देता हूँ। तुम उससे एक घण्टा प्राण ब्रह्माण्ड में चढ़ा सकते हो। सुबह उठने से पहले यह क्रिया तुम कर लेना। उसमें तुम्हें होश तो रहेगी लेकिन प्राण की गति बन्द हो जाएगी। उस समय तुम देखना तुम्हारे परिवार वाले तुम्हें कितना प्यार करते हैं ?" लड़के ने ऐसा ही किया। सुबह जब उसकी स्त्री उसे जगाने के लिए उठी तो देखा उसका शरीर अकड़ा हुआ था। वह चीखती हुई अपने सास-ससुर के पास गई। सभी इकट्ठे हो गए। पूछा—"क्या हुआ ?" कहा—"इनकी तो नाड़ी बन्द हो गई है। श्वास ही नहीं आ रहा।" वैद्य आया, देखा तो कहा—"यह तो समाप्त हो गया है।" सभी रोने-चिल्लाने लगे। कोई इधर गिरने लगा तो कोई उधर। इतने में महात्मा जी पहुँच गए, पूछा—"क्या हुआ, भाई ?" कहा—"इनको तो पता नहीं क्या हो गया है। रात में अच्छे भले सोए थे।" महात्मा ने कहा—"रोग बहुत भयंकर है, यह मृत्यु का आखिरी संदेश है। एक काम हो सकता है, वह मैं कर सकता हूँ।" परिवार वालों ने चरण पकड़ लिए, "प्रभो!

किसी भी प्रकार से बच्चे को जीवन दान दे दो।'' उन्होंने कहा—''यह तो सीधी-सी बात है। मेरे पास एक दवा है। एक कटोरी में जल ले आओ। दवा मैं अभी तैयार कर देता हूँ परन्तु शर्त यह है कि जो व्यक्ति यह दवा पीयेगा उसकी तुरन्त मृत्यु हो जाएगी और यह बच्चा जीवित हो जाएगा।'' इतना कहकर तुरन्त उसने जल लिया कटोरी में मिश्री निकाली, घोल दी और मन्त्र पढ़ा। पहले उसके बाप से कहा कि आपने तो अपनी जिन्दगी भोग ली है। अब तो आपकी कोई दूसरी इ%छा नहीं है। एक लड़का था उसका भी विवाह हो गया। यदि आप यह जल पी लें तो आपका शरीरान्त हो जाएगा और यह बच्चा जी जाएगा। बाप ने कहा—''स्वामी जी! बात तो आपकी बड़ी अच्छी है, मैं भी यही चाहता हूँ लेकिन.....।'' इतने में लड़के की माँ ने कहा—''स्वामी जी! मेरा क्या होगा फिर?'' महात्मा ने कहा—''कोई बात नहीं, पिता से १० गुणा अधिक बच्चे पर माँ का अधिकार होता है और ममता भी होती है। चलो इनको रहने दो, तुम पी लो देवी। तुम्हारी जिन्दगी तो पूरी हो गई है। पति तुम्हारे सामने है। जिस स्त्री का पति के सामने शरीर छूट जाए, वह तो वैसे बैकुण्ठ-वासिनी हो जाती है। इससे बड़ा और सौभाग्य क्या हो सकता है तुम्हारा। तुम्हारा बच्चा भी बच जाएगा, पति भी बच जाएगा।'' वह कहती है—''मैं तो जरूर पी लेती, लेकिन बूढ़े की सम्हाल कौन करेगा?'' दोनों जब तैयार नहीं हुए तो महात्मा ने उसकी स्त्री से कहा कि तुम विध्वा का जीवन बिताओगी। विध्वा का जीवन वैसे भी नरकमय ही होता है। यदि पति के लिए यह पी जाओ तो तुम्हारा शरीर छूट जाएगा, यह जीवित हो जाएगा, इससे तुम्हारी कीर्ति भी होगी। उसने कहा—''यदि मैं मर ही जाऊँगी तो उनके जीने या मरने से क्या बनने वाला है? फिर मेरे माता-पिता का क्या बनेगा?'' महात्मा जी ने कहा—''और कोई मित्र-दोस्त-रिश्तेदार मरने के लिए तैयार है?'' जब माता-पिता और स्त्री ही तैयार नहीं हैं तो और कौन मरे। सभी मौन थे, सारा तमाशा देखने वाला समाज खड़ा हुआ था। उन्होंने कहा—''तुम लोग तो माता-पिता थे, तुम धर्मपत्नी थी, तुम लोग इसके लिए शरीर नहीं दे सकत लेकिन मेरा भी सम्बन्ध है इस लड़के के साथ, क्योंकि मैं इसका गुरु हूँ। यदि तुम लोगों की राय हो तो यह जल मैं ही पी लूँ।'' इतना कहना था कि माँ-बाप-रिश्तेदार सभी कहने लगे—''संत तो सदा परोपकारी होते हैं। भगवन्! आपके बिना और कौन हमारी विपत्ति को दूर कर सकता है!'' इतना सुनते ही महात्मा जी ने वह मिश्री उठाई, मुँह में डाली और लड़के के सिर पर हाथ रखा, कहा—''बेटा! देखा तुमने! यही तुम्हारे माता-पिता, स्त्री आदि हैं जो कह रहे थे

कि तुम्हारे बिना जी नहीं सकते। देख ली संसार की असलियत!'' इस प्रकार जब संसार की वास्तविकता का पता चल जाए तो कौन ऐसा नासमझ है जो सारी जिन्दगी उसमें खपाएगा। तुलसीदास जी ने अपनी 'विनय पत्रिका' में लिखा है— रे पागल! जिसके लिए तू अपना सर्वनाश करता है, वह तो तेरे बगल में खड़े होने से भी शर्म करता है, औरों की तो बात अलग रही। इसलिए—

**महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।**

महापुरुषों का यदि सङ्ग मिल जाए तो बहुत ही सौभाग्य की बात है लेकिन यह मुश्किल है, अगम्य है यानी सरलता से गम्य नहीं है। सीधे-२ प्राप्त नहीं होता। कभी-२ महापुरुष पास ही होते हैं लेकिन बिना पुण्य कर्मों के उससे कोई लाभ नहीं होता। अनेक जन्मों के दुष्कृत आकर सामने खड़े हो जाते हैं। एक क्षण का भी सतसङ्ग अमोघ कहा गया है। वह व्यर्थ नहीं जाता।

पंजाब में एक शहर है-भटिंडा। वहाँ एक व्यक्ति रहता था। वह जाति से ब्राह्मण था लेकिन माँस, शराब के बिना वह भोजन नहीं करता था। वह टिकट-चैक्कर था, रेलवे स्टेशन के पास ही रहता था। उन दिनों मैं भटिंडा बहुत जाया करता था। मेरा एक शिष्य है-द्वारिका दास, उसका दूर से वह रिश्तेदार लगता था। वहाँ के लोग उसे अजामिल ही कहा करते थे। अजामिल किसी का नाम नहीं है बल्कि पतित ब्राह्मण की संज्ञा है। एक दिन भटिंडा के पास रामानन्द सम्प्रदाय के वैष्णव सन्त जमात लेकर आए। वे बड़े अच्छे सन्त थे, उनका नाम था अर्जुन दास जी महाराज। १००-१५० महात्मा अक्सर उनके साथ चलते थे। जब वे वहाँ पहुँचे तो उस कथित अजामिल को पता चल गया। वह भी मज़ाक करने वहाँ पहुँचा। उसका असली नाम था बंसी लाल। उसने जाकर महात्मा जी को प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर बैठ गया। कहने लगा—''भगवन्! मेरा उद्धार हो जाएगा।'' उन्होंने उसकी तरफ देखा और कहा—''हाँ, बेटा! तुम्हारा उद्धार हो जाएगा।'' उन्होंने कलम उठाई और कागज़ निकाला, षटाक्षर राम-तारक मन्त्र लिख कर उसको बन्द करके दे दिया और कहा—''अभी इसे नहीं खोलना। यदि अभी खोलोगे तो कोई लाभ नहीं होने वाला। जब जरूरत पड़े कभी तब इस कागज़ को खोल लेना और पढ़ना। इस कागज़ में जो लिख दिया है, उससे तुम्हारा उद्धार हो जाएगा।'' उसने उसे लेकर जेब में डाल लिया और चला गया। घर आकर उसने कागज़ को उठाकर रख दिया लेकिन उसके जीवन में कोई परिवर्तन आने वाला नहीं था और न ही आया। कई वर्ष बीत गए।

एक दिन जब वह नौकरी से आया और भोजन करने बैठा तो उसकी स्त्री

ने लाकर उसके सामने बैंगन की सब्जी और रोटी रखी। बैंगन की सब्जी देखते ही उसका पारा चढ़ गया और बोला—"मैं कोई बैल हूँ, जो तूने घास-पात लाकर मेरे सामने रख दिया है?" स्त्री ने कहा, "आप गुस्सा न हों, एक दिन यदि मांस नहीं खाएंगे तो कोई अनर्थ नहीं हो जायेगा। आप भोजन कर लें, मैं दुकान पर गई थी, मांस नहीं मिला इसलिए मैं नहीं पका सकी।" उसने कहा—"माँस क्यों नहीं मिला?" उठ कर वह स्वयं गया मांस वाली दुकान पर, कहा—"भई! हमें आधा सेर मांस चाहिए।" दुकानदार ने कहा—"भई! आपकी श्रीमती भी आई थी लेकिन हमारे पास था नहीं। आधे सेर के लिए मैं बकरा नहीं काट सकता हूँ। यदि आप एक सेर ले लें तो मैं काट सकता हूँ।" उसने कहा—"सेर भर दे दें।" मांस तो वह बहुत वर्षों से खाता था, शराब भी पीता था लेकिन बकरा कटते उसने कभी देखा नहीं था। कसाई ने बकरा निकाला, खण्डा उठाया, खट दे मारा, सिर धड़ से अलग होकर जमीन पर उछलने लगा। कुछ मिनट तक दोनों भाग उछलते रहे। यह दृश्य देख कर वह काँप गया। उसे बहुत बड़ा अघात लगा। कसाई ने उसे छील कर मांस निकाल कर दे दिया। वह मांस तो ले आया और लाकर स्त्री को दे दिया लेकिन रास्ते भर उसे बकरे का सिर कूदता हुआ ही दिखाई दिया।

उसकी स्त्री ने मांस पकाकर उसे भोजन करने के लिए बुलाया। ज्यों ही वह भोजन करने बैठा, दो-तीन ग्रास ही खाए होंगे, इतने में उसका १६ वर्ष का लड़का, जो कि हाई स्कूल में पढ़ता था और वह उसका एक ही लड़का था, चिल्लाता हुआ आया कि पेट में दर्द है। वह कुछ खाने ही नहीं पाया, छोड़ दिया। पूछा—"क्या हुआ?" उसने कहा—"पिताजी, दर्द हो रहा है।" गोली भी दी लेकिन दर्द और भी बढ़ गया। उसने उसे उठाया, रिक्शा में बिठाया और उसे अस्पताल ले गया। डा० ने देखते ही कहा कि मेरे बस का नहीं है, इसे जल्दी से जल्दी चण्डीगढ़ या देहली के मैडिकल इन्सटीच्यूट में ले जाओ। वह लड़के को घर ले आया और पंजाब-मेल गाड़ी जो रात को दस बजे जाती थी, उससे उसे ले जाने की तैयारी करने लगा। लड़का उसके सामने उछलता फिर गिर जाता। जैसे-जैसे लड़का उछले और गिरे, उसे बकरे के सिर की याद आवे। आखिर में आठ बजे, जबकि गाड़ी आने में दो घण्टे रहते थे, लड़का ऊपर उठा और मर गया। उस आदमी को इतना आघात लगा कि उसकी आँख से एक बूँद भी आँसू नहीं निकला। आदमी को जब बहुत दुःख होता है तो उसे रोना भी नहीं आता। वह बच्चे को उठाकर ले गया। उसका संस्कार किया। संस्कार करके जब वह वापिस आया, तब उसे महात्मा की बात याद आई कि जब तुम्हारे पर विपत्ति आवे, तब

तुम इसे खोल कर पढ़ना। अब इससे बड़ी विपत्ति कब आएगी। एक ही बच्चा था, वह भी खत्म हो गया। और तो कोई है नहीं। उसने जाकर वह कागज़ निकाला और पढ़ा। उसके बाद तो बंसीलाल के हाथ में सुमरनी और माथे पर तिलक था। उसका सारा जीवन ही बदल गया। वह कहता था कि वह मेरा लड़का नहीं था, वह तो मेरा मार्ग-दर्शक था।

मैं जब दुबारा भटिंडा गया तो मुझे लोगों ने बताया कि बंसीलाल के साथ बहुत बुरा हुआ है। उसका एक ही लड़का था, उसकी भी मृत्यु हो गई। सुनकर मुझे भी बहुत दुःख हुआ लेकिन बंसीलाल जब आया तो देखा कि उसकी तो गति ही बदली हुई थी। अरे! मैंने कहा—''बंसीलाल! यह क्या हुआ? तुम्हारी तो जिन्दगी ही बदल गई।'' उसने कहा—''भगवन्! हमने आप लोगों से सुना है कि पुत्र माने होता है—'पू नां नरकस्य त्रायते'—जो नरक से पिता की रक्षा करे वह पुत्र होता है। मेरे पुत्र ने तो मुझे नरक से बचा लिया है।'' वह परम भागवत बन गया, यह अभी की घटना है।

मेरा कहने का अभिप्राय कि क्षण मात्र के लिए भी यदि महापुरुषों का संग हो जाए, तब भी वह अमोघ होता है, समय आने पर वह काम दे जाता है। संत का संग अमोघ होता है, वह कब अपना फल दे दे, कुछ पता नहीं चलता। आज जो अपवित्र जीवन जी रहा है, यह कोई नियम नहीं है कि हमेशा वह वैसा ही रहेगा। व्यक्ति के बदलने में देर नहीं लगती। एक महापुरुष मेरे मित्र थे। वे कहा करते थे, ''हमारा धर्मशास्त्र कहता है कि अतीत किसी का भी सुन्दर नहीं होता। गीता के चौदहवें अध्याय में भगवान् ने कहा है कि जब आदमी सतोगुणी होता है, तब वह मृतलोक में लौटकर नहीं आता। वह मरने के बाद स्वर्ग में जाता है। जो घोर तमोगुणी होता है, वह भी मनुष्य योनि में नहीं आता। वह मरने के बाद तिर्यक योनि में जाता है, जैसे पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि। मनुष्य योनि में मिश्रित कर्मों वाला आता है। शुभ तथा अशुभ अर्थात् मिश्रित अवस्था में ही मनुष्य शरीर मिलता है, यह शास्त्र का कथन है।'' यह कथन युक्ति-युक्त और तर्कसंगत है।

अतीत माने भूतकाल, वह किसी का परम पवित्र नहीं था। जो मनुष्य-शरीर में पैदा हुआ है, उसमें कुछ न कुछ दोष तो था ही। वर्तमान सभी का शुद्ध है। भविष्य शुद्ध होगा या अशुद्ध यह वर्तमान पर अवलम्बित है क्योंकि भविष्य का प्रत्येक क्षण तुम्हारे वर्तमान की गलियों से होकर गुजरेगा। अतीत के किसी दोष की चिन्ता करके अपने वर्तमान को दूषित करना कोई समझदारी नहीं है। जो बीत गया है, उसकी चिन्ता मत करो।

**हेयं दुःखमनागतम्।** *—यो०सू० २/१६*

आने वाले दुःख से बचो! जो दुःख भोग चुके हो, उसकी चिन्ता मत करो। तुम्हारे हाथ में केवल वर्तमान है। तुम अपने वर्तमान को ही बना सकते हो तथा वर्तमान को ही बिगाड़ सकते हो। 'वर्तमान' बिगड़ गया तो भूत और भविष्य दोनों ही बिगड़ जायेंगे, वर्तमान बन गया तो भूत और भविष्य दोनों ही बन जाते हैं। भूत जो कुछ होगा, वह वर्तमान का परिणाम होगा और भविष्य में जो कुछ होगा, वह वर्तमान में आकर होगा। कल में तो कुछ होने वाला नहीं, कल तो हमेशा कल ही रहेगा। जो कुछ होगा वह 'आज' में ही होगा, 'आज' को सम्भालने की जिम्मेदारी तुम्हारे ऊपर है। 'आज' यदि सुन्दर बन गया तो सब सुन्दर बन जायेगा। वर्तमान कभी मरता नहीं, वह सदा अमर रहता है। भविष्य तो अनन्त है, उसकी कोई सीमा नहीं है। अतीत भी अनन्त है, उसे भी क्या आप सीमित कर सकते हो? यह तो नहीं कह सकते कि वह एक ब्रह्माण्ड की आयु का है। यह ब्रह्माण्ड जब नहीं था, तो तुम नहीं थे क्या? इस ब्रह्माण्ड से पहले भी तो तुम थे। यदि तुम नहीं थे तो आए कहाँ से? भगवान् ने गीता के दूसरे अध्याय में यह रहस्य बताया है—

**अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानी भारत।**
**अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥**

*—गीता २/२८*

तुम अव्यक्त से व्यक्त में आए हो और व्यक्त से पुनः अव्यक्त में चले जाओगे। यह तुम्हारा जीवन-चक्र चलता रहेगा, तुम्हारे अतीत का कोई पता नहीं है। जो तुम्हारा आज है, जहाँ पर तुम हो, वहीं पर से तुम अपने अतीत को भी गिन लो, वहाँ से तुम्हारे भविष्य का भी पता चल जाएगा। जैसे एक गोला है, गोले के ऊपर तुम जहाँ भी कहीं बिन्दु लगा दो, वहीं उसका मध्य बन जाएगा तथा वहीं उसका अन्त भी हो जाएगा। वर्तमान इसी के बिन्दु समान है। वह अस्ति है, वह सत्तात्मक है और सत्तात्मक होने के नाते वही उसका आदि है, अन्त है और मध्य है। यथार्थतया न उसका आदि है, न मध्य है और न अन्त है—

**नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।**

*—गीता १५/३*

इसलिए उसे नित्य कहते हैं, इसलिए उसे अनन्त कहते हैं। जीवन नित्य है, अनन्त है और शाश्वत है। उस शाश्वत जीवन को तुम जैसा चाहो वैसा बना लो, क्योंकि यह तुम्हारे वर्तमान से सम्बन्धित है। वर्तमान को यदि तुम उत्तम बना लोगे तो सब कुछ उत्तम बन जाएगा। वर्तमान की उत्तमता तुम्हारे सत्संग पर अवलम्बित

है, कुसङ्ग पर नहीं। कुसङ्ग से तुम्हारा वर्तमान दूषित होता है। ऐसे लोगों को मैंने देखा है जिनके बाप-दादा प्याज़ तक नहीं खाते थे, उनके बच्चे यहाँ आकर बकरे ऐसे चबाते हैं जैसे मूली-गाजर। आहार-विहार, खान-पान, रहन-सहन, इतनी पतित अवस्था को पहुँच गया कि कल्पना भी नहीं की जा सकती। कुसङ्ग से ही यह सब कुछ होता है। कुसङ्ग बहुत बुरी चीज़ है। इसलिए शास्त्र में कहा गया है—

**कुसंगति से सनकादि डराहिं ।**

सनकादि ऋषि भी कुसङ्ग से दूर होना चाहते हैं। तुलसीदास जी ने एक दोहा लिखा है—

**बसि कुसंग चाहत कुसल तुलसी के मन सोच।**
**महिमा घटी समुद्र की रावण बसा पड़ोस॥**

जो कुसङ्ग में रह कर अपनी कुशल चाहता है, तुलसी उनके लिए चिन्ता करते हैं। रावण के पड़ोस में बसने से समुद्र की भी महिमा घट गई, उस पर भी पुल बाँध दिया गया। जब समुद्र की यह गति हो सकती है, कुसङ्ग में पड़ करके, तो मनुष्य की क्या गति होगी? इसलिए कुसङ्ग से बच करके सत्संग का आश्रय लेना चाहिए। जीवन में जितने सद्गुण हैं, वे सब सत्संग का प्रभाव है और जितने दोष हैं, वे कुसङ्ग के नाते हैं—

**हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहूँ बेद बिदित सब काहू॥**

कुसङ्गति से बचो और सत्संग के लिए कोशिश करो। यदि क्षणमात्र का भी सत्सङ्ग तुम्हें मिल जायेगा तो तुम्हारा कल्याण हो जाएगा।

एक कहानी मैंने पढ़ी थी कि एक डाकू था। जब वह मरने लगा तो अपने बेटे को बुलाया और कहने लगा, "बेटा! कभी किसी कथावार्ता में नहीं जाना।" लड़के ने कहा—"बड़ी अच्छी बात है।" अब पिता जी की नसीहत मान कर, जहाँ कहीं कोई सत्संग हो, वहाँ वह न जाए बल्कि वहाँ से दूर होकर ही जाए। एक दिन वह कहीं डाका मारने जा रहा था। जिस रास्ते से वह जा रहा था, उस रास्ते पर कोई महात्मा सत्सङ्ग कर रहा था। स्पीकर से उसकी आवाज़ दूर तक सुनाई दे रही थी। उसने सोचा कि पिता जी ने मना किया है कि सत्सङ्ग में नहीं जाना और यह उनका आखिरी वचन है। यदि इधर से जाता हूँ तो सतसंग की आवाज़ कान में पड़ जाएगी और यदि नहीं जाता तो हमारा वह माल चला जाएगा। उसने निर्णय किया, कान में अंगुलि लगाओ और दौड़ कर यहाँ से निकल जाओ। कान की अंगुलि ढीली हो गई, भीड़ वहाँ थी ही, इतने में उसके

कान में महात्मा जी का शब्द पड़ ही गया। महात्मा जी समझा रहे थे कि देवताओं की छाया नहीं होती है। वह गया चोरी करने, उसे अच्छा माल मिल गया। वह माल लेकर जंगल में काली के मन्दिर में पहुँच गया। सारा माल उसने माँ को समर्पित कर दिया। उसका एक दूसरा साथी चोर था। उसने सोचा कि उसको तो अच्छा माल मिल गया है, हम तो रह गए हैं। वह जाकर काली की मूर्ति के पीछे छिप गया, जब उसने सारा माल रख कर प्रणाम किया, प्रार्थना की। चोर के साथी ने बड़े जोर से कहा—''बेटा! आज, मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ और यह आकाशवाणी करती हूँ कि आधा धन मेरी सेवा में यहाँ रखकर आधा लेकर चला जा।'' वह बड़ा प्रसन्न हुआ कि आज तो देवी प्रत्यक्ष है। कभी देवी बोली नहीं, यदि देवी मुझ से आधा धन माँग रही है तो इससे ज्यादा खुशी की मेरे लिए और कौन-सी बात होगी? उसने तुरन्त आधा धन उसमें से निकाला, माँ के चरणों में रखा और आधा लेकर वह चल दिया। जब कुछ दूर गया और पीछे मुड़ कर देखा तो उसे मूर्ति के बगल में परछाई दिखाई दी। उसे महात्मा की बात याद आई कि देवताओं की छाया नहीं होती। यहाँ तो परछाई है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यहाँ कोई देवता नहीं है, कोई ठग रहा है उसे। वह लौट पड़ा वहीं से और अपना खंजर निकाल लिया, कहा—''जल्दी बोल, तू कौन है? नहीं तो अभी मैं तुम्हारी.... ?'' इतने में साथी सामने आ गया और क्षमा माँगी। साथी ने पूछा—''तू यह बता कि तू तो माल लेकर जा रहा था। जाते-जाते तुम्हें कैसे सूझा कि यह भगवती नहीं कोई और है?'' उसने कहा—''क्या बताऊँ, मेरे जीवन में एक नहीं दो गलतियाँ हुई हैं। एक गलती तो अनजाने में हुई कि मैं चोर के यहाँ पैदा हुआ। दूसरी गलती यह हुई कि दुष्ट बाप की मैंने आज्ञा मानी और मेरा जीवन बर्बाद हो गया।'' उसने अपनी सारी कहानी कह सुनाई। साथी ने पूछा—''फिर आज तूने कैसे ज्ञान प्राप्त कर लिया?'' कहा—''आज जब मैं चोरी करने आ रहा था, तो रास्ते में एक महात्मा कथा कर रहे थे। महात्मा के मुँह से एक शब्द मैंने सुना था कि देवताओं की छाया नहीं होती। उस शब्द को सुन कर उसका पालन करने से आज मेरा आधा धन बच गया, नहीं तो आधा मार करके तू ले जाता, । यदि मैं रोज़ महात्माओं के व्याख्यान सुनुँ, तो मेरा क्या बनेगा?''

मैं आप लोगों से यह बता रहा था कि किसी भी प्रकार से यदि आदमी सत्संग में पड़ जाए, तो उसके जीवन को बदलने में देर नहीं लगती लेकिन बड़ी कठिनता से महापुरुषों का संग मिलता है। यदि मिल जाए तो वह अमोघ होता है,

व्यर्थ नहीं जाता। इसलिए नारद जी कहते हैं—

**लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव॥**

—ना०भ०सू० ४०

यह महापुरुषों का संग भगवान् की कृपा से ही मिलता है। तुलसीदास जी ने भी लिखा है—

**बिनु सत्संग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥**

—रा० १/३-७

बिना सत्संग के विवेक नहीं होता तथा भगवत् कृपा के बिना सत्संग नहीं मिलता। तुलसीदास जी ने इस विषय में बहुत लिखा है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसकी महिमा गाई गई है। उपनिषदों में, वेद में यानी कदम-कदम पर सत्संग की महिमा गाई गई है। गुरु नानक, कबीर, रविदास आदि संतों ने तो सत्संग तथा सद्गुरु की महिमा का गान किया है।

भारत में एक संत हुए हैं जिनका नाम दादूदयाल था। वे राजस्थान में रहते थे। मैं आपको संतों की सिखाने की प्रक्रिया बता रहा हूँ। उन दिनों भारत पर मुसलमानों का शासन था। जैसे आजकल थानेदार होते हैं, वैसे ही मुसलमानों के शासन में राजपुरुष होते थे। वे बड़े ही क्रूर वृत्ति के, बड़े ही अत्याचारी होते थे। इसी प्रकार एक राजपूत था, उसने कहीं से संत दादूदयाल की महिमा सुन ली। उसके विचार में आया कि मैं दादूदयाल की शरण में जाऊँ और उन्हें गुरु-रूप में वरण करूँ। वहाँ से वह चल दिया। रास्ते में दादूदयाल जी कुछ काटने में लगे हुए थे, क्योंकि वे रास्ता साफ कर रहे थे। वह घोड़े पर चला आ रहा था। उसे चारों और कोई दिखाई नहीं दिया, जो बतावे कि दादूदयाल कहाँ रहते हैं? उसने घोड़े पर बैठे हुए ही आवाज़ दी कि यहाँ दादूदयाल कहाँ रहते हैं? वे अपने काटने में लगे हुए थे, उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। फिर उसने कहा, यहाँ दादूदयाल कहाँ रहते हैं? वे कुछ नहीं बोले, काटते ही रहे। फिर गाली देते हुए उसने कहा, मैं तुमसे पूछ रहा हूँ कि दादूदयाल कहाँ रहते हैं। वे बोले नहीं। वह गुस्से में घोड़े से उतरा, दो चाबुक मारे पीठ पर और कहा—"मैं पूछता हूँ तुमसे कि दादूदयाल कहाँ हैं?" फिर दो और मारा, पीठ से खून बहने लगा लेकिन वे चुप रहे। इतने में दूर से कोई देख रहा था। उसने जब देखा कि संत को मार पड़ रही है तो वह दौड़ता हुआ आया और आकर उस पर लेट गया और कहा, "साहिब! आप इनको कुछ न कहिए। आप इनके बदले में मुझे मारिए।" उसने कहा—"मूर्ख!

अपराध मेरा यह कर रहा है, मारूँ भी तुम्हें। यह नहीं बताता कि दादूदयाल कहाँ रहते हैं? मैं उनसे मिलना चाहता हूँ। यही मैं इससे पूछ रहा था, जो यह नहीं बता रहा था।" उसने कहा—"भगवन् यही सन्त दादूदयाल हैं।" जब उसने कहा कि यही सन्त दादूदयाल हैं तो वह काँप गया और गिर गया उनके चरणों में, रोने लगा। जब राजपुरुष का अहंकार दूर हुआ तो दादूदयाल ने उसकी तरफ देखा और पूछा, "क्या हुआ तुम्हें? क्या बात है?" कहा—"भगवन्?! मैंने आपसे इतनी बार पूछा कि दादूदयाल कहाँ रहते हैं? आपने कुछ नहीं बताया। यदि बता दिया होता तो मैं आपके साथ अन्याय क्यों करता।" उन्होंने पूछा, "तुम दादूदयाल के पास किस लिए जा रहे थे?" कहा—"भगवन्! मेरे हृदय में यह भावना थी कि मैं आपको अपना गुरु बना लूँ।" कहा—"गुरु की तलाश घोड़े पर चढ़ कर होती है क्या? इसमें तेरा दोष नहीं है। आदमी दो पैसे की हंडिया खरीदता है, तो वह उसे दस बार ठोक-बजाकर लेता है, तू तो गुरु खरीदने आया है। यदि तूने दो-तीन बार ठोक-बजा लिया तो क्या अन्तर पड़ता है।" मैं आपको बता रहा था कि ऐसे संतों का संग भगवान् की कृपा से मिलता है, सत्संग से ही जीवन का उद्धार होता है, कोई दूसरा रास्ता ही नहीं है। आगे कह रहे हैं कि भगवत्-कृपा से भगवान् मिलते हैं क्योंकि भगवान् के मिलने से वह लाभ नहीं होता, जो संत के मिलने से होता है। भगवान् की कृपा से संत मिलते हैं, संत-कृपा से भगवान् का बोध होता है।

**जब द्रवैं दीन दयालु राघव साधु संगत पाइये।**
**जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइये॥**
**जिनके मिले दुःख-सुख समान-अमान तादिक गुण भये।**

—वि०प० १३/१०

ये सभी सद्गुण बिना सत्संगति के प्राप्त नहीं होते। इसलिए जब भगवद्-कृपा होती है, तो संत मिलते हैं। संत-कृपा होने पर भगवान् का बोध होता है। भगवान् का बोध होने पर भगवान् में स्थिति होती है जिसको 'भक्ति' कहते हैं—यह शास्त्र का सिद्धान्त है। कहा कि भगवान् की कृपा होने पर संत मिलते हैं, भगवान् ही क्यों नहीं मिल जाते? नारद जी कहते हैं—

**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।** —ना०भ०सू० ४१

संत के रूप में भी भगवान् ही होते हैं। संत और भगवंत में भेद का अभाव होता है। यही बात नरसिंह महता ने कही है—

**आपा मारि जगत में बैठयो नहीं किसी से काम।**
**उनमें तो कछु अन्तर नाहिं सन्त कहौं चाहे राम॥**
**जिन्होंने मन मार लिया हौं तौ उन सन्तन का दास।**

नरसिंह का यह बहुत ही प्यारा भजन है। यही बात उपनिषदों में समझाई गई है—

**यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।**
**तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥**

श्वेता० ६/२३

जैसी तुम्हारी परमात्मा में भक्ति है उसी प्रकार की यदि गुरु में हो तो ऋषि कहता है, उसी महात्मा के हृदय में यह वेदान्त का अर्थ प्रकाशित होता है। यदि भेद-दृष्टि है तो ब्रह्मतत्त्व का विज्ञान उसमें प्रकाशित नहीं होगा। जिनमें भेद-दृष्टि नहीं होती, ऐसे संत व भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। उपनिषदों में बताया गया कि लोहे को जब अग्नि में डाल दिया जाता है तो लोहा अग्नि-रूप हो जाता है। जो आकृति है वह लोहे की है लेकिन उसमें तेज अग्नि का है। उस समय लोहे की आकृति का दिखाई देने लगती है, यह नहीं लगता कि यह लोहा है। पिण्ड तो लोहे का है लेकिन वह अग्निमय हो गया है। उस लोहे के प्रत्येक अंग-अंग में अग्नि व्याप्त हो गई है इसलिए लोहे और अग्नि में भेद नहीं किया जा सकता। जैसे लोहे और अग्नि में भेद का तादात्म्य हो जाता है, वैसे ही भगवान् भक्तमय और भक्त भगवान्मय हो जाता है। एक पद में मैंने ऐसी ही अवस्था का वर्णन किया है—

**हैं भक्त समर्पण क्या करते भगवान् समर्पित होते हैं।**

सही में भक्त समर्पण क्या करेगा! उसके पास तो अपना कुछ है ही नहीं, यदि तुम एकान्त में बैठ कर सोचो कि तुम्हारे पास अपना है ही क्या, सिवा अहं के, जो तुम भगवान् को समर्पित कर सको। अहं भी आपका स्वतन्त्र नहीं है, उसमें भी चेतना उसी की दी हुई है।

**बुद्धिबुर्द्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।**

—गीता ७/१०

गीता में भगवान् कहते हैं कि बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूँ, तेजस्वियों का तेज मैं हूँ। जब सब कुछ प्रभु की ही विभूति है तो चेतना भी तो प्रभु की दी हुई है। चेतना के प्रकाश में ही तो अहं का स्फुरण होता है। अहं तुम्हारा अपना कहाँ रहा, वह भी तो प्रभु का ही है। तुम्हारे पास समर्पण के लिए तो कुछ नहीं है। यदि समर्पण की भावना जागृत हो जाए तो भी एक प्रकार से जो अहं वृत्ति है, उस वृत्ति का ही समर्पण होता है। यदि उस अहं वृत्ति को लय कर दो भगवान् में तो भगवान् भी उसमें आकर प्रकट हो जाते हैं। सूफी मत में एक सिद्धान्त है कि मेरा जो अहं था,

वह तो मैंने समर्पित कर दिया। समर्पित कर देने के बाद अब जो मेरे पास अहं है, वह प्रभु का अहं है। मेरा अहं तो पहले भी नहीं था; पहले जो अहं था, उसको अबोधतावश अपना समझते थे लेकिन बोध हो गया तो अब यह अहं प्रभु का ही है। वे इसे अनलहक कहते हैं जैसे हमारे यहाँ अहं ब्रह्मास्मि कहते हैं। अहं ब्रह्मास्मि का ही अनुवाद है अनलहक। इसी बात को संत रहीम खानखाना ने इस प्रकार कहा है—

**बिन्दु में सिन्धु समान को अचरज कासों कहै।**
**हेरन हार हेरान रहिमन अपने आप में॥**

बूँद समुद्र में तो मिलती है लेकिन उन्होंने कहा कि बिन्दु में सिन्धु समा गया है और उसे ढूँढ़ने वाला ही गुम हो गया है, वही नहीं रहा। भाव यह कि भक्त भगवान् में स्वयं को लय करके भगवत् स्वरूप प्राप्त कर लेता है। इसलिए भगवान् में और भक्त में भेद का अभाव होता है। यहाँ पर नारद जी कह रहे हैं—

**तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥**

—ना० भ० सू० ४२

उसी की साधना करो, उसी की साधना करो। किसकी? महापुरुषों के संग की साधना करो। महापुरुषों का संग मिले, जिससे जीवन का कल्याण हो, जिससे तुम अपने स्तर से ऊपर उठो, जिससे जिस प्रवाह में शताब्दियों से तुम बह रहे हो, उससे मुक्त हो जाओ। प्रवाह में बहना जीवित का काम नहीं, मुर्दे का काम है। निर्जीव पदार्थ ही प्रवाह के साथ बहता है। गंगा जी में डाल कर देख लो, जो निर्जीव पदार्थ होगा, वह धारा के साथ बहेगा, सजीव कभी धारा के साथ नहीं बहेगा। वह धारा को क्रॉस करके पार जाना चाहेगा, चाहे वह पशु हो, पक्षी हो अथवा मनुष्य हो। प्रकृति के साथ बहना जीवन की निशानी नहीं है। प्रवाह के साथ मत बहो, प्रवाह से पार जाने के लिए प्रयत्न करो। वही तुम्हारे जीवन के लिए श्रेष्ठतम कार्य है और वही करणीय है। इसलिए नारद जी ने कहा है—

**तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥**

उसी की साधना करो, उसी की साधना करो, जिससे तुम्हें सत्संग की प्राप्ति हो जाए और सत्संग से भगवत्-स्वरूप का बोध और भगवत्-स्वरूप के बोध से भगवान् में अनुरक्ति हो जाए।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## १२

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक चाह। आप लोगों को कल ४२वें सूत्र तक की व्याख्या बता दी गई थी और यह समझाया गया था कि 'भगवान्' और 'भगवान् के भक्त' में भेद का अभाव होता है। गीता के छठे अध्याय में भगवान् ने कहा है—

**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥**

*—गीता ६/३०*

''जो सब में मुझको देखता है और सबको मेरे में देखता है, वह मुझ से दूर नहीं है और मैं उससे दूर नहीं हूँ।''

**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।**
**सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥**

*—गीता ६/३२*

''जो अपनी आत्मा के समान ही सबकी आत्मा को देखता है, वह परम योगी है।'' इन शब्दों में भगवान् ने इसी रहस्य का उद्घाटन किया है कि 'भगवान्' और 'भगवान् के भक्तों' में भेद का अभाव होता है। जब तक द्वैत है, तब तक भक्ति नहीं है। कुछ लोगों की ऐसी राय है कि बिना द्वैत के भक्ति नहीं हो सकती, प्रेम तो दो में होता है। मेरी राय है कि जहाँ द्वैत होता है, वहाँ प्रेम नहीं होगा। द्वैत में प्रेम कैसे होगा? प्रेम तो अभेद चाहता है। जिससे आप प्रेम करते हो, उसके और आपके बीच ज़रा भी भेद हो जाए, तो क्या प्रेम की गन्ध वहाँ रह जाएगी? 'चैतन्य' सम्प्रदाय के लोगों ने इसको नाम दिया अचिन्तय भेदा-भेद, भेद होते हुए

भी अभेद है, अभेद होते हुए भी भेद है।

**एक होई दो यौं लसै ज्यों सूरज और धूप ।**

जैसे सूरज और धूप दो दिखाई देते हैं, लेकिन यथार्थतया दो नहीं हैं। सिद्धान्त तो यथार्थ का होता है, न कि जो दिखाई दे उसका। यथार्थ अभेद है। अभेद ही 'भक्ति' में मूल आधार है। जब तक अभेद-भक्ति नहीं होती, तब तक पूर्ण-भक्ति नहीं होती। तुलसीदास जी ने लिखा है—

**सपनेहुँ नहीं सुख द्वैत दरसन बात कोटिक को कहै ।**

विनय पत्रिका में उन्होंने कहा कि जब तक द्वैत का दर्शन हो रहा है, तब तक तो स्वप्न में भी सुख मिलने वाला नहीं है। यही बात गीता में, उपनिषद् और वेद में समझाई गई है कि दुःख का कारण द्वैत है—

**द्वितीयात् भयं भवति।**

छान्दोग्योपनिषद् में बताया गया है कि जहाँ द्वैत होगा, वहाँ भय हमेशा रहेगा। जहाँ आपने द्वैत स्वीकार किया, वहाँ आपने एक दूसरे को सीमित बना दिया। वहाँ केवल आप ही सीमित नहीं होते, ईश्वर को भी सीमित बना देते हैं। जहाँ तक आपका अस्तित्व है, वहाँ तक तो ईश्वर हो ही नहीं सकता। यदि वहाँ ईश्वर का अस्तित्व है, तो फिर आपका अस्तित्व कहाँ रहा? अद्वैत में ही तो यथार्थ ज्ञान तथा यथार्थ भक्ति है। द्वैत स्वीकार करके तो आपने असीम को सीमित कर दिया है, परमात्मा की पूर्णता को सीमा में बाँध दिया है। आप अपनी 'महिमा' को स्वीकार करके परमात्मा की 'महत्ता' को नष्ट कर रहे हैं, आप कितना बड़ा अपराध कर रहे हैं। स्वामी राम ने कहा—

**मेरी खुदी ने मैं बनाया मुझको। यदि मैं न होता तो खुदा न होता ॥**

यदि मैं न होगा, तो ईश्वर होगा कहीं? ईश्वर किसका होगा? ईश्वर का ईश्वर तो होता नहीं। ईश्वर माने, शासक,ईशन करने वाला। 'ईशन' किसका करेगा वह? अरे, बाप तो जब बेटा पैदा हुआ तब बना न, उससे पहले तो नहीं हो गया। बेटा ही नहीं तो बाप किसका? जीव ही नहीं तो ईश्वर किसका? ईश्वर को जीव ने पैदा किया। आपके 'जीवत्व' ने 'ईश्रवत्व' को पैदा किया। जिस समय आपने 'जीवत्व' को अस्वीकार किया, वहाँ ईश्वरत्व नहीं होगा। फिर वहाँ क्या होगा? फिर वहाँ वही होगा, जिसके लिए कुछ नहीं कहा जा सकता, उसके लिए कोई शब्द नहीं है। संकेत के लिए ब्रह्म कह दो। परमतत्त्व न जीव है, न ईश्वर है, वह तो एक अनन्त है, अखण्ड है, अविनाशी है, जिसके लिए कहा गया है—

**सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म ।**

वह न ईश्वर है, न जीव है, वह तो अभेद है। वह अभेद ही यथार्थ में आनन्द का स्रोत है—

**भूमा एव सुखं न अल्पम् ।**

उस अभेद में, अनन्त में, भूमा में ही सुख है, अल्प में सुख कहाँ है? जहाँ अपना अलग अस्तित्व स्वीकार किया वहीं दुःख का श्रीगणेश हो जाता है। जिस योगी ने या जिस तत्त्वज्ञ ने इस रहस्य का अनुभव कर लिया है, उसमें भेद कहाँ रहेगा? क्योंकि—

**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥**

*—ना०भ०सू० ४१*

उसमें और उसके निज-जन में भेद का अभाव होता है। द्वैत का भाव सुन कर ही समाप्त होता है। अब तक इतना बड़ा जो संसार बना है, वह कैसे बना है? सुन कर ही तो बना है। इतना बड़ा ज्ञान, जो आपके पास है अर्थात् जो आपके पास जानने के अर्थ में या समझने के अर्थ में है, वह कैसे बना है? सुन कर। उस सुने हुए के आधार पर आपने कुछ अनुमान लगाया, यह हुआ—'श्रुत ज्ञान' और 'अनुमित ज्ञान।' जैसा सुना है, वैसा ज्ञान हो गया है, जैसा आगे सुनोगे, वैसा आगे भी ज्ञान हो जाएगा। आपका अनुमान तो सुने हुए के अनुसार होगा। तुलसीदास जी ने कहा है—

**सेवत साधु द्वैत भय भागे।**

जब साधु सेवा करोगे, महापुरुषों के संग में जाओगे, तो द्वैत का भय समाप्त हो जाएगा लेकिन द्वैत तो भ्रम है। सबसे बड़ा भय या भ्रम तो मरने का ही है। जब वह समाप्त हो जाएगा, तब आपको अपना व्यष्टि भाव भार लगने लगेगा-अपराध लगने लगेगा। अनन्त में सान्त की कल्पना, असीम में ससीम की कल्पना एक महान् अपराध है। इस अपराध से बचना चाहते हो तो स्वयं को अस्वीकार करके, उसी के वजूद को अपने आप में स्वीकार करो। अवध में जब कोई महात्मा बात करता है, तो कहता है, 'मेरे राम खा रहे थे', 'मेरे राम जा रहे थे', 'मेरे राम सो रहे थे' आदि-आदि। सब कुछ राम कर रहे हैं, इसलिए सारा क्रिया-कलाप राम के साथ जुड़ गया है।

कल मैं आपको 'सूफी मत' का सिद्धान्त बता रहा था। मेरा जो अपना 'मैं' था, वह तो मैंने 'प्रियतम' को समर्पित कर दिया। अब 'प्रियतम' ने स्वयं अपनी

क्रीड़ा के लिए अपने 'मैं' को मेरे रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। केवल यह मेरा 'मैं' तो उनका प्यार मात्र है, और कुछ नहीं है, क्योंकि यह उन्हीं की क्रीड़ा के लिए है—'एकाकी न रमते।' 'अकेले क्रीड़ा नहीं होती' इसलिए स्वयं को उन्होंने दो रूपों में परिणत कर दिया, यह सिद्धान्त है। जब इस सिद्धान्त को आप समझते हैं, तो सोचने की सारी दिशा ही बदल जाती है, करने की सारी दिशा ही बदल जाती है अर्थात् सब कुछ बदल जाता है। अपने आप सब क्रिया 'परमात्मा की क्रिया' अनुभव होती है और इस अवस्था में पहुँचा हुआ संत ही कह सकता है—

**करे करावे आपे आप ।**

भक्ति का यह चरम स्वरूप है—

**सेवत साधु द्वैत-भय भागै। श्रीरघुबीर-चरन लय लागै॥**

*—वि०प० १३६/११*

जब 'द्वैत का भय' भगेगा, तब आपका अपने समग्र में प्रेम होगा। आंशिक प्रेम नहीं होगा क्योंकि आप समझ गए कि पूर्ण ही 'मैं' हूँ। समग्र के साथ 'एकता' या 'आत्मीयता की अनुभूति' होने लगेगी। 'समग्र' ही रघुबीर हैं और 'अंश' ही जीव है। 'जीव' ने 'सत्सङ्ग' से यह समझ लिया कि उसका 'जीवत्व' केवल उसकी क्रीड़ा मात्र है, यथार्थ नहीं है, इसलिए उसको अपनी यथार्थता में 'समग्र' दिखाई देने लगेगा कि 'समग्र' ही मैं हूँ, 'समग्र' ही मेरा है—

**सोऽहस्मि इति बृत्ति अखण्डा ।**

जैसे मैं कहता हूँ कि यदि आप लोग थोड़ा ध्यान लगाकर देखें नासिका के दोनों छिद्रों के बाहर उर्जा का अनन्त समुद्र है। है कहीं सीमा उसकी? ना ना....यह उर्जा का समुद्र ऑक्सीज़न के रूप में है, जिसके कारण हम जीवित हैं। वह हमेशा एक ही है। यदि हम अन्तर से उस सीमा को दूर कर दें, तो समग्र के साथ एकता की 'अनुभूति' करेंगे। जहाँ आपको समग्र में 'अनुरक्ति' हो गई, वहाँ शरीर से उत्पन्न होने वाले विकार अपने आप दूर हो जायेंगे। शरीर के विकार तो तब होंगे जब आप शरीर के साथ एक होंगे। यदि शरीर से आप ऊपर उठ गए, अनन्त के साथ आपकी एकता की अनुभूति होने लगी तो शरीर के विकार आपको क्या करेंगे—

**देह जनित विकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै॥**

तब अपने निज स्वरूप से अनुराग होता है—

**अनुराग सो निज रूप जो जगतें बिलच्छन देखिये।**
**संतोष, सम, सीतल, सदा दम, देहवंत न लेखिये॥**
**निरमल, निरामय, एकरस, तेहि हरष-सोक न ब्यापई।**
**त्रैलोक-पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥**

*—वि०प० १३६/११*

इस अवस्था में पहुँच गया है कि अनन्त की अनुभूति हो रही है। एक बात और समझा दूँ कि जिस समय आप शास्त्र के सूक्ष्मतम विषयों को समझने लगोगे तो आपको लगेगा कि आप वहीं हो। जैसे मुझे सुनाने में आनन्द आ रहा है, वैसे ही आपको सुन कर आनन्द आ रहा होगा। यदि आपकी बुद्धि मेरी बुद्धि के साथ हमेशा लगी रहे और उसको समझती रहे, तो आपको पूर्णता की अनुभूति होने लगेगी। नासिका के छिद्र के बाहर अनन्त उर्जा का स्रोत है, जो कि प्राण-वायु के रूप में आपके अन्दर जा रहा है और आ रहा है। आप कल्पना कीजिए कि समुद्र से एक नाली निकाल कर पास के ही एक गड्ढे से जोड़ दी गई है। जब समुद्र में लहरें उठती हैं तो उस छोटी-सी नाली के द्वारा पानी उसमें चला जाता है। फिर जब लहरें चली जाती हैं तो उसका पानी बह कर समुद्र में चला आता है। ज़रा वह नजारा देखिए, कल्पना में। फिर देखिए कि वह नाली अनन्त समुद्र से एक है या अलग है। मैंने जब सबसे पहले समुद्र देखा था तो मुझे लगा कि पृथ्वी का बहुत बड़ा भाग, जो जल से आच्छादित है, वह मेरे पाँव के नीचे है। एक महात्मा से किसी ने पूछा कि पृथ्वी का मध्य कहाँ है? उसने जोर से जमीन पर पाँव मार कर कहा कि यहाँ है। यदि तुम्हें विश्वास न हो तो नाप कर देख लो। यह तो वैज्ञानिक तथ्य है कि गोली पृथ्वी पर जहाँ भी अंगुली रखोगे, वहीं उसका मध्य हो जाएगा। यह अनन्त की अनुभूति का क्रम है। इसी रूप से यदि तुम उस बिन्दु को सिन्धु के प्रवाह से युक्त करके देखोगे, तो तुम अनन्त से एक हो जाओगे। जब तुम्हें इसकी अनुभूति हो जाएगी—

**संतोष, सम, सीतल, सदा दम, देहवंत न लेखिये।**

तो तुम अपने आपको क्या शरीरधारी मानोगे? नहीं, तुम तो अनन्त से एक हो जाओगे, फिर शरीर तुम्हारा नहीं रहेगा। शरीर के विकार, तुम्हारे विकार नहीं रहेंगे, शरीर के सम्बन्धी तुम्हारे सम्बन्धी नहीं रहेंगे। फिर तो सारा विश्व तुम्हारा हो जाएगा—

**है राम मुझ में, मैं राम में हूँ।**

यही अद्वैत की अनुभूति है और यही पराभक्ति है। इसी प्रकार की अवस्था के

विषय में नारद जी कह रहे हैं—

**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।**

भगवान् तथा भगवान् के भक्त में 'भेद का अभाव' है। भेद है ही नहीं, वहाँ पर। जहाँ भेद है, वहाँ भक्ति नहीं है, जहाँ भक्ति है, वहाँ भेद नहीं है। जहाँ भेद है, वहाँ भक्ति नहीं, भक्ति का साधन हो सकता है, भक्ति का नाटक हो सकता है तथा भक्ति का कार्टून हो सकता है। तीनों अवस्थाएँ हो सकती हैं। यदि सही में उस अभेद स्थिति को पाने के लिए तड़प है तो भक्ति की साधना है, यदि अहं की पुष्टि के लिए है तो भक्ति का नाटक है, यदि संसार को दिखाने के लिए है तो भक्ति का कार्टून है। ये तीनों अलग-अलग स्थितियाँ हैं। भक्ति के कार्टून का कोई लाभ नहीं, भक्ति के नाटक से कोई लाभ नहीं, भक्ति की साधना अवश्य लाभप्रद होती है। यहाँ पर पूछा गया कि इस प्रकार की साध्यता को प्राप्त करने के लिए कौन सी साधना की जाए? तीन सूत्रों में नारद जी साधन बता रहे हैं। उनका कथन है—

**दुःसङ्ग सर्वथैव त्याज्यः।** *—ना०भ०सू० ४३*

दुःसंग का सदैव त्याग करना चाहिए। जैसे कि मैंने पहले बताया था कि तुलसीदास जी के मत से—

**बिगरी जनम अनेक की सुधरे अब ही आज।**

तुम्हारी अनेकों जन्मों की जो बिगड़ी है अब ही, आज ही, इसी समय सुधर सकती है, लेकिन तीन शर्त हैं। क्या?

**होहि राम कर नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥**

*—दोहावली २२*

आज से निश्चय कर ले कि तू प्रभु का है, दुनिया में और किसी का नहीं है। दूसरा गुरु ने जो प्रभु का नाम दिया है, उसका सुमिरन करो। इन दोनों के साथ तीसरा अनुपान है कुसमाज का त्याग कर के प्रभु का हो कर उनके नाम का सुमिरन शुरु कर दे। अनेकों जन्मों की तुम्हारी बिगड़ी अभी सुधर जाएगी, इसी क्षण। बिगड़ी है कुसङ्ग से, सुधरेगी सत्सङ्ग से। मनुष्य में जितनी बुराईयाँ हैं, सब कुसङ्ग से आती हैं, इसलिए नारद जी ने कहा, पहली शर्त है—

**दुःसङ्ग सर्वथैव त्याज्यः।** *—ना०भ०सू० ४३*

बुरी सङ्गत का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यह नहीं कि कभी कैभार तो दोस्तों के साथ घूमने में कुछ नहीं होता। जो लोग दुःसङ्ग का त्याग नहीं कर सकते, वे धर्म के रास्ते पर आगे नहीं बढ़ सकते इसलिए पहली शर्त है—'दुःसङ्ग सर्वथैव

त्याज्यः'। कहा—यदि धीरे-२ त्याग दें तो? आगे के सूत्र में बड़ी अच्छी बात कही है उन्होंने—

**कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्।**

—ना०भ०सू० ४४

इसी प्रकार का श्लोक भगवान् ने गीता के दूसरे अध्याय में भी कहा है—

**सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥**
**क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।**
**स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥**

—गी० २/६२,६३

दुःसङ्ग से ही काम, काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से स्मृति का नाश, स्मृति नाश से बुद्धिनाश—यह आपके सर्वनाश के कारण हैं। बुद्धिनाश माने सर्वनाश। रामायण में एक चौपाई है—

**काल दण्ड गहि काहु न मारा ।**

काल किसी को डण्डे से नहीं मारता। फिर क्या करता है? कहा—

**हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा ।**

—रा० ६/३७-७

मन्दोदरी रावण से कहती है कि जब काल निकट आ जाता है, तो बुद्धि का नाश हो जाता है—

**विनाश काले विपरीत बुद्धि ।**

इसलिए सर्वनाश से बचने के लिए बुद्धि को बचाना पड़ेगा। बुद्धि को बचाने के लिए बुद्धि नाश के जो कारण हैं, उनसे बचना पड़ेगा। बुद्धि नाश के कारण क्या हैं? वही, जो भगवान् ने गीता में बताए हैं तथा नारद जी यहाँ बता रहे हैं—

**कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्।**

दुःसङ्ग से काम की जागृति। काम पूरा न हुआ तो क्रोध। काम क्यों पूरा नहीं होगा? अरे कहा—भई, काम कोई एक रूप में आता है जो पूरा हो जाएगा? आज यह किया तो पूरा हो गया, तो कल वह कहाँ से पूरा होगा? इसकी कोई सीमा है? दस माँगा मिल गया। कल को २० की माँग पूरी होगी क्या? यदि नहीं पूरी होगी, तो क्रोध आ जाएगा। क्रोध से मोह उत्पन्न हो जाएगा, मोह में स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति नष्ट होने से स्वस्वरूप की और भगवान् की स्मृति समाप्त हो जाती है।

**खोजत कतहुँ मिलइ नहिं धूरी। करइ क्रोध जिमि धरमहि दूरी॥**

*—रा० ४/१५-४*

क्रोध आया तो धर्म नहीं रहता, स्मृति नहीं रहती। स्मृति-भ्रंश से सदा बुद्धि नाश होती है। काम यहाँ बड़े व्यापक अर्थों में है—जो आसक्ति से उत्पन्न होता है। जहाँ पर आपने अपने सीमित अहं की पूर्ति के लिए किसी भी बाह्य पदार्थ की इच्छा प्रकट की उसी का नाम काम है। काम माने सीमित अहं की पूर्ति की चाह। वह पूर्ति की चाह किससे है, इससे कोई मतलब नहीं। काम माने केवल सैक्स नहीं है। जिस प्रकार के अभाव की अनुभूति होती है, वैसी ही पूर्ति करोगे आप। वही काम जिसके अभाव की अनुभूति करता है, उसी की चाह कर लेता है, वैसा हो जाता है। वही लोभ होता है, वही मोह होता है, वही राग होता है, वही द्वेष होता है, वही तृष्णा होती है और वही वासना हो जाता है। तत्त्व एक ही है, जो अनेक रूपों में दौड़ता रहता है। वह तत्त्व है—काम। यह काम तत्त्व दुःसङ्ग से उत्पन्न होता है। सत्सङ्ग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

**सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।**
**प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥**

*—गीता १४/१७*

जहाँ काम होगा, वहाँ बोध नहीं होगा और जहाँ बोध होगा, वहाँ काम नहीं होगा। ये दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं, जैसे—

**उएऊ भानु बिनु श्रम तम तोसा ।**

जब सूर्य उदय हो जाता है तो बिना परिश्रम के रात्रि का नाश हो जाता है। इसी प्रकार जहाँ ज्ञान उदय हो गया, वहाँ सभी कामनाएँ नाश हो जाती हैं—

**सकल काम बासना बिलानी। तुलसी बहै सातिं सहिदानी॥**

*—वैराग्य संदीपनी ५१*

काम से मुक्ति पाने के लिए कुसङ्ग का त्याग और आसक्ति का त्याग आवश्यक है। गीता में भगवान् ने बताया है—

**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।**
**महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥**

*—गीता ३/३७*

यह रजोगुण से उत्पन्न होता है। राजसिक पदार्थों का यदि आप सेवन करते रहो और रजोगुण न हो, ऐसा कैसे हो सकता है भाई! कारण बना रहे और कार्य न हो,

ऐसा नहीं हो सकता। रजोगुणी आहार आप करते रहो, रजोगुणी विहार आप करते रहो और सोचते रहो कि आप में से वासना नष्ट हो जाए, कैसे हो पाएगी। पहले रजोगुण को कम करने के लिए सात्त्विक आहार लो, सात्त्विक व्यवहार हो। कान से जो सुनते हो वह भी तो आहार है, ग्रन्थ जो पढ़ते हो वह भी तो आपका आहार है, वह आपका मानसिक आहार है। आप बौद्धिक, मानसिक, ऐन्द्रिक और शारीरिक आहार ग्रहण करते हो। शारीरिक आहार तो चौथा आहार है, पहला नहीं। मानसिक तथा बौद्धिक आहार बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। यदि आपका सब प्रकार का आहार शुद्ध और सात्त्विक है तो आपका उत्थान शीघ्र होगा। इसमें असावधानी नहीं बर्तनी चाहिए। नारद जी कहते हैं याद रखो—

**तरङ्गयिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति।**

*—ना० भ० सू० ४५*

पहले तो ये तुम्हारे अन्दर बड़ी ही झीनी सी तरंग के रूप में आयेंगे, लेकिन कुसङ्ग से मिलते ही ये समुद्र के समान हो जायेंगे। जहाँ कुसङ्ग मिला तुरन्त ये विकराल रूप धारण करके प्रकट हो जायेंगे। इनसे बचना बड़ा मुश्किल हो जाता है। जिनको यहाँ तरङ्ग के रूप में कहा है, इसी को योगदर्शन में तनु रूप में कहा है—

**प्रसुप्ततनुविच्छीन्नोदाराणाम्।**

*—योगसूत्र २/४*

इन क्लेशों की चार अवस्थाएँ होती हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। पहले प्रसुप्त है। जैसे बालक है, उसमें सैक्स का संस्कार प्रसुप्त है। धीरे-धीरे जब वह पाँच वर्ष का हो जाएगा तो उसमें 'तनु' माने थोड़े से संस्कार तरंग रूप में आयेंगे। उसी बच्चे को ८-९ वर्ष की अवस्था में इस प्रकार की क्रिया देखने में, सुनने में बड़ी रुचि होने लगेगी। टीन ऐज में पहुँचा तो विच्छिन्न हो गया और यदि उस समय कंट्रोल हो गया तो ठीक, नहीं तो 'उदार' हो जाएगा। उदार होने पर क्या करता है? अमेरीका, कैनेडा और इंग्लैंड में देख रहे हो क्या होता है? यहाँ पर बताया गया है कि सावधान रहो। वासना पहले बहुत प्रबल रूप में नहीं आती, बहुत पतले रूप में आती है। बाद में तो समुद्र रूप में हो जाती है। जब सूक्ष्म रूप में है, तभी चाहो तो उसे दबा दो।

एक महात्मा कहा करते थे कि पेड़ को बकरी से तभी तक बचाना चाहिए, जब तक वह पौधा है। पौधा यदि वृक्ष बन जाए तो, एक नहीं हज़ारों बकरियाँ उसके साथ बाँध दो, कुछ नहीं कर सकतीं वे। यही स्थिति है साधक की। शुरु-शुरु में उसकी साधना पौधे के रूप में है, उसे कोई भी नष्ट कर सकता है, उसे कोई

भी बकरी खा कर नष्ट कर सकती है। बकरी माने अजा। अजा माने प्रकृति। यह वेद में लाक्षणिक शब्द है। यह चितकबरी बकरी है। चितकबरी माने लाल, काले और सफेद तीन रङ्गों वाली। यह जीवन रूपी शाखा को कोपल से खाती है ताकि वह नष्ट हो जाए। यदि इसे बचा लिया और वह वृक्ष रूप में परिणत हो गया, फिर तो इस बकरी को इसके साथ बाँध दो तो भी कोई नुकसान यह इसे नहीं पहुँचा सकेगी। साधकों को सावधान रहना चाहिए। प्रारम्भ में ये वासनायें तरङ्ग रूप में आती हैं। उस समय यदि आप चाहो तो इसे उखाड़ सकते हो, नष्ट कर सकते हो। जब यह कुसङ्ग को पा कर उदार रूप में हो जायें तो आप इनसे क्या बचोगे?

**सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥**

भगवान् गरुड़ जी को बता रहे हैं, अरे पगले! हमारे तुम्हारे जैसे जीव की क्या गिनती है? ब्रह्मा और शंकर जी भी इस माया से डरते रहते हैं। बड़ी विचित्र माया है—

**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।**
**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥**

*—गीता ७/१४*

दुर्गासप्तशती में भी कहा गया है—

**ज्ञानीनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।**
**बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥**

रामचरितमानस में तुलसीदास जी ने लिखा है—

**जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह सन करई॥**

फिर हमारी तुम्हारी तो गिनती ही क्या है, इसलिए सावधान रहो तुम—

**तरङ्गयिता अपीमे सङ्गात् समुद्रायन्ति ॥**

*—ना०भ०सू० ४५*

इन तीनों सूत्रों में नारद जी ने दुःसङ्ग का सर्वथा त्याग करने को कहा है क्योंकि दुःसङ्ग से ही काम, क्रोध, मोह, स्मृति-भ्रंश, बुद्धि नाश का रास्ता खुलता है, यह काम पहले तरङ्ग रूप में आप में प्रवेश करता है। जब इसको सहयोगी मिल जाता है तो समुद्र हो कर तुम्हें डुबो देता है, इसलिए इससे सावधान रहो। आगे प्रश्न करते हैं—

**कस्तरति कस्तरति मायाम्?**

*—ना०भ०सू० ४६*

इस माया से कौन तर सकता है? उन्होंने इसका उत्तर चार सूत्रों में दे कर आगे

कहा है—

**स तरति, स तरति, स लोकांस्तारयति॥**

—ना० भ० सू० ५०

यह हरेक साधक के लिए बहुत सुन्दर विवेचन है। अपने में देखना चाहिए कि इनमें से कोई गुण आया कि नहीं आया। इसकी विवेचना कल करेंगे।

**हरि ॐ तत्सत्।**

# १३

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो। जो जीवन के आवश्यक तत्त्व हैं, जिनसे आपकी तुष्टि होने वाली है, वे आप पैसे से नहीं खरीद सकते। पैसे से आप दवाईयाँ खरीद सकते हैं अरोग्यता नहीं। पैसे से आप पुस्तकें खरीद सकते हैं, लाइब्रेरी बना सकते हैं लेकिन समझ कहाँ से लायेंगे? पैसे से आप सुविधा खरीद सकते हैं। सुविधा का कोई अन्त है कहीं? मेरे विचार से तो नहीं है। आदमी जितनी अधिक सुविधा चाहता है उतना ही अधिक वह परतन्त्र होता चला जाता है। जितनी सुविधाएँ बढ़ेंगी उतने ही आप परतन्त्र हो जायेंगे। एक दिन ऐसी स्थिति आ जाएगी कि आप अपने आप से घृणा करने लगेंगे, अपने आप से ऊब जायेंगे। इस प्रकार सुविधा आपको सुख नहीं देगी। मैत्रेयी अपने पति याज्ञवल्क्य से पूछती है कि इस धन से क्या मैं सुखी हो जाऊँगी, अमर हो जाऊँगी? याज्ञवल्क्य कहते हैं—''न, अमर तो तू नहीं हो सकती।'' उस धन को लात मारते हुए वह कहती है—

**येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।**

''जिस धन को पाकर मैं सुखी या अमर नहीं हो सकती, उस धन को लेकर मैं क्या करूँगी? मुझे यह धन नहीं चाहिए।'' महर्षि याज्ञवल्क्य उसकी प्रशंसा करते हुए उसे बुलाते हैं और कहते हैं—''मैत्रेयी, यही कारण है कि मैं तुमसे इतना प्यार करता हूँ। अब तुम आओ मेरे पास, मैं तुझे वो विद्या दूँगा जिससे तुम अमर हो जाओगी, जिससे तुम सुखी हो जाओगी।'' तब उन्होंने उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि कामना की वृद्धि का कहीं अन्त नहीं

है। एक महात्मा ने कहानी सुनाई कि एक व्यक्ति अपने मित्र के यहाँ गया। वहाँ देखा कि उसने अपने कमरे में बड़ी पुरानी चीज़ लाकर रखी हुई है जिसे एनटीक कहते हैं। उसने देखा कि बहुत अच्छी चीज़ है इसलिए वह भी अपने घर में इसी प्रकार की कोई चीज़ ले आया। दूसरे मित्र के यहाँ गया देखा, वहाँ भी कोई एनटीक था। इस प्रकार उसके जितने भी मित्र थे जिसके यहाँ कोई एनटीक देखे तो वह अपने यहाँ भी ले आए। सभी ने अपने घर में कोई एक एनटीक रखकर कमरा सजाया हुआ था परन्तु उसका घर तो अजायब घर लगने लगा। इससे क्या मिला उसे ? परेशानी के सिवा उसे कुछ नहीं मिला। उस कामना की पूर्ति से उसे कोई सुख, कोई शान्ति, कोई स्थिरता न मिली। मैं आपको बता रहा था कि कामना की जन्मदात्री तो कुसंगति है। ऐसे संसारी लोगों के पास न जाएँ, उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखें जो वासना के भूत हैं और वासना की गलियों में ही नाचा करते हैं। यदि तुम्हें शान्ति चाहिए तो तुम्हें जंगल में अकेले रहना ज्यादा अच्छा है, संसार के पतित लोगों के मध्य रहने की अपेक्षा शेर, चीते, बाघ, साँप, बिच्छु आदि में रहना ज्यादा उचित है। जानवरों की संगति हानिकारक नहीं होती क्योंकि उनकी संगति में रह कर तुम्हारे में कुसंस्कार पैदा नहीं होंगे, तुम्हारे हृदय में अशान्ति नहीं होगी। अशान्ति होगी अपनों से बड़े के यहाँ जाने पर। मैंने एक पुस्तक में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए लिखा है कि मनुष्य को सुख, शान्ति तथा इज्जत अपने से नीचे वालों के सम्पर्क में रहकर मिलती है। अपने से ऊँचे वालों के सङ्ग में रहने से तो उसे दुःख, संताप और पीड़ा मिलती है लेकिन उसका दुर्भाग्य यह है कि वह सदैव अपने से नीचे वालों से घृणा और अपने से ऊपर वालों का आदर करता है। अपने से नीचे वालों को देख कर वह सुखी क्यों होता है ? इसलिए कि उसे संतोष होता है किसी के पास केवल एक-२ बनियान है परन्तु हमारे पास तो बनियान के साथ कमीज भी है। अब हमें सर्दी कोई तकलीफ नहीं देगी लेकिन जब अपने से ऊपर वालों को देखा कि वह कोट पहने है, ऊपर से ओवर कोट भी पहने हैं तो उसे पीड़ा होती है। दुर्भाग्य उसका यह है कि जिसने उसे सुख दिया है, उसे वह दुत्कारता है। जिसने संतप्त किया है उसका वह आदर करता है। कैसी विडम्बना है! इससे अधिक निकृष्ट स्थिति और क्या हो सकती है मनुष्य की! पीड़ा अभाव की अनुभूति में होती है और सुख भाव की अनुभूति में होता है—ये दो बातें याद रखें। संतो ने कहा है कि नीचे देखकर चलोगे तो सुखी रहोगे। इसका अभिप्राय यह है कि उनकी तरफ देखकर चलो जो तुम्हारे से निम्न स्तर पर हैं तो तुम्हें सुख मिलेगा, शान्ति मिलेगी। दुःख से मुक्त होने के लिए यही

उपाय है। यहाँ पर नारद जी कहते हैं कि कुसङ्ग से ही काम उत्पन्न होता है, आगे क्रोध, मोह, स्मृति भ्रष्ट होना तो उसी का परिणाम है इसलिए मनुष्य को उससे सावधान रहना चाहिए। उन्होंने बताया—

**तरङ्गयिता अपीमे सङ्गात् समुद्रायन्ति ॥**

—ना०भ०सू० ४५

तुम यह न सोचो कि तुम तो एक मिनट के लिए गए थे, कुसङ्ग तो एक सैकिण्ड का भी हानिकारक होता है। सत्सङ्ग एक सैकिण्ड का भी लाभदायक होता है। पुराण में एक कथा है कि एक ब्राह्मण कुमार यज्ञ के लिए समिधा लेने जंगल में गया। जिस जंगल में वह समिधा लेने गया उस जंगल में उसने एक बड़े पेड़ के बगल में लताओं का कुञ्ज सा बना हुआ देखा, उसमें एक नग्न व्यक्ति एक नग्न स्त्री को गोद में लेकर शराब पी रहा था, उससे प्यार कर रहा था। यह बात उसकी दृष्टि में आ गई और देखते ही वह क्रोधित हो गया कि यह इतना असभ्य व्यक्ति है जो सूर्य की उपस्थिति में ही इस सार्वजनिक स्थान पर इतनी बड़ी अभद्रता कर रहा है लेकिन उसने सोचा कि इस समय मैं यज्ञ में दीक्षित हूँ, व्रत में बंधा हुआ हूँ, हमारा काम नहीं है इससे बात करना, इसलिए वह समिधा लेकर चला आया परन्तु रास्ते भर वह दृश्य उसके दिमाग में घूमता रहा। रात्रि में जब वह सोया तो वही दृश्य एकाएक उसके सामने आ गया, रात्रि तो वैसे भी वासना के लिए एक प्रकार का वरदान है। वह सोया-२ कल्पना करने लगा कि काश मैं भी किसी बाला को गोद में लेकर विहार करता। देखिए इस संस्कार के जागृत होने पर रात्रि भर उसे नींद नहीं आई। रात भर सोचते-२ उसका वह विचार प्रगाढ़ हो गया और सवेरे उठते उसके दिमाग में आया कि मैं चलकर पता तो लगाऊँ कि वह कौन स्त्री थी। एक शायर ने लिखा है—

**सिर्फ एक कदम रखा था गलत राहे शौक में।**
**मंज़िल तमाम उम्र मुझे ढूँढ़ती रही॥**

शौक में आकर हमने गलत रास्ते पर एक कदम ही रखा था कि हम खो गए, हमें मंज़िल ही नहीं मिली क्योंकि हम मंजिल को ढूँढने के काबिल ही नहीं रहे, मंज़िल ही हमें ढूँढती रही। बार-बार विषयों का चिन्तन करने से उसमें उसकी आसक्ति हो गई। इस आसक्ति ने उसे ऐसा करने के लिए प्रेरित किया। पहले तो पाप-पुण्य का थोड़ा सा द्वन्द्व हुआ आपस में, फिर आसुरी शक्तियाँ हावी हो गई और दैविक शक्तियाँ दब गई तथा उसने अपने आप से कहा—"अरे! पाप क्या होता है; जब उसे पाप नहीं लगा तो मुझे पाप क्या लगेगा?" बस इतना सोचते ही

वह चल पड़ा और पहुँच गया उसी वेश्या के यहाँ जिसको उसने देखा था। उसने फिर अपनी सारी जिन्दगी उस वेश्या के लिए लगा दी। उसके पास जो कुछ था, वह ले जाकर उस वेश्या को देता रहा और उसी के साथ रहता रहा। जानते हो उस व्यक्ति का नाम क्या था? उसका नाम था अजामिल। जो ब्राह्मण अपने स्तर से गिर जाए उसकी संज्ञा अजामिल होती है। उसके घर में जो कुछ था वह लाकर देता रहा। अब जब उसके पास कुछ नहीं बचा तो उस वेश्या ने उसे निकाल बाहर कर दिया। उसने बहुत कहा कि मैं तुमसे प्यार करता हूँ परन्तु वेश्या किसको प्यार करती है? वह कहने लगी यदि तुम मुझसे प्यार करते हो तो पैसा ले आओ। पैसा वह कहाँ से लाता? उसे तो अब माँगने पर भिक्षा भी कोई नहीं देता था क्योंकि वह पतित ब्राह्मण था। पतित ब्राह्मण को दान देने का अभिप्राय है नरक यात्रा। अन्त में वह हारकर अपनी पत्नी के साथ झोंपड़ी में ही रहने लगा। उसकी स्त्री भिक्षा करके जो ले आती उसमें से वह उसे भी खिलाती और आप भी खाती। अपनी असमर्थता और हारेपन के कारण वह बड़ा क्रोधी और चिढ़चिढ़ा हो गया था। एक दिन सायंकाल का समय था, एक महात्मा उसके गाँव के पास से जा रहे थे। उन्हें विश्राम के लिए स्थान की जरूरत थी। वहाँ कुछ व्यक्ति खड़े हुए थे। महात्मा ने उनसे पूछा, ''क्यों भाई, यहाँ कोई सज्जन व्यक्ति रहता है, जहाँ जाकर मैं रात बिता लूँ?'' नौजवानों को मजाक सूझा और आपस में कहने लगे कि इसे अजामिल के यहाँ भेज दो, वह इसे देखेगा तो गालियाँ देगा। उन्होंने उसे कहा—''वो देखो, वह एक भक्त की झोंपड़ी है। बड़े अच्छे संत हैं वे। वहाँ चले जाइए।'' वे पहुँच गए वहाँ। यह तो संस्कार की बात है। कब किसी का दबा हुआ संस्कार जाग जाए कुछ कहा नहीं जा सकता। अजामिल ने देखा कि यह तो कोई संत आ गए। उसने प्रणाम किया।

एक बात याद रखो कि पतित से पतित व्यक्ति के जीवन में भी इन तीन गुणों का चक्र चलता रहता है—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण। महान् से महान् पुण्यात्मा के जीवन में भी तमोगुण का चक्र आता है। पतित से पतित व्यक्ति के जीवन में भी सतोगुण का चक्र आता है। अब आप जिस गुण में किसी कार्य में प्रवृत्त हुए यदि तो उसके अनुकूल गुण आपके चित्त में चल रहा है तो उस कार्य में आपको सफलता मिल जाएगी। आपके चित्त की अवस्था इस समय तमोगुण में चल रही है और आप बैठ गए ध्यान लगाने के लिए, खाक ध्यान लगेगा! जब सतोगुण आवे उसी समय आँख बन्द करके बैठ जाइए तो ध्यान लग जाएगा। इसी रूप से कौन गुण किस समय आपके जीवन में प्रवाहित हो रहा है, इससे

सम्बन्धित यदि आपका ज्ञान सजग है तो आप उसमें सफल हो जाएंगे। हमारे यहाँ एक स्वर विज्ञान की प्रक्रिया है, वह जिस शास्त्र में है उसे स्वर शास्त्र कहते हैं। कौन सा गुण इस समय आपके जीवन में बरत रहा है, उसको जानने के लिए स्वर शास्त्र में स्वर को देखते हैं। कौन सी नाक चल रही है–दाहिनी या बांई या दोनों चल रही हैं या दोनों बन्द होने जा रही हैं, ये चार अवस्थाएँ होती हैं। कभी–२ आपने देखा होगा कि दोनों स्वर बन्द हो जाते हैं और आप मुंह से श्वास लेते हैं। यदि मुंह बन्द कर लें तो आपको घुटन होने लगती है। इस प्रकार आप आराम से देख सकते हैं कि आपका कौन सा स्वर चल रहा है। जिस समय आपके दोनों स्वर चलते हैं उस समय अग्नि तत्त्व है। जब दाया चल रहा है तो सूर्य तत्त्व है। जब बाँया चल रहा है तो चन्द्र तत्त्व है। जब दोनो बन्द होने लगें तो समझ लो धूमतत्त्व है। स्वर शास्त्र में बताया गया है कि जब दाहिना स्वर चले तो उसमें ये–२ क्रियाएँ करोगे तो आपको उससे लाभ होगा। जब बाँया चले तो इन–२ क्रियाओं के करने से सफलता मिलेगी। यदि दोनों स्वर चलें तो कोई काम न करें, शान्त हो कर बैठ जाइए। अब आपका चित्त इधर–उधर दौड़ नहीं सकता। आपको ध्यान में सफलता मिलेगी, इसलिए प्राणायाम के द्वारा पहले दोनों स्वर चला कर फिर ध्यान में बैठा जाता है। यह तो एक रहस्य की बात थी जो कि आप लोगों को बताई।

मैं बता रहा था कि हो सकता है अजामिल उस समय सात्त्विक गुण में रहा हो। जब महात्मा जी पहुँचे तो वह उनके दोनों पाँव पकड़ कर रोने लगा। लड़के दूर खड़े देख रहे थे और सोच रहे थे कि यह तो महात्मा जी को गाली देगा, मारेगा, महात्मा जी दौड़ेंगे और हम ताली बजाएँगे लेकिन वहाँ तो उलटा ही हो गया। वह रोने लगा—"प्रभु! आप यहाँ कैसे पधारे? अरे हम तो पतित आदमी हैं।" उन्होंने कहा—"आप तो भक्त हो।" उसने कहा—"मैं भक्त नहीं अजामिल हूँ, पतित हूँ। महात्मा जी स्तब्ध रह गए और सोचने लगे कि यहाँ रहना भी है या नहीं।" इतने में उनकी धर्मपत्नीं थाली में जल लेकर उनके चरण धोने के लिए आ गई। उन्होंने देखा—"यह तो गिर गया है लेकिन यह देवी इसकी सम्भाल कर लेगी।" बैठ गए और कहा—"नहीं भक्त, आप इसकी चिन्ता न करें। आप अब भक्त हो।" रात में रहे वहाँ सत्संग किए, और तो वहाँ कोई आने वाला नहीं था, वही पति–पत्नी दोनों थे। रात भर के सत्संग का यह परिणाम हुआ कि जब सवेरे महात्मा जी चलने लगे तो उसने कहा—"प्रभो! मेरा उद्धार कैसे होगा? उसने अपनी सारी कहानी सुना दी।" उन्होंने कहा—"तुम्हारे उद्धार का साधन बन

चुका है। तुम्हारी स्त्री गर्भवती है, इसको एक लड़का पैदा होने वाला है। उस लड़के का नाम तुम नारायण रख लेना, वही तुम्हारे उद्धार में कारण बनेगा'', इतना कहकर वे चले गए। आगे कथा तो आपने सुनी होगी। अन्तिम समय में उसने लड़के का नाम लेकर पुकारा—नारायण-नारायण तो भगवान् ने उसकी रक्षा की।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि उस अजामिल के जीवन के पतन में क्षण मात्र का कुसंग कारण बना था। एक दृष्टि पड़ी जहाँ से उसमें कुसंस्कार आ गए थे। जब उसका सुधरने का समय आया तो एक संत मिल गए। जीवन में पतन हमेशा कुसङ्ग से तथा उत्थान हमेशा सत्संग से ही होता है। कुसंगति से हमेशा बच कर ही रहना चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि हमारा मित्र है, उसके यहाँ चले गए तो क्या अन्तर पड़ता है। वह पीता रहेगा और हम बैठे देखते रहेंगे उसे। तुम कितने दिन देखते रहोगे? कभी तो एक पैग लोगे ही। वह खाता रहेगा तुम देखते रहोगे, ऐसा नहीं हो सकता। हमेशा सावधान रहो। कुसङ्ग में रहने की अपेक्षा अकेला रहना अच्छा है। भर्तृहरि ने लिखा है कि जंगल में चले जाओ जहाँ पर सर्प रहते हों, शेर रहते हों, गीदड़, भेड़िये रहते हों। उनके मध्य रहोगे तो तुम्हारा पतन नहीं होगा, तुम अपने मानसिक स्तर से नीचे नहीं गिरोगे लेकिन यदि कुसंगति में चले गए तो तुम्हारा पतन हो जाएगा। तुम अपने मानसिक स्तर से नीचे गिर जाओगे। वो उससे ज्यादा खतरनाक है। इसके बाद नारद जी ने प्रश्न किया—

**कस्तरति-कस्तरति मायाम्?**

माया से कौन तरता है? इस संसार सागर से पार कौन हो सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर उन्होंने स्वयं ही आगे के चार सूत्रों में दिया है। इन सूत्रों में साधन सम्बन्धी जो कुछ उन्होंने कहना था, सब कह दिया है। यदि मैं कहुँ कि गीता में जितने आत्मोत्थान के साधन भगवान् ने बताए हैं, वे सारे के सारे इन चार सूत्रों में आ गए हैं तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। सबसे पहले उनका कथन है—

**यः सङ्गांस्त्यजति ।**

जो आसक्ति का त्याग करता है, जो कुसङ्ग का त्याग करता है, वह इस संसार सागर से पार हो जाता है। क्या कुसङ्ग का त्याग कर देने मात्र से तुम माया से पार हो जाओगे? बोले—''नहीं, पतन से तो बच जाओगे लेकिन उत्थान की दिशा में प्रगति नहीं है।'' एक सज्जन मेरे पास आए और कहने लगे—''भगवन्! यदि कोई व्यक्ति माँस नहीं खाता, मदिरा नहीं पीता, किसी की बुराई नहीं करता, झूठ

नहीं बोलता, अपनी ईमानदारी से मेहनत करके कमाता और खाता है, क्या, इससे उसका उद्धार नहीं हो जाएगा?'' मैंने कहा—''यदि किसी बैल का उद्धार होता होगा तो इसका भी हो जाएगा। बैल झूठ नहीं बोलता, मदिरा नहीं पीता, अपनी मेहनत की कमाई से दिन भर घास खा लेता है।'' वे सज्जन मेरे से कहने लगे कि आप धर्माचरण को बैल की संज्ञा दे रहे हैं। मैंने कहा—''यदि इसी का नाम धर्माचरण है तो आप पशुता किसे कहोगे? यह धर्माचरण नहीं है। धर्म नकारात्मक नहीं है सकारात्मक है, वह निष्क्रिय नहीं क्रियात्मक है। यह-यह न करना ही धर्म नहीं है, यह-यह करना धर्म है। झूठ न बोलना ही धर्म नहीं है। यदि तुम झूठ नहीं बोलते तो अच्छी बात है लेकिन इससे तुम महात्मा नहीं बन जाओगे। सत्य के लिए समर्पित होना महानता की बात है, झूठ न बोलना महानता की बात नहीं है। कोई पशु झूठ नहीं बोलता। सबकी सह कर चलने वाले गधे से बड़ा और कौन हो सकता है? यदि इसी को धर्म कहा जाए तो दुनिया में सबसे बड़ा वही प्राणी हो सकता है। धर्म निर्माणात्मक है नकारात्मक नहीं है। जो मेहनत करके अपनी कमाई खाता है, वह महात्मा नहीं कर्मात्मा है। जो मेहनत करके अपनी उदर पूर्ति करता है, बच्चों को पालता है, वह धर्मात्मा नहीं, वह पापात्मा भी नहीं है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि जो पढ़ा-लिखा नहीं होगा वह हमेशा मूर्ख ही होगा, हाँ वह विद्वान् नहीं हो सकता। इसी रूप से जो करणीय कार्य हैं, यदि उनका आप अनुष्ठान नहीं करते तो जो नहीं करने का है, उनके त्याग मात्र से आप बड़े नहीं बन सकते। दो स्तर हैं—यह नहीं करना है, यह करना है। यह नहीं करने से आप गिरने से बच गए। यदि आप नदि पर से छलांग नहीं मारे तो इसका अभिप्राय नहीं कि आप पहाड़ पर पहुँच गए हो। पहाड़ पर चढ़ना अलग बात है, जमीन पर रहना अलग बात है तथा नदी में गिरना अलग बात है। यहाँ पर बताया कि संग का त्याग कर दें, यह तो हुआ नदी में गिरने से बचना लेकिन—

**यो महानुभावं सेवते ।**

यह हुआ पहाड़ पर चढ़ना। यदि आपने कुसंग का त्याग कर दिया लेकिन सत्संग का सेवन नहीं किया तो आप जहाँ हैं वहीं रहेंगे। इसलिए दोनों बातें साथ-साथ कहीं—

**यः सङ्गांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते।**

जिसने कुसंग का त्याग कर दिया वह पतन से बच गया, अब वह महानुभावों की सेवा करता है इसलिए ऊँचे उठेगा। जितनी विकसित आपकी बुद्धि है उतना ही महान् आपका व्यक्तित्व होगा। कौन व्यक्ति कितना महान् है? जितनी उसकी

बुद्धि प्रतिभावान है। कौन व्यक्ति कितना गिरा हुआ है? जितनी पतित उसकी बुद्धि है। यदि आप कुसंग नहीं किए तो आप पतित नहीं हुए लेकिन आपकी बुद्धि विकसित नहीं हुई। बुद्धि को जैसे गिराने के लिए साधन चाहिए वैसे उठाने के लिए भी साधन चाहिए। महापुरुषों का संग ही उत्थान की दिशा में आगे ले जाता है। महापुरुषों के संग के लिए एक सबसे बड़ी शर्त है—

**निर्ममो भवति॥** —ना०भ०सू० ४६

ममता रहित हो जाना। ममता को साथ रख कर आप महानुभावों की सेवा नहीं कर सकते, असम्भव है। यदि ममत्व का त्याग नहीं हुआ तो महापुरुषों की संगति आपको नहीं मिलेगी। यदि मिल भी जाए तो कोई लाभ नहीं होगा। तुलसीदास जी ने इस ममता के लिए एक पद में बड़े ही व्यथित होकर प्रभु को पुकारा है और ममता की यथार्थता का वर्णन किया है—

**ममता तू न गई मेरे मन ते।**
**पाके केस जनम के साथी ज्योति गई नयनन ते।**
**टूटे दसन वचन नहीं आवत। सोभा गई मुखन ते॥**

"हे ममता! तू मेरे मन से नहीं गयी, सब चले गए। जब पैदा हुए थे तो बाल भी साथ-२ पैदा हुए थे। वे काले से सफेद हो गए। सारी इन्द्रियाँ शिथिल होने लगीं। इस अवस्था में पहुँच गये जिसको देख कर लोग हँसते हैं।"

एक बूढ़ी माँ थी। हाथ में लठिया लिए चल रही थी नीचे सिर किए हुए। कमर उसकी झुक गयी थी। एक नौजवान लड़की ने उसे देखा तो उसे एक मज़ाक सूझा। वह पहुँच गयी उसके पास, कहने लगी—"माँ! क्या गिर गया तेरा जो मिट्टी में ढूँढ रही है?" उस बूढ़ी माँ ने उसकी तरफ देखा और हँसते हुए कहने लगी—"बेटी! क्या बताऊँ तेरे जैसी जवानी थी मेरी इसी मिट्टी में खो गई है और वही खोज रही हूँ।" यह सबके साथ होने वाला है। किसी के साथ आज हो गया, किसी के साथ कल होने वाला है। इसलिए देवर्षि ने कहा—**निर्ममो भवति**। जिसने ममता का त्याग करके कुसंगति से दूर रहते हुए सत्संगति का सेवन किया है, वह इस माया से पार हो जाता है। तीन शर्तें हैं—कुसंगति का त्याग, सत् संगति का ग्रहण और ममता रहित हो जाना। अहंता और ममता ये दो चीज़ें हैं। ये मेरा है यह तो हुई ममता और यह मैं हूँ इसको कहते हैं अहंता। मैं और मेरा ये माया के ही दो रूप हैं। तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में लिखा है—

**मैं औरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया॥**

मैं–मेरा, तैं–तेरा, यही माया का स्वरूप है। जहाँ मैं हुआ वहाँ तुम भी होगा, जहाँ मेरा है वहाँ तेरा, भी हो जाएगा। इस माया से परे जाने के लिए पहले मेरे का त्याग होता है। मैं का त्याग तो बड़े साधन की बात है। पहले मेरे का त्याग करो, फिर मैं का त्याग अपने आप धीरे–२ हो जाएगा, क्योंकि 'मेरा' के सहारे ही 'मैं' जीता है। यह बिल्कुल मनोवैज्ञानिक तथ्य है। यदि मेरा कहने को कुछ न हो तो एक दिन मैं अपने आप मर जाएगा क्योंकि उसके खड़े होने के लिए स्थान ही नहीं रहेगा, वह आधार रहित हो जाएगा। यदि मेरे को रखते हुए मैं को मारना चाहोगे तो वह कभी नहीं मरेगा। एक दोहे में मैंने लिखा है—

**मैं मारो, मैं मारनो है मैं को पहिचान।**
**याही में सब योग है याही में सब ज्ञान॥**

'मैं' की पहचान तो तब होगी जब पहले 'मेरे' से ऊपर उठता चला जाए। जहाँ मेरेपन का भाव है वह है ममता। जो निर्मम हो गया है, जिसने कुसङ्गति का त्याग कर दिया है, जो महानुभावों की सेवा करता है, वही इस माया से पार जाता है। अब आगे लिखते हैं—

**यो विविक्तस्थानं सेवते।**

विविक्त स्थान माने एकान्तवास। एकान्तवास कई प्रकार से होता है। मेरी अनुभूति है कि यहाँ जो टोरन्टो की घनी बस्ती है, वहाँ रहकर भी आदमी एकान्त में रह सकता है और हिमालय में जा कर भी व्यक्ति एकान्त में नहीं रह सकता। एकान्त शब्द का अभिप्राय है एक में मन का अन्त हो जाना। आपके मन का एक में अन्त हो जाए तो देश, काल और परिस्थितियाँ इसमें बाधक हो सकती हैं? नहीं हो सकतीं। जिस शहर में, जिस समाज में एक पतिव्रता स्त्री रहती है, उसी शहर, उसी समाज में वेश्यायें भी रहती हैं। उसी देश, उसी काल और उसी परिस्थिति में दोनों रहती हैं। मेरा कहने का अभिप्राय एकान्त सेवन अर्थात् एक में ही जीवन का अन्त करना, एक में ही जीवन को समर्पित करना, एक में ही जीवन लगा देना, यह देश–काल और परिस्थिति से सम्बन्धित नहीं है, यह चित्त की अवस्था से सम्बन्धित है। इसलिए मैं आप लोगों को बता रहा था कि विविक्त स्थान सेवन के लिए जंगल में जाना जरूरी नहीं है। कहीं भी रह कर आप एकान्तवासी हो सकते हैं। यह शर्त है—

**यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति,**
**निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति॥**

—ना०भ०सू० ४७

जो एकान्त स्थान का सेवन करता है, जो संसार के बन्धन को तोड़ देता है, जो तीन गुणों से ऊपर उठ जाता है, जो अपने योग और क्षेम की चिन्ता का त्याग कर देता है—

**यः कर्मफलं त्यजति, कर्माण्यपि संन्यस्यति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥**

—ना० भ० सू० ४८

जो पहले कर्म फल का त्याग कर देता है, फिर कर्म का भी त्याग कर देता है। वह फिर द्वन्द्व भाव से रहित हो जाता है और फिर वह वेद का भी त्याग कर देता है—

**वेदानपि संन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥**

—ना० भ० सू० ४९

फिर अखण्ड अनुराग प्रभु से प्राप्त कर लेता है। वही तरता है-वही तरता है। वह लोकों को भी तार देता है। इन सूत्रों की व्याख्या कल सुनाई जाएगी।

**हरिः ॐ तत्सत्।**

## १४

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना!

देवर्षि नारद भक्ति की मीमांसा में एक प्रश्न करते हैं—कस्तरति, कस्तरति मायाम्? माया से कौन तरता है, कौन तरता है? इसके उत्तर में वह स्वयं ही बताते हैं—

**यः सङ्गांस्त्जति यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति॥**

—ना०भ०सू० ४६

"जो आसक्ति का त्याग करता है वा कुसङ्ग का त्याग करता है, महापुरुषों का सङ्ग करता है और ममता रहित हो जाता है।" कुसङ्गति के त्याग और सत्सङ्गति के सेवन का संदेश, ये दोनों ही बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। हमारे पूर्व के शास्त्रकारों ने कुसङ्गति के पाँच लक्षण बताए हैं। जिस व्यक्ति के संग में रहने से आपको पाँच प्रकार की प्रेरणा मिलती हो तो उसकी संगति को कुसङ्गति समझना चाहिए, चाहे वह महात्मा ही क्यों न हो। जैसे—श्रमरहित सम्पत्ति प्राप्त करने की प्रेरणा, योग्यता रहित अधिकार प्राप्त करने की प्रेरणा, संयम रहित स्वर्ग प्राप्त करने की प्रेरणा, मिथ्या स्तुति और सांसारिक विषयों में सुख की प्रेरणा। इस प्रकार की प्रेरणा यदि किसी मित्र से मिलती हो तो वह मित्र नहीं कुमित्र है, यदि माँ से मिले तो वह कुमाता है, पिता से मिले तो वह तुम्हारा शत्रु है और यदि किसी धर्म से मिले तो वह धर्म नहीं अधर्म है। इसी का नाम यहाँ सङ्ग कहा है। 'यः सङ्गास्त्यजति।' जो इस प्रकार से सङ्ग का त्याग कर देता है और—'यो महानुभावं सेवते', महापुरुषों की सेवा करता है। जो अधिकार नहीं योग्यता की सीख, सम्पत्ति नहीं

श्रम की सीख, स्वर्ग नहीं सदाचार की सीख, मिथ्या प्रशस्ति नहीं शुभ कर्म में प्रगति की सीख, संसार सुखमय नहीं साधनमय है, की सीख देता है, उसे महापुरुष कहते हैं, उन्हीं का सङ्ग करना चाहिए। इसलिए—

**निर्ममो भवति। यो विविक्तस्थानं सेवते।**

जो ममता रहित हो जाता है, जो एक ही में अपने जीवन का अन्त कर देता है, वह एकान्तवासी है। शरीर से एकान्त तो दुनिया में कहीं हो ही नहीं सकता। हिमालय की बहुत ऊँची चोटी पर भी आपको पंच तत्त्व मिलेंगे और किसी बड़े से बड़े शहर के केन्द्र में भी आपको पंच तत्त्व मिलेंगे, छटे तत्त्व की गन्ध भी नहीं मिलेगी आपको। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश के ही सारे वेरीऐशन्स या मोडीफिकेशन्स हैं। इसलिए शरीर से एकान्त की कल्पना ही मिथ्या है। एकान्त तो मानसिक है। यदि मन परमात्मा में लग गया है तो जंगल में बसो चाहे घर में क्या अन्तर पड़ता है?

हमारे यहाँ साधक के लिए तीन बातें बताई जाती हैं—कम खाना, कम बोलना और कम चलना। एक महात्मा ने कहा है—"दो बातें मेरी ओर से और जोड़ लें, इनमें-कम सोना और कम लोगों से मिलना, इससे साधना में सहायता मिलेगी।" एक महापुरुष ने कहा—"जितनी शक्ति हमारी आँख द्वारा क्षय होती है उतनी शक्ति हमारी किसी भी अन्य इन्द्रिय द्वारा क्षय नहीं होती इसलिए जब तक साधन में बैठो तब तक नेत्र बन्द रखो, मुंह बन्द रखो, इससे साधना में प्रगति होगी।" ये साधक के लिए ही सारी बातें समझाई जा रही हैं। यह विविक्त स्थान सेवन का नियम है। कभी-कभी ऐसा होता है कि आप समाज में रहते हुए एक दिन का व्रत रखते हैं। आप खाने का ही व्रत न रखें बल्कि बोलने का भी व्रत रखें। आप सारा दिन नहीं कुछ घण्टे मौन रहें। जैसे आपने नियम बना लिया कि ६ से ७ हमें नहीं बोलना है तो पाँच बजे से ही आपके चित्त की वृत्ति अन्तरमुखी होने लगेगी। यदि आप बोलेंगे तो आपको लगेगा कि आप कोई गलती कर रहे हो। २४ घण्टे में ऐसा नियम अपनी सुविधानुसार बना ही लेना चाहिए, इससे आपको बहुत ही बल मिलेगा। कुछ दिन करके देखिए। साधन तो करने के लिए होता है। ये विविक्त स्थान सेवन की विधियाँ हैं। आपके मित्रों को पता चल जाएगा कि इतने बजे से इतने बजे तक आप नहीं बोलते तो कोई आपके पास नहीं आएगा उस समय। अधिकांश लोगों के मिथ्या विवाद से बचने के लिए और शक्ति संचय के लिए ये सारी प्रक्रियाएँ हैं। आपको ईश्वरीय विधान से शक्ति मिलती है, दिन भर आप केवल उसको व्यय करते हैं लेकिन शक्ति को अधिक

मात्रा में ग्रहण करने और संचय करने के लिए भी कुछ करते हैं? यदि आप कहें कि हम तो इसके लिए भोजन करते हैं, तो ऐसा नहीं है। भोजन तो आप शक्ति के लिए नहीं भूख को मिटाने के लिए करते हैं। भूख मिटाने के लिए भोजन करना, प्यास मिटाने के लिए पानी पीना अलग चीज़ है और शक्ति संचय तथा शक्ति वृद्धि के लिए आहार ग्रहण करना बिल्कुल दूसरी बात है। यहाँ पर जो प्रवृत्ति है वह शक्ति को व्यय करने की है न कि संचय करने की। प्राणायाम करने, ध्यान करने से शक्ति संग्रहित होती है। यही कारण था कि महात्मा साधन करके, त्राटक करके शक्ति संचय करते थे, जब आँख उठा कर कहीं किसी को देखते थे तो आदमी भस्म हो जाता था। ऐसे थोड़ा ही भस्म कर देते थे? जुबान तो वही है। जो जुबान दिन भर में हज़ार शब्द असत्य बोल रही है, उसमें कौन सी शक्ति रहेगी कि कह दिया और हो गया। कहते हैं न कि अमुक महात्मा इतने सिद्ध पुरुष थे, जो कहते थे वही हो जाता था। अरे भले आदमी, तुम भी जो कहोगे वही हो जाएगा लेकिन पहले कहने के लिए शक्ति तो इकट्ठा करो तुम।

हम कबीर के जन्म की एक घटना पढ़ते हैं। उनके गुरु रामानन्द एक ब्राह्मण के घर गए तो जब वे चलने लगे तो परिवार के लोगों ने उन्हें प्रणाम किया। एक जवान लड़की थी, उसने भी प्रणाम किया। सहज भाव से उन्होंने पुत्रवती-भव का आशीर्वाद दे दिया। यह सुनते ही लड़की चीख पड़ी। उन्होंने पूछा, "क्या हुआ?" उसने कहा, "भगवन्! आपकी बात तो मिट नहीं सकती लेकिन आपने तो अनर्थ कर दिया।" उन्होंने पूछा, "हुआ क्या?" उसने कहा, "मैं तो विधवा हूँ, पुत्रवती कैसे हो सकती हूँ?" उन्होंने कहा, "मैं तो कह दिया हूँ, अब तो कुछ हो नहीं सकता।" कबीर जी की जीवनी में यही आता है कि उस विधवा के गर्भ से कबीर जी की उत्पत्ति हुई। वह विधवा केवल आशीर्वाद से गर्भवती हुई, है तो बड़ी विचित्र बात लेकिन ऐसी अनेकों विचित्र बातें महापुरुषों के जीवन में होती रहती हैं जो जनसामान्य में अविश्वसनीय कही गई हैं। यदि यह कहें कि हम भी कह दें तो क्या किसी को सन्तान हो जाएगी? हाँ, यदि तुम रामानन्द बन जाओ तो तुम्हारे कहने से भी हो जाएगी। तुम कबीर बन जाओ तो तुम्हारे कहने से भी हो जाएगी।

एक बार की बात है कि कबीर साहिब घर पर नहीं थे, उनकी स्त्री लोई घर पर ही थी। एक कुष्टि रोता हुआ आया—"बहुत दुःखी हैं, साहिब!" लोई बाहर निकली, कहा—"साहिब तो घर पर हैं नहीं, कैसे आए थे?" वह रोने लगा, "हम तो बहुत दूर से साहिब का नाम सुन कर आए थे। हमारे शरीर में कोढ़

हो गया है, इससे रक्षा के लिए आए थे।'' उसने कहा, ''साहिब तो नहीं हैं, तुम बैठ कर तीन बार राम-राम-राम कह दो तो तुम्हारा दुःख चला जाएगा।'' वह बैठा और उसने तीन बार राम-राम-राम कहा और उसकी काया शुद्ध हो गई। जब वह ठीक होकर चला गया तो कबीर साहिब आए और पूछा, ''क्यों, कोई आया था मेरे बाद में?'' उनकी स्त्री ने कहा, ''हाँ, और तो कोई नहीं आया था, एक दीन बेचारा बड़ा दुःखी कुष्ट रोग से पीड़ित व्यक्ति आया था। वह बड़ा दुःखी था, तड़प रहा था। मैंने आपको याद करके आप वाली विधि उसे बता दी। मैंने कहा, तीन बार तुम राम कहो तुम्हारा कष्ट दूर हो जाएगा। उसने तीन बार राम-राम कहा उसका कोढ़ ठीक हो गया।'' कबीर जी ने कहा, ''अरे लोई! तूने तो अनर्थ कर दिया। अरे, छोटे से कुष्ट के लिए तीन बार तूने उससे राम-राम कहलवाया। एक बार राम कहने से अनन्त जन्मों के कष्ट कट जाते हैं। पाप ही तो रोग के रूप में आता है। तूने तीन बार राम कहलवाया? इसका अभिप्राय तुम्हें अभी नाम की महिमा का बोध नहीं है।''

ऐसी घटनाएँ हैं इतिहास की। कबीर कोई सतयुग में तो हुए नहीं थे। अभी तो हुए थे। तुलसी ने स्वयं टोडरमल के मरे हुए लड़के को राम-नाम के प्रभाव से जीवित कर दिया था। ये असम्भव घटनाएँ सम्भव हुईं। यदि तुलसी तथा कबीर आदि के कहने से यह गति हो सकती है तो उनकी शक्ति और ज्ञान के स्रोत गुरु रामानन्द के कहने मात्र से सन्तान हो गई तो क्या आश्चर्य है? यदि आप कहो कि यह वैज्ञानिक ढंग से ठीक नहीं लगता, वहाँ तो क्रोमोसोमज़ होने चाहिए। वहाँ जुबान से क्रोमोसोमज़ कैसे पहुँच गए? शरीर पंच महाभूतों का है। मीरा सशरीर गिरधर की मूर्ति में समा गई। यह कैसे हो सकता है, उसका कुछ तो मिला होगा? चैतन्य महाप्रभु जगन्नाथ जी की मूर्ति में समा गए। कबीर जी जब शरीर छोड़े तो वहाँ उनका अस्थि-पंजर कुछ भी नहीं मिला! फूल पड़े हुए मिले, आधे हिन्दुओं ने ले लिए, आधे मुसलमानों ने ले लिए। ऐसी बहुत सी घटनाएँ घटी हैं जिनका लोग प्रचार नहीं करते। जिनका प्रचार हो जाता है लोग उसे कहानी समझ लेते हैं। साधक जो साधना करता है, उसको इस प्रकार की अनुभूति होती रहती है। वाणी के संयम से शक्ति का संचय होता है। शक्ति नेत्र से भी जाती है, शब्द से भी जाती है और स्पर्श से भी जाती है। दर्श, स्पर्श, समागम आदि तीन रास्ते हैं शक्ति प्रवेश के। महापुरुष तीनों का प्रयोग करते हैं। शक्ति में जो कुछ है वह तो सब इस स्पेस में है। बनारस में एक महापुरुष थे स्वामी विशुद्धानन्द। शायद आप लोग उनका नाम सुने हों। गोपीनाथ कंविराज के वे गुरु थे। गोपीनाथ कविराज ने उनके बारे

में बहुत कुछ लिखा है कि कैसे वे स्पेस से फूल देते थे, गन्ध को परिणत कर देते थे, घी को पुनः दूध बना देते थे। थियोरी ऑफ कॉज़ेशन को किस प्रकार से वे प्रत्यक्ष रूप में बताते थे, यह उन्होंने उनके लिए लिखा है। गोपीनाथ कविराज जैसा प्रतिष्ठित व्यक्ति मिथ्या तो नहीं लिख सकता। वह कोई ऐसा व्यक्ति भी नहीं कि किसी की प्रशस्ति में झूठ लिख दिया हो। वे तो हिन्दू विश्व विद्यालय के माने हुए विद्वान् थे। इस काल के महान् दार्शनिक थे। तन्त्र शास्त्र के महान् ज्ञाता थे, हज़ारों पृष्ठ उन्होंने तन्त्र शास्त्र पर लिखे हैं। मेरे कहने का अभिप्राय कि आज भी ऐसे महापुरुष हैं जिनकी शक्ति को देख कर हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। हम अपने जीवन में ऐसा देखे हैं। अनेकों घटनाएँ हमारे जीवन में ऐसी घटी हैं, इसलिए हमारे लिए कोई आश्चर्य नहीं है। तुलसीदास जी ने लिखा है—

**जो कोउ कहे प्रताप राम को सिला सरोरुह जामो।**
**तो तुलसी पाँचो मनिअत है आदि मध्य परिणामो॥**

''यदि कोई मेरे से यह आकर कह दे कि भगवान् राम की कृपा से पत्थर पर कमल खिल गया तो मैं उसे त्रिकाल में परम सत्य मानता हूँ।'' राम की कृपा से क्या नहीं हो सकता?—

**श्री रघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान ।**

यदि पत्थर तैर सकते हैं समुद्र में, पुल बाँध सकते हैं लंका तक के लिए तो पत्थर पर कमल खिल जाए, कौन से बड़े आश्चर्य की बात है? यह मैं बता रहा था कि महापुरुषों के जीवन में जो विचित्र घटनाएँ सुनने को, पढ़ने को मिलती हैं, उनका केवल एकमात्र कारण है उनकी साधना। वह शक्ति हम सब में है, उसको उन्होंने पहले संचय किया फिर इच्छानुसार उसका प्रयोग किया। हम लोग अज्ञानता में उसको व्यय करते जा रहे हैं। उसको प्राप्त करने, सम्भालने तथा रुचि अनुसार उसका प्रयोग करने की कला ही मालूम नहीं है। इसी का नाम तो साधन है। इसी का नाम तो संयम है। संयम का यही अर्थ है—

**त्रयमेकत्र संयमः ।** *—योगसूत्र ३/४*

यह जो बात यहाँ पर कही है—

**यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति।**

जो एकान्त स्थान का सेवन करता है, जो लोक के बन्धनों को तोड़ देता है, लोक के बन्धन भक्ति में महान् बाधक हैं। किसी भी महापुरुष को आप देखें, वह लोक के बन्धनों को तोड़ते हुए दिखाई देगा, जोड़ता हुआ नहीं दिखाई देगा। संसार के

बन्धनों को तोड़ने से ही आप भगवान् की तरफ आगे बढ़ सकते हैं। यदि उसमें बँधे रहे तो कहाँ बढ़ोगे? संसार का बन्धन किसमें है? आसक्ति में, सम्बन्ध में। मनुष्य की यह बहुत बड़ी कमजोरी है, जिसे छिपाने के लिए वह कर्त्तव्य की आड़ लेता है, समाज की आड़ लेता है, धर्म की आड़ लेता है। हम यदि ऐसा नहीं करेंगे तो दुनिया का क्या बनेगा? हम यदि ऐसा नहीं करते तो हमारा धर्म नष्ट होता है। यह करना भी तो हमारा कर्त्तव्य है, ये सब कमजोरी को छिपाने के तरीके हैं। लोक बन्धन किसी को प्रिय नहीं है। बन्धन का अभिप्राय क्या? संसार में बन्धना। इसी बात को लेकर भगवान् ने कहा है—

**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**

*—गीता १८/६६*

इसका अभिप्राय यह नहीं कि कल से संसार छोड़ कर चले जाना है बल्कि संसार में रहते हुए भी संसार में नहीं रहना। एक बात शायद पहले भी आप लोगों को समझाया हूँ कि नाव की शोभा जमीन पर नहीं है पानी में है। नाव यदि पानी में है तो अनेकों को पार कर सकती है। यदि नाव में पानी आ जाए तो वह नाव तथा उसमें बैठे हुओं को ले डूबेगा। संसार में तुम रहो लेकिन तुम्हारे में संसार न आ जाए। यह तो तुम्हारे बस की बात है न। तुम देख सकते हो कि तुम्हारे में कितनी मात्रा में संसार आया है। तुम्हें खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते यदि पैसा और काम दिखाई दे रहा है, फिर कर्त्तव्य कहाँ रहा? इसे कर्त्तव्य नहीं कहते। कर्त्तव्य माने जिसको करने के बाद करने का अहं ही न रहे। जिसके करने के बाद करने का कर्त्तव्य अभी बना हुआ है तो कर्त्तव्य कहाँ रहा? वह तो आसक्ति हो गई। कर्त्तव्य और कर्म में बड़ा अन्तर होता है। कर्त्तव्य कर्म को गीता में कार्य कर्म कहते हैं इसलिए जो लौकिक बन्धनों को तोड़ देता है वह सारे संसार से केवल भगवान् के नाते सम्बन्ध रखता है। लक्ष्मण को समझाते हुए भगवान् ने स्वयं कहा है—

**गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥**
**मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥**
**काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥**

*—रा० ३/१६-१० से १२*

**बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।**
**तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥**

*—रा० ३/१६*

इस प्रकार जिसकी स्थिति हो गई है उसने अपने लोक बन्धनों को तोड़ दिया है। 'निस्त्रैगुण्यो भवति' वह तीन गुणों से ऊपर हो जाता है क्योंकि भगवान् का यही आदेश है—

**त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।**

''हे अर्जुन! ये वेद जो हैं, ये तीनों को विषय करने वाले हैं। वेद जो भी बात कहते हैं, वह तीनों गुणों के अन्दर ही होती है लेकिन तुम्हारे जीवन का लक्ष्य तीनों गुणों में वर्तना नहीं है बल्कि तीनों गुणों से परे जाना है क्योंकि सतोगुण भी बाँधता है, रजोगुण भी बाँधता है और तमोगुण भी बाँधता है।'' बाँधते तीनों गुण हैं—

**पाप पुण्य दोऊ एक है, लोह सोने की बेड़ी।**

कहा—पाप-पुण्य में कोई अधिक अन्तर नहीं है। दोनों ही बन्धन-कारक हैं। एक लोहे की बेड़ी है दूसरी सोने की। पाप दुःख में बाँधेगा और पुण्य सुख में बाँधेगा। वैदिक धर्म आपको पुण्य की साधना बताता है। भगवान् कहते हैं—''हे अर्जुन! तू तीनों गुणों से परे हो जा इसलिए वेद का परित्याग कर दे। निर्द्वन्द हो जा।'' दुःख-सुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, ये द्वन्द्व हैं। इन द्वन्द्वों से परे जो अपनी आत्मा में स्थिर रहता है, उसके योग-क्षेम की चिन्ता भगवान् करते हैं। यह याद रखो योग और क्षेम दोनों भगवान् के हाथ में हैं।

**निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।**

*—गीता २/४५*

तुम आत्मवान् बन जाओ, आत्मा में रमण करने वाले बन जाओ, योग-क्षेम से रहित हो जाओ तथा चिन्ता रहित हो जाओ। यही बात इसमें कही है।

**निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति ॥**

*—ना० भ० सू० ४७*

जो बात गीता के उस श्लोक में है वही बात इस सूत्र में है। यहाँ पर भगवान् समझा रहे हैं कि जो विविक्त स्थान का सेवन करता है, जो लोक-बन्धनों का पूर्ण रूप से उन्मूलन कर देता है, जो तीनों गुणों से परे चला जाता है, वही प्रभु के साथ एक हो पाता है। यही गीता के साधन का सार है। आगे कहा है—

**यः कर्मफलं त्यजति ।**

*—ना० भ० सू० ४८*

कर्म फल के त्याग की बहुत महिमा है। गीता के १२वें अध्याय में भगवान् ने कहा है कि 'श्रेयो ही ज्ञानमभ्यासात्।' ''अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है।'' अभ्यास किसे कहते हैं? बार-२ अपने चित्त को आत्म स्वरूप में लगाने का जो क्रम है, उसे

अभ्यास कहते हैं। ऐसे अभ्यास की बजाए ज्ञान श्रेष्ठ है। अभ्यास से बेहतर है कि चित्त और चेतन का तुम अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर लो। ज्ञान प्राप्त होने पर चित्त अपने आप लगेगा क्योंकि असत्य से अरुचि हो जाएगी, सत् में अपने आप निष्ठा हो जाएगी। जब तक असत्य से अरुचि नहीं होती तब तक सत्य में निष्ठा भी नहीं होती। ये दोनों बातें सापेक्ष हैं। भगवान् कहते हैं कि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है और ज्ञान से—

**श्रेयो ही ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।**

ध्यान श्रेष्ठ है। ध्यान माने ध्येय का चिन्तन। चित्त आत्म स्वरूप चेतन में नहीं लगता तो भगवान् में तो लगेगा, इसलिए ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है।

**ध्यानात्कर्मफलत्यागास्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥**

*—गीता १२/१२*

भगवान् कहते हैं कि उस ध्यान से भी अधिक है कर्म फल का त्याग क्योंकि त्याग के पश्चात् तुरन्त शान्ति मिल जाती है। जागृत अवस्था में हम पूर्ण त्याग कर नहीं पाते इसलिए शान्ति नहीं मिलती। जब स्वप्न में जागते हैं तब भी पूरा त्याग नहीं होता, वहाँ भी मन दौड़ता ही रहता है। स्वप्नावस्था में भी शान्ति नहीं मिलती तो प्रकृति माँ कहती है, "अरे मेरे बच्चों, तुमसे शान्ति की तलाश पूरी नहीं होगी। आओ मैं तुम्हें शान्त कर दूँ।" वह खींच कर घोर निद्रा में डाल देती है। यह तो उसका नमूना है। जैसे आप सुषुप्ति अवस्था में चले जाते हो तो सब कुछ छूट जाता है ऐसे ही जब जागृत सुषुप्ति हो जाए अर्थात् जागृत अवस्था में ऐसी स्थिति आ जाए तो उसे समाधि कहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में अहं तम में लय होता है इसलिए वह निद्रा है। जागृत अवस्था में अहं प्रकाश में लय होता है इसलिए उसे समाधि कहते हैं। इसमें भी अपना अलग अस्तित्त्व नहीं रहता, यहाँ भी कल्पनाएँ नहीं रहती, यहाँ भी द्वैत नहीं रहता, यहाँ भी संसार नहीं रहता बल्कि परम प्रकाश रहता है, परम चैतन्य रहता है, चैतन्यघन रहता है। ऐसी समाधि की अवस्था को प्राप्त करने के लिए सर्वत्याग ही एक मात्र साधन है, इसलिए बताया है— 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।' त्याग के अनन्तर शान्ति है। त्याग ही सबसे श्रेष्ठ साधन है। यहाँ पर यही बात कह रहे हैं—'यः कर्म फलं त्यजति।' जो बात भगवान् गीता में समझा रहे हैं वही बात इसमें समझाई है। जो कर्म के फल के लिए लालायित नहीं रहता वही संसार-सागर से पार हो जाता है। कहा—"कर्मफल यदि त्यागना हो तो कर्म ही क्यों करें?" कहा—नहीं करने से न करने का

अहंकार अधिक होता है। गीता में कर्म विज्ञान की चतुस्सूत्री है—

**कर्मण्येवाधिकारस्ते — प्रथम सूत्र**
**मा फलेषु कदाचन — द्वितीय सूत्र**
**मा कर्मफलहेतुर्भूः — तृतीय सूत्र**
**मा सङ्गोऽस्त्वकर्मणि — चतुर्थ सूत्र**

अकर्मण्यता में तुम्हारी आसक्ति न हो जाए कहीं, प्रमादी न बन जाओ कहीं। प्रमाद से दूर रहने के लिए कर्म करना जरूरी है। बन्धन से दूर रहने के लिए उसके फल का त्याग करना जरूरी है। कर्म न करने से प्रमाद बढ़ेगा, तमोगुण बढ़ेगा, अहं तृप्ति बढ़ेगी। मैं कर्म नहीं करता, इससे भी एक प्रकार से कर्म पुष्ट होता रहेगा, अहंकार पुष्ट होता रहेगा इसलिए कर्म करते हुए कर्मफल का त्याग कर दे। इसका भी अहंकार हो सकता है कि हमने कर्म-फल का त्याग कर दिया है। कर्म के त्याग में तथा कर्म के फल त्याग में अन्तर क्या हुआ? अन्तर बहुत है। कर्म के त्याग में किसी को लाभ नहीं, कर्म के फल के त्याग में तो लाभ है। कर्म आपने किया उसका फल तो हुआ और फल का जब आपने त्याग किया तो वह फल किसी को तो मिलना ही है। आपने उसमें जो अहं है, उसका त्याग किया है।

कभी-२ सोचता हूँ कि मैं जो बाते कहता हूँ,ये स्वाभाविक सीधी सी बातें हैं। क्या सिखानी हैं? लोग क्यों नहीं समझ पाते? कोई व्यक्ति ऐसा बता दो जो काम करता है और उसका परिणाम स्वयं भोगता है? दुनिया में कोई व्यक्ति नहीं है जिसके कर्म का कोई परिणाम न हो? क्या उस काम के फल को आप भोग रहे हैं? उस काम के फल को पता नहीं कितने भोग रहे होंगे। उसके बदले में आपको तो पारिश्रमिक ही मिल रहा है न! जैसे एक माँ ने सौ रोटियाँ बनाई, वह सौ रोटियाँ तो नहीं खाएगी? दो खा लेगी या तीन खा लेगी। यह स्थिति सभी की है। आप स्कूल में जाते हैं, बच्चों को पढ़ाते हैं, उस पढ़ाने का ज्ञान तो आपको मिलता है। कोई भी कर्म आप अकेले नहीं कर सकते। किसी भी कर्म को करने के लिए आपको इन्सट्रूमैन्ट की जरूरत है क्या? हाँ है, वह इन्सट्रूमैन्ट आप बनाते हैं क्या? आपके एक काम में कितने लोग सहयोगी हैं, ज़रा सोचो? हम यहाँ पर ज्ञान दे रहे हैं और इस पुस्तक का प्रयोग कर रहे हैं। इस पुस्तक के छपने में कितनों का सहयोग है, आप को मालूम है क्या? कागज़ के लिए मैटिरीयल इकट्ठा करना, उसकी व्यवस्था करना, उसको पेपर रूप में परिणत करना, उसे मिल से बाहर ले जाना और हम-आप तक पहुँचाना, कागज़ की इस लम्बी कहानी में कितने ही सहयोगी होंगे। ऐसे ही कागज़ के बाद स्याही की कथा है। कितने व्यक्तियों के

सहयोग से आपको स्याही मिली है? कागज़ तैयार करने वाली मशीन को तैयार करने में कितने व्यक्तियों का सहयोग रहा है? उस मशीन को बनाने में जिस लोहे का प्रयोग होता है, उस लोहे को स्टील रूप में परिणत करने में कितने लोगों का सहयोग रहा है? जब तुम कागज़ का टुकड़ा प्रयोग करते हो तो यह तुम्हें पता है कि तुम्हारे एक हस्ताक्षर करने के लिए कितने लोगों का परिश्रम तुम्हारे साथ है? कभी सोचा? कभी नहीं सोचा। इतने बड़े समाज का सहयोग तुम्हारे पास है। कलम तुम लेते हो, उसे ही देखो। जिस विद्यालय में तुम पढ़ते हो, उसके एक-एक ईंट के टुकड़े से लेकर के ज़रा कल्पना करो कि सारा विश्व आपके कर्म के साथ जुड़ा हुआ है या नहीं? कर्म क्या किया है? हस्ताक्षर कर दिया एक कागज़ के ऊपर। कल्पना करो कि बिना समाज के सहयोग के कर्म कर सकते हो तुम? बड़ा अहंकार है। अरे क्या है, दो पैसे का कागज़ ही तो है, चार पैसे का कलम ही तो है लेकिन जो दो पैसे चार पैसे तूने दिया है, इससे न कागज़ बना न कलम बनी। कलम और कागज़ बनने में हज़ारों लोगों का श्रम लगा हुआ है जो तुम्हारे दो पैसों से पूरा नहीं हो सकता। इसको कहते हैं विराट् का दर्शन।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विराट् का स्वरूप दिखाया तो इसका अभिप्राय क्या? उसको कहा कि मैं तुम्हें ऐसी दृष्टि देता हूँ जिससे तू विराट् का दर्शन करेगा। विराट् तो अब भी है, कहीं चला तो नहीं गया। विराट् तो कोई ऐसी वस्तु है नहीं कि भगवान् ने उसे मंजूषा से निकाल कर खड़ा कर दिया और फिर उसे बन्द कर दिया पिटारी में। अरे, उस विराट् को देखने के लिए दृष्टि चाहिए। अभी देखो, कलम और कागज़ में आपको विराट् स्वरूप दिखा दिया कि नहीं? कहाँ तक पहुँच गई आपकी दृष्टि। ऐसे ही हरेक काम जो आप कर रहे हो वह उस विराट् से सम्बन्धित है। कोई भी क्रिया करने में न तो आप स्वतन्त्र हैं न किसी भी क्रिया का आप अकेले फल भोगने वाले हैं। आप इस विराट् मशीन के पुर्जे हैं, विराट् के अंश हैं। आप और कुछ नहीं हैं। यदि इसकी अनुभूति हो तो क्या आपको कर्म-फल में कही आसक्ति होगी? नहीं होगी। आप जानेंगे कि कर्म तो मैंने किया नहीं।

भारत में एक मुसलमान संत हुए हैं रहीम खानखाना। वे अवध के नवाब थे। उनके यहाँ दान प्रातः से सायंकाल तक दिया जाता था। रहीम खानखाना ने अपनी सारी सम्पत्ति महात्माओं को दान में दे दी। उसके बदले में उन्हें अवध प्रान्त से ही निकाल दिया गया। देश निकाला मिल गया था उन्हें। रहीम खानखाना जब दान देते थे तो उनका सिर लज्जा से झुक जाता था। एक कवि आया दान लेने

के लिए, जब उसको उसी प्रकार दान देने लगे तो उससे नहीं रहा गया। उसने पूछ लिया उनसे—

**सीखी कहाँ नवाब यह ऐसी अद्‌भुत देन।**
**ज्यों ज्यों कर ऊँचे उठे त्यों त्यों नीचे नैन॥**

"अरे नवाब! तू तो नवाब है। नवाब तो बड़े अधिकारी होते हैं। तुमने नवाब होकर ऐसी अद्‌भुत देन कहाँ से सीख ली? जैसे-२ तुम्हारे हाथ ऊपर उठते हैं देने के लिए वैसे-२ तुम्हारे नयन नीचे हो जाते हैं, क्या बात है?" रहीम खानखाना ने उत्तर दिया—

**देनहार कोउ और है देत रहत दिन रैन ।**
**लोग भरम मुझ पै करैं याते नीचे नैन ॥**

"देने वाला तो कोई और है, वह रातों-दिन देता रहता है, लोग सोचते हैं कि रहीम दे रहा है इसलिए शर्म के मारे सिर नीचे हो जाता है। देने वाला कोई और है रहीम तो बीच का माध्यम है।"

यह मैं आप लोगों को बता रहा था कि जिसने इस सत्य का अनुभव कर लिया, उसकी कर्म में आसक्ति कहाँ होगी? कर्म फल में आसक्ति कहाँ होगी? ये दोनों ही अपने आप निकल जाएँगे इसलिए बन्धन के लिए गुंजाइश नहीं है। यहाँ पर नारद जी कहते हैं—'यः कर्मफलं त्यजति।' जो कर्म फल का त्याग कर देता है और कर्मों का भी त्याग कर देता है फिर—'ततो निर्द्वन्द्वो भवति।' निर्द्वन्द्व हो जाता है। सब प्रकार के द्वन्द्वों से विमुक्त हो जाता है।

**द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।**
**एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षीभूतम्।**
**भावातीतं त्रिगुण रहितं सद्‌गुरुं तं नमामि।**

जो द्वन्द्वातीत हो जाता है, द्वन्द्वों से परे हो जाता है, उस पर सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण का कोई प्रभाव नहीं होता। भगवान् ने कहा—

**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।**
**ततो युद्धाय युध्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥**

*—गीता २/३८*

युद्ध करने से पाप नहीं होगा। कौन सा युद्ध करने से पाप नहीं होगा? कैसा युद्ध करने से पाप नहीं होगा? जहाँ जय-पराजय, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ—ये छः द्वन्द्व जब चले जाएँ तब तुम युद्ध में लग जाओ, इससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा। यह उपदेश सबके लिए है। केवल अर्जुन ही युद्ध क्षेत्र में नहीं लड़ रहा था, अपन सब

युद्ध क्षेत्र में हैं। रोज़ युद्ध हो रहा है। युद्ध और प्यार जीवन के दो पहलू हैं। ये दोनों नित्य हैं, जीवन के शाश्वत सत्य हैं। जब से जीवन है तब से युद्ध और प्यार शुरु हुए हैं और जब तक जीवन रहेगा तब तक युद्ध और प्यार रहेगा। दुनिया की कोई ताकत इसे बन्द नहीं कर सकती। सृष्टि का आधार यही है। तुम केवल प्यार के गीत गाओ या दूसरा युद्ध की तैयारी करता रहे, ये दोनों ही एकांगी हैं, दोनों ही अधूरे हैं। जीवन की सत्यता यह है कि ये दोनों ही जीवन के अंग हैं। हमारे जीवन में जहाँ पर वृद्धिगत जीवाणु हैं, जो मल्टीप्लाई करते रहते हैं, वहीं पर शरीर में जीवाणुओं की एक फौज है जो बाह्य जीवाणुओं से सदा संघर्षरत रहते हैं। जिस दिन वे कमज़ोर पड़ जाते हैं उसी दिन हम बीमार पड़ जाते हैं, अनेक प्रकार के रोग दबा लेते हैं क्योंकि उसकी शक्ति कम पड़ जाती है। दवा के द्वारा क्या होता है ? आयुर्वेद कहता है कि उन्हीं जीवाणुओं को तुम शक्ति प्रदान करते हो। वे पुनः प्रबल होकर उस शक्ति के द्वारा फिर लड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं और विजय प्राप्त कर लेते हैं। औषधि के द्वारा दो कार्य होते हैं—अक्रामक तत्त्वों या जीवाणुओं को निर्बल बनाना तथा रक्षक जीवाणुओं को शक्ति प्रदान करना। जिस औषधि में दोनों गुण नहीं है वह औषधि अधूरी है। आयुर्वेद में दवा के दो गुण बताए गए हैं—रोग के जीवाणुओं को निर्बल बनाना, शरीरगत जीवाणुओं को शक्ति प्रदान करना। जीवन की रक्षा के लिए युद्धरत जीवाणु जिम्मेदार हैं, जीवन की वृद्धि में प्यार के जीवाणु जिम्मेदार हैं। दो क्रियाएँ हैं—वृद्धि और संरक्षण। संरक्षण के लिए युद्धरत जीवाणु जिम्मेदार हैं। वृद्धि में मल्टीप्लाई करने वाले जीवाणु जिम्मेदार हैं। वृद्धि हमेशा प्रेममय तत्त्व से होती है तथा संरक्षण युद्ध से होता है। ये दोनों शाश्वत हैं, इन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कहा—'ततो निर्द्वन्द्वो भवति।' जब तक जगत् के सुख-सुविधा की चाह है तब तक द्वन्द्व में ही रहेगा लेकिन अब वह निर्द्वन्द्व हो गया है, अब वह आत्मा में पहुँच गया है, अब वह परमात्मा में स्थित हो गया है इसलिए जगत् का सारा प्रपञ्च समाप्त हो गया है। अब उसे मृत्यु का भी भय नहीं रहा। कबीर जी कहते हैं—

**या मरने से जगा डरे सो सुनी मोहि आनन्द।**
**कब मरिहहुँ कब पाइहहुँ पूरन परमानन्द॥**

''मैं तो प्रीतम की प्रतीक्षा में बैठा हुआ हूँ कि कब इस शरीर रूपी पिंजरे से निकलूँ और कब पहुँचु उसके पास।'' सब तो ऐसे नहीं कहते। मैं आपको बता रहा था—

**यः कर्मफल त्यजति, कर्माण्यपि संन्यस्यति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति॥**

—ना०भ०सू० ४८

जो पहले कर्मफल का त्याग कर देता है, बाद में कर्मों का भी त्याग कर देता है, वह द्वन्द्व रहित हो जाता है। जो वैदिक विधि-विधान से ऊपर उठ गया है, उसके लिए न विधि रहा न निषेध रहा।

**वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥**

— ना० भ० सू० ४९

यह सीढ़ी है। एक छलांग में अविछिन्न अनुराग नहीं प्राप्त कर सकते। अविछिन्न अनुराग की यात्रा कहाँ से शुरु हुई थी?

**यः सङ्गांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति।**
**यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति,**
**निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति॥**
**यः कर्मफलं त्यजति, कर्माण्यिपि संन्यस्यति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति॥**
**वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते॥**

— ना० भ० सू० ४६, ४७, ४८, ४९

ये ग्यारह सीढ़ियाँ हैं तब कहीं बारहवीं में जाकर 'अविछिन्नानुरागं लभते' अर्थात् केवल एक निरन्तर तैलधारावत प्रभु के साथ अद्वैतानुभूति होती है। इसी के लिए नारद जी कहते हैं—

**स तरति, स तरति, स लोकांस्तारयति॥**

— ना० भ० सू० ५०

वह केवल स्वयं ही नहीं तरता लोकों को भी तार देता है। दुनिया भर की सम्पत्ति देकर एक दुखिया के दुःख को दूर नहीं किया जा सकता। जिसके पास केवल एक पुत्र रहा हो और उसकी मृत्यु हो जाए, दुनिया भर की सन्तानें लाकर उसकी गोद में डाल दो, उसे शान्ति मिलेगी? नहीं मिलेगी। ज्ञान तथा भक्ति में इतनी शक्ति है कि वह ऐसे एक नहीं अनन्त दुखियों के दुःख को एक क्षण में दूर कर दे। घोर शोक से भी व्यक्ति तर जाता है, कैसे? कहा—

**तरति शोकमात्मवित् ।**

आत्मज्ञान के द्वारा। तत्त्वज्ञान के द्वारा महान् से महान् विपत्ति को वह हँसते-हँसते पार कर जाता है। रामायण में कथा आती है—बालि मर गया, तारा विलाप कर रही है। भगवान् ने—

**दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया ।**

तुरन्त ज्ञान का प्रकाश किया। वह तारा जो बालि के लिए रो रही थी उसने—

**लीन्हेसि परम भगति बर मागी।**

—रा० ३/११-६

भगवान् के चरणों में समर्पित होकर परम भक्ति का वर माँग लिया। ऐसे अनेकों उदाहरण हमें मिलते हैं कि घोर से घोर विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति की सारी विपत्ति मात्र ज्ञान की किरण से दूर हो जाती है। दुनिया में शान्ति का साधन क्या है? त्याग—'त्यागच्छान्तिरनन्तरम्।' यह त्याग की स्थिति कैसे आएगी? ज्ञान से आएगी। इसलिए—

**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधगच्छति॥**

भगवान् कहते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। इससे बड़ा दान और क्या हो सकता है? जिसने साधना करके अपने जीवन को भी तृप्त किया है और दुखियों का अपने ज्ञान के द्वारा आत्म बल प्रदान कर रहा है, उससे बड़ा दानी, उससे बड़ा सेवक, उससे बड़ा कल्याणकर्ता, उससे बड़ा दुनिया का हितचिंतक क्या कभी कोई हो सकता है? तुम कहते हो कि दुनिया की सेवा करो। क्या सेवा कर सकते हो तुम? कितनी रोटियाँ बना कर खिला सकते हो तुम, कितने वस्त्र बना कर दुनिया के नंगों को पहना सकते हो? कितने रोगियों की सेवा करके रोगमुक्त कर सकते हो तुम? एक की भी नहीं। एक भी भूखे की भूख को तुम नहीं मिटा सकते। हज़ारों की भूख मिटाना तो तुम्हारे बस की बात नहीं। जब से जवानी आई, शादी हुई, स्त्री ब्याह कर ले आए, जन्म भर उसके लिए सब कुछ करते रहे, उसका दुःख मिट गया? उसका शोक मिटा सके? उसका रोग मिटा सके? उसको तृप्त कर सके? यदि तुम एक की सेवा नहीं कर सकते तो दुनिया की सेवा तुम खाक करोगे? आप एक नहीं अनेकों को तृप्त कर सकते हो, उसके लिए यह रास्ता नहीं है। उसके लिए रास्ता है—

**स तरति, स तरति, स लोकांस्तारयति॥**

वह स्वयं भी दुःख से तर जाता है और लोकों को भी दुःख से तार देता है—केवल प्रेम के बल पर, भक्ति के बल पर और ज्ञान के बल पर। कुछ लोग कहते हैं कि जो लोग एकान्त में बैठे भक्ति कर रहे हैं, उससे दुनिया को कौन-सा लाभ हो रहा है? पूछो—''यदि वे दुनिया को लाभ नहीं दे रहे तो तुम दुनिया को कौन सा लाभ दे रहे हो? समाज में रोज गन्दगी बढ़ाने के सिवा और क्या कर रहे हो? वो जो लाभ दे रहे हैं, वह तो तुम सात जन्मों में दुनिया को नहीं दे सकते। किसी के मन में सात्त्विक संस्कार भरना कोई छोटा सा लाभ है? अपने दिव्य परमाणुओं के द्वारा, सात्त्विक वाईबरेशन के द्वारा वे कितने दूर तक के वातावरण को प्रभावित

कर सकते हैं। अब तो इन बातों को विज्ञान समझाने लगा है। प्रत्येक व्यक्ति से जो वाईबरेशन निकलती हैं, वे ज्यादा प्रभावशाली होती हैं, वही काम करती हैं।'' वाईबरेशन कैसा होगा? जैसा व्यक्तित्व होगा। यदि आपका व्यक्तित्व विशुद्ध है, पुष्ट है, प्रबल है, विल-पॉवर से युक्त है तो आपका वाईबरेशन यहाँ से हज़ारों मील दूर तक जा सकता है। यही नहीं कि जो हिमालय की गुफा या चोटी पर बैठे हैं, वे हिमालय को ही वाईबरेट कर रहे हैं, उनका वाईबरेशन विश्व के किसी भी कोने तक पहुँच सकता है। उनके वाईबरेशन की गति बड़ी तीव्र है क्योंकि मन की गति वाईबरेशन की गति होती है। यदि एक सैकेण्ड में १८६००० मील विद्युत की गति है तो मन उससे भी ज्यादा गतिमान है। उनके वाईबरेशन विद्युत की गति से नहीं चलते। यदि वो संकल्पहीन बैठे हैं तब तो उनका वाईबरेशन विद्युत की गति से बह रहा है क्योंकि वे उस स्तर पर हैं। तुम थोड़ी देर ध्यान में बैठकर देखलो कि तुम्हारी चेतना विद्युत के साथ एक हो जाती है कि नहीं? हो जाती है। तुम्हारे वाईबरेशन विद्युत के साथ चलने लगते हैं कि नहीं? चलने लगते हैं। यही स्थिति समाधिस्थ की होती है। वाईबरेशन तो मन से सम्बन्धित है। तुम तो एक मिन्ट शान्त होकर भी नहीं बैठ सकते। तुम्हारा मन तो इधर-उधर छलांग मारेगा, तुम्हारी विद्युत गति तो इधर-उधर चक्कर काटती रहेगी। वाईबरेशन तो मन से सम्बन्धित है। जैसी मन की स्थिति होगी वैसा वाईबरेट तुम करोगे। वे तो शान्त बैठे हुए हैं, वे तो संकल्पशून्य हैं इसलिए उनकी गति इस प्रकार से चल रही है। यदि उनमें संकल्प आ जाए फिर तो विद्युत की गति से अधिक तेजी से विश्व के किसी भी छोर में, पृथ्वी के ही नहीं ब्रह्माण्ड के किसी भी छोर में अपने वाईबरेशन्स को भेज सकते हैं। ऐसे योगी भेजते रहते हैं, केवल कल्पना की बात नहीं है। यह अनुभूति की बात है। इसलिए मैं आप लोगों को बता रहा था कि ऐसे महापुरुष, **स तरति, स तरति, स लोकांस्तारयति।** स्वयं तो तरते हैं और लोकों को भी तार देते हैं। यह केवल मिथ्या स्तुति नहीं या अर्थवाद नहीं या फलस्तुति नहीं है, यथार्थ है। इन ग्यारह सीढ़ियों को याद रखो और उसमें से देखना कि आपने कौन सी सीढ़ी पर पाँव रखा है? अपन कुछ आगे बढ़े हैं या वहीं के वहीं हैं।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## १५

मेरी प्रिय आत्माओ!

आप लोग कई दिनों से देवर्षि नारद प्रणीत भक्ति सूत्र सुन रहे हैं। सामान्य स्तर से साधना में प्रवृत्त होकर धीरे-धीरे किस प्रकार से मनुष्य परमात्मा के अविछिन्न अनुराग को प्राप्त करता है, इसका विवेचन आप लोग कल सुन चुके हैं। देवर्षि का पहला प्रश्न है—

**कस्तरित कस्तरति मायाम्।**

माया से कौन तरता है? इसके उत्तर में उन्होंने साधन बताए हैं। जो आसक्ति का त्याग करता है, जो कुसङ्गति का त्याग करता है, जो महानुभावों का सङ्ग करता है, जो ममता रहित हो जाता है, जो एकान्त सेवन करता है, जो लोक बन्धनों का विनाश कर देता है, जो तीन गुणों से परे हो जाता है, योग-क्षेम का भी जो त्याग कर देता है, कर्म फलों का भी जो त्याग कर देता है, कर्म का भी त्याग कर देता है, निर्द्वन्द्व हो जाता है तथा वेद का भी जो त्याग कर देता है, वह परमात्मा की अखण्ड भक्ति, अखण्ड अनुराग, अखण्ड प्रेम प्राप्त कर लेता है। ऐसा व्यक्ति ही संसार के सागर से तरता है और दूसरों को भी तार देता है। इसमें एक क्रमबद्ध साधन की व्यवस्था समझाई गई है। महर्षि शाण्डिल्य का मत है कि जितने साधन बताए जाते हैं ईश्वर की प्रसन्नता के लिए उनमें से एक का भी अनुष्ठान यदि दृढ़ निष्ठा के साथ अपना लिया जाए तो बाकि साधन स्वयमेव आ जाते हैं क्योंकि सभी साधन एक दूसरे से नित्य सम्बन्ध रखते हैं। जैसे रानी मधुमक्खी के पीछे सभी मधुमक्खियाँ स्वयं चलती हैं ऐसे ही भगवत् भाव से सम्बन्धित एक गुण को भी यदि अपना लिया जाए तो अन्य सारे के सारे सद्‌गुण अपने आप आ जाएँगे। यहाँ पर संसार सागर से पार जाने के लिए भक्ति से श्रेष्ठ और कोई दूसरा तत्त्व नहीं

है। यह सिद्ध करते हुए देवर्षि नारद ने कहा है—

**वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते॥**

वेद का भी वह साधक त्याग कर देता है और परमात्मा के साथ अविछिन्न अनुराग प्राप्त कर लेता है। तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में लिखा है—

**रीझत राम स्नेह निसोते।**

जैसे झरना अखण्ड रूप में चलता है, ऐसे जब अखण्ड प्रेम का प्रवाह प्रभु की तरफ बहता है तो प्रभु रीझ जाते हैं। उसी बात को यहाँ देवर्षि नारद ने कहा है कि वह वेद का भी त्याग कर देता है और अविछिन्न अनुराग को प्राप्त कर लेता है। अब पूछा गया कि जिस अनुराग को वह प्राप्त कर लेता है, उसका स्वरूप क्या है? नारद जी ने कहा—

**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।**

इस प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। जिसका निर्वाचन न हो उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है। प्रेम का निर्वचन नहीं हो सकता, प्रेम की कोई विधि नहीं है, प्रेम का कोई विधान नहीं है। प्रेम का यही विधान है कि उसमें कोई नियम काम नहीं करता। प्रेम में कोई बड़ा नहीं होता, कोई छोटा नहीं होता। वहाँ प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद का भेद नहीं रहता। यदि भेद रहेगा तो प्रेम नहीं होगा। एक प्रसंग आया है भक्ति शास्त्र में कि भगवान् कृष्ण की दोनों अत्यन्त प्रिय प्रेमिकाएँ राधा और रुक्मणी हैं। दोनों का अनन्य अनुराग कृष्ण में है, फिर दोनों में अन्तर क्या है? कहा—अन्तर बहुत है। रुक्मणी प्रेम करते हुए भी पत्नी है। उसमें पत्नी-पने का भाव है। राधिका विशुद्ध आह्लादिनी शक्ति है यानी प्रेम स्वरूपा है। वहाँ किसी प्रकार की स्वीकृति नहीं है, किसी प्रकार की मान्यता नहीं है तथा किसी प्रकार की कल्पना नहीं है।

इस विषय में एक बड़ी सुन्दर कथा है। भगवान् द्वारिका में थे। वे जब सो जाते थे तो सोने पर भी उनके मुख से श्रीराधे, हा राधे-यही निकलता था। भगवान् की १०८ पट् रानियाँ थीं। सभी अपने आप में बड़ी रूपवान सौन्दर्य की मूर्तियाँ थीं क्योंकि सभी महामाया के अंश से थीं। सभी पूर्ण समर्पिता, प्रतिपल प्रभु की आज्ञा का अनुकरण करने वाली, इच्छानुसार उनकी सेवा करने वाली थीं। इतने पर भी भगवान् को निद्रावस्था में-हा राधे, श्रीराधे कहते हुए सुन कर बड़ा दुःख होता था। आखिर राधिका में कौन सी ऐसी विशेषता थी जो हमारे में नहीं है जिसके कारण हम लोगों के होते हुए भी प्रभु हमेशा उन्हें याद करते हैं, यह कल्पना सदा उनके हृदय में बनी रहती थी। सबके अन्तर के जानने वाले प्रभु ने जब उनके इस

अन्तर भाव को देखा तो उन्होंने एक नाटक किया। एक दिन अचानक जोर से चीखते हुए प्रभु कलेजे पर हाथ रख कर पड़ गए। "क्या हुआ-क्या हुआ, प्रभो?" बहुत कष्टदायक दर्द हो रहा है, भगवान् ने कहा। पूरा रनिवास प्रभु के अगल-बगल बैठा हुआ है। इस दर्द से छुटकारा कैसे हो सकता है, प्रभो? कोई वैद्य, कोई दवा, कोई उपाय, प्रभो? बोले-इसका कोई उपाय नहीं, यह तो हमें कभी-कभी व्रज में भी हो जाया करता था। व्रज में जब होता था तो ठीक कैसे होता था? कोई उपचार इसका? कहा-उपचार इसका केवल एक ही है-कोई प्रेमी यदि अपने चरण की धूल हमें दे दे तो ठीक हो जाऊँगा। यह कह भगवान् पुनः कराहने लगे। इतने में महात्मा नारद आ गए। देवर्षि नारद ने देखा प्रभु तड़प रहे हैं, क्या हुआ? सभी देवियाँ खड़ी हैं, प्रभु की इस असह्य पीड़ा को देख रही हैं। भगवान् बड़ी कुशलता से अपनी लीला को कर रहे हैं। देवर्षि नारद ने पूछा, "भगवन्! इसका कोई उपाय?" उन्होंने कहा, उपाय तो मैंने इसका बता दिया है। इसका केवल एक ही उपाय है कि यदि कोई प्रेमी अपने चरण की धूली हमें दे दे तो यह दर्द ठीक हो सकती है। भगवन्! भला कौन ऐसा निकृष्ट प्रेमी होगा जो अपने चरण की धूली आपको खिला कर सदा के लिए नरक में निवास करेगा? प्रभु ने कहा—नारद! तुम जल्दी से जल्दी व्रज में चले जाओ, हमारी औषधि तुम्हें वहीं मिलेगी। नारद जी वहाँ से चलते हैं, इच्छाशक्ति अनुसार व्रज पहुँचते हैं, यमुना के किनारे निकुंज में श्रीराधिका जी बैठी हैं। उनके अगल-बगल चारों तरफ गोपिकाएँ बैठी हैं। नारद को देखते ही दौड़ करके वे पहुँच गयी—"मुनिवर! आप कहाँ से आ रहे हैं?" कहा—मैं द्वारिका से आ रहा हूँ। द्वारिका से? फिर तो आप मेरे प्राणवल्लभ से मिले होंगे? कहिए मेरे प्राणवल्लभ कुशल तो हैं? नारद जी ने कहा—देवियो! इस समय वे बड़े कष्ट में हैं। क्या कष्ट है उन्हें? कहा, कष्ट यह है कि उनके कलेजे में दर्द हो रहा है। उसके लिए क्या चाहिए? कैसे ठीक हो सकता है? उन्होंने कहा—केवल इसका वे एक ही उपचार बता रहे हैं कि यदि कोई प्रेमी अपने चरण का धूली दे दे तो वे स्वस्थ हो सकते हैं। इतना सुनना ही था, केवल राधिका ही नहीं समस्त गोपियाँ अपने पाँव से धूली झाड़-झाड़ कर लपेट-लपेट करके देने लगीं। नारद जी तो तमाशा देखने लगे कि यह क्या? उन्होंने धूलि की पोटली बाँध दी, कहा-यह ले जाओ। उन्होंने पूछा क्या द्वारिका में कोई ऐसा है ही नहीं, फिर वहाँ प्रभु क्यों पड़े हुए हैं? अरे जहाँ पर उनके दर्द को ठीक करने के लिए अपने चरण की धूलि भी नहीं दे सकता, वहाँ पर उनके रहने का प्रयोजन क्या है? नारद जी ने कहा-देवियो! तुम

लोगों को पता नहीं है कि कृष्ण साक्षात् विष्णु के अवतार हैं? कहा—पता है। जानती हो कि श्रीमन नारायण को तुम अपने पाँव की धूलि खिला करके किस नरक में जाओगी? राधिका जी ने मुस्कराते हुए कहा, नारद जी आप बड़े भोले हो। हमारे जीवन का लक्ष्य नरक-स्वर्ग नहीं है, मुक्ति नहीं है, हमारे जीवन का लक्ष्य प्रियतम की प्रसन्नता है। हमारे प्रियतम प्रसन्न रहें, स्वस्थ रहें, हमें करोड़ों वर्षों तक नरक में वास करना पड़े, कोई चिन्ता नहीं है। जब यह देखा तो नारद को भगवान् का ध्यान आया और धूलि उठा कर चल दिए, जाकर भगवान् को दी। भगवान् ने लेकर रज मुँह में डाल ली। नारद हैरान हो गए। भगवान् ने अपनी पटरानियों से कहा—देवियो! तुम लोगों को जिन गोपियों का, जिस राधिका का नाम सुनकर पीड़ा होती है, जलन होती है, उन्होंने नरक जाने की परवाह न करते हुए भी मेरी स्वस्थता, प्रसन्नता के लिए अपनी चरण धूलि दे दी और तुम लोग भी यहीं खड़ी थीं, मेरी उस व्यथा को देख रही थीं, तुम लोगों ने चरण धूलि इसलिए नहीं दी कि इसके बदले में तुम्हें नरक जाना पड़ेगा।

नारद जी ने कहा—हाँ भगवन्! भगवान् ने कहा, नारद जी! तुम भी तो मेरे भक्त थे, तुम भी तो एक प्रेमी थे। मेरी उस तड़प को तुम भी देखते रहे। तुम्हारे को भी यह ध्यान नहीं आया कि तुम ही अपने पाँव की धूलि दे देते मुझे। भला, तुम बताओ कि उन व्रज बालाओं के सिवा और कोई मेरा इतना प्रिय हो सकता है जिनको मेरे लिए नरक जाने, स्वर्ग जाने तथा अपवर्ग जाने की चिन्ता नहीं है। मेरा कहने का अभिप्राय कि प्रभु के इस चरित्र से हमें एक दिशा मिलती है कि प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है क्योंकि वहाँ कोई विधान नहीं—

**परम नेम यह प्रेम का सभी नेम मिट जाएँ।**

भक्त कहता है कि प्रेम का सबसे श्रेष्ठ नियम यह है कि उसमें कोई नियम नहीं रहता, सभी नियम मिट जाते हैं। एक दिन कहानी सुनाया था बुल्ले शाह की कि प्रेम में कोई माप-तोल नहीं होता। वहाँ कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है जिसके माध्यम से प्रेम के स्वरूप की व्याख्या की जा सके। प्रेमी क्या कर सकता है अपने प्रेमास्पद के लिए, इसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। श्रीमद्भागवत में एक बड़ा सुन्दर प्रसंग है जिस समय परमहंस अवधूत शिरोमणि श्री शुकदेव जी आत्मविभोर हो गोपियों के दिव्य प्रेम का वर्णन कर रहे थे और निमग्न थे उसी में, उन्हें तो यह होश भी नहीं था कि वे किसको कथा सुना रहे हैं और कौन बैठा सुन रहा है, उसी बीच परीक्षित ने प्रश्न कर दिया। कहा—"भगवन्! एक मेरे को शंका है।" बोले-क्या? कहा—कृष्ण तो परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं। धर्म की संस्थापना

के लिए उन्होंने अवतार लिया है। पराये पुरुष की पत्नियाँ उनके साथ इस प्रकार से प्रेम करती हैं, क्या इसमें कोई पाप नहीं होता? वो तो अपने दिव्य प्रेम की व्याख्या कर रहे थे परमहंस की स्थिति में। उनको क्या पता था कि श्रोता हमारा अभी शरीर के नाते देख रहा है, अभी शरीर से ऊपर उठा ही नहीं। उन्होंने कहा— ओह, गलती हो गई तुम इसके पात्र नहीं हो। उन्होंने यह कह कर उस प्रसंग को वहीं समाप्त कर दिया। परीक्षित! कृष्ण परमात्मा है, परमात्मा ही सबकी आत्मा है। उसको कोई पति माने, कोई पुत्र माने, कोई पिता माने, कोई भाई माने, कोई मित्र माने यानी दुनिया में जितने प्रकार के नाते हैं, किसी भी प्रकार के नाते को उससे स्वीकार करके उसके साथ सम्बन्ध बना लें तो उद्धार हो जाता है क्योंकि वहाँ कोई कानून नहीं है। परमात्मा किसका क्या नहीं है? उसके सिवा और कोई भी सत्ता है जिससे हम समझ लें कि परमात्मा यह तो हो सकता है यह नहीं हो सकता? परमात्मा के साथ जो प्रेम करने वाले हैं उनके प्रेम की व्याख्या कौन कर सकता है, किस दृष्टि से कर सकता है? प्रेम में कोई विधि नहीं कोई निषेध नहीं। जहाँ विधि-निषेध नहीं, जहाँ अविच्छिन्न अनुराग की प्राप्ति है, वह परा भक्ति है। भक्ति के दो भेद हैं—गौणी भक्ति और परा भक्ति। गौणी भक्ति में शास्त्र की सारी विधियाँ काम करती हैं। उसे वैधा भक्ति भी कहते हैं। वह साधन है साध्य नहीं। वह तो चित्त शुद्धि का साधन है। परा भक्ति तो परमात्मा के साथ अभिन्नता की अनुभूति, अक्षय प्रेम की अनुभूति है। परा भक्ति साधन नहीं साध्य है।

'स्वयमेव फलरूपत्वात्।' वह फलरूपा है। वह फल का भी फल है। संयम रूपी फूल और ज्ञानरूपी फल का रस परा भक्ति है इसलिए वह परम प्रेम रूपा है। उसका स्वरूप अनिर्वचनीय है। उसकी मीमांसा नही की जा सकती, उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि वहाँ शब्द मौन हो जाते हैं—

**प्रेम भरा मन निज गति छूछा।**

* * * * * *

**प्रेम बिबस मुख वचन न आवा॥**

जहाँ अधिक प्रेम होता है वहाँ वाणी गद्‌गद हो जाती है, चित्त स्वयं द्रवित होकर अश्रुरूप में प्रवाहित होने लगता है। जब तक आप बोल रहे हैं, व्याख्या कर रहे हैं प्रेम अभी नहीं आया, प्रेम का प्रारम्भ हो रहा है। जहाँ प्रेम की पूर्णता हुई वहाँ पर आप स्तब्ध रह जाएँगे, मौन हो जाएँगे, आप में गति नहीं होगी। नारद जी बता रहे हैं—

**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ।**

—ना० भ० सू० ५१

प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है, उसका निर्वचन नहीं होता। उसके लिए एक उदाहरण दिया—

**ज्यों गूंगा गुड़ खायके नैननि भाव लखाये ।**

जो बोलने वाला व्यक्ति है, उसको यदि कोई अच्छी चीज़ लगे तो वह कुछ तो कहेगा ही, नहीं तो यही कहेगा कि बहुत अच्छी है, यदि गूंगे को बहुत मधुर वस्तु खिला दी जाए तो क्या कहेगा वह? वह केवल आँखों से अपने भाव व्यक्त कर सकता है लेकिन वह उसके विषय में कुछ कह नहीं सकता। उसे यदि कोई मधुर वस्तु खाने को मिल जाए तो वह केवल आँख मटका कर ही कुछ कह सकता है, व्यक्त नहीं कर सकता। जैसे गूंगे का स्वाद व्यक्त नहीं होता, ऐसे ही जहाँ प्रेम का प्रवाह चलता है वहाँ कुछ कहा नहीं जाता, इसको कोई विशेषण या विशेष्य नहीं होता वहाँ तो केवल उसके हाव-भाव से आप समझ सकते हो कि उसमें प्रेम का उदय हो गया है। प्रेम के लक्षण को व्यक्त करते हुए भगवान् ने रामायण में लक्ष्मण को समझाया है—

**मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥**

प्रभु के दिव्य स्वरूप का चिन्तन करते-२ वाणी गद्गद हो जाए और नेत्रों से आँसू बहने लगे, शरीर का होश ही न हो तो समझ जाओ कि प्रेम का उदय हो रहा है, यह प्रेम का लक्षण है। जहाँ पर अपने प्रियतम के स्मरण मात्र से नेत्रों में आँसू आ जाते हैं, उनसे सम्बन्धित किसी वस्तु को देख कर प्रियतम की याद आ जाए तो वह प्रेम का चिह्न है। इसमें तो अपने प्रिय को जो वस्तु प्रिय लगती है,वह भी प्रिय लगने लगती है। गोपिकाएँ उद्धव से कहती हैं—

**उधो मैं आज भई बड़भागी।**

उद्धव! आज मैं भाग्यवान् बन गई। कहा—कैसे? कहा—

**जिन अखियन तुम श्याम निहारे सो अखियां मोहे लागी।**

जिन नेत्रों से आपने मेरे श्याम सुन्दर को देखा है वही आंखे मेरे को भी देख रही हैं इसलिए मैं आज भाग्यवान् हो गई। उन आँखों के प्रति गोपियों का प्रेम है क्योंकि इन आँखों ने हमारे प्रियतम को देखा है। यह केवल गोपियों में ही नहीं था आज भी है। जिसको आप प्यार करते हैं, उससे जब कोई मिल करके आता है तो उससे एक-२ बात सुनने के लिए आप कितनी रुचि रखते हैं। जब उसकी चर्चा वह करता है तो आपको लगता है कि जैसे आप ही देख रहे हों। आज भी वही है, प्रेम के लक्षण में कोई परिर्वतन नहीं आंया। यह नहीं कि यह तो द्वापर के लोगों का प्रेम है, कलियुग के लोगों का अलग प्रेम होगा। प्रेम में काल, परिस्थिति वा

देश भेद नहीं है, प्रेम जहाँ कहीं है सब जगह एक सा है। वह देश-काल-परिस्थिति से परे है। प्रेम का यही लक्षण है—

**हिय फाटहु फूटहु नयन। जरऊ सो तन केहि काम॥**
**द्रवहि स्त्रवहि पुलके नहीं। तुलसी निकसत राम॥**
**रहहि न जल भरि पूरि। राम सुजस सुनि रावरो॥**
**तिन अखियन महि धूरी। भर-भर मूठी झोंकिए॥**

यदि राम नाम सुनते ही शरीर पुलकित नहीं हुआ, नेत्रों में आँसू नहीं आए तो भक्ति कहाँ है। इसलिए यहाँ पर बताया—

**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूका स्वादनवत्।**

लेकिन इस प्रकार का प्रेम इतना सरल नहीं है। एक दिन बताया था कि महात्मा कहते हुए जा रहे थे—

**राम नाम की लूट है, लूट सके तो लूट।**
**अन्त काल पछताएगा जब प्राण जायेंगे छूट॥**

एक महात्मा खड़े थे, उन्होंने उसके उत्तर में कहा—

**लूट न ऐसी जानिए हर कोई लेवे लूट।**
**इतने डंडे पड़त हैं हाड़ जात हैं टूट॥**

इतनी सस्ती लूट नहीं जो हरेक व्यक्ति लूट लेगा। प्रेम इतनी सरल वस्तु नहीं है जो हर व्यक्ति कर लेगा। प्रेम करना बड़ा कठिन है क्योंकि जब निर्वासनिक जीवन हो जाए तब प्रेम उदय होता है। नारद जी आगे के सूत्र में कहते हैं—

**प्रकाशते क्वापि पात्रे ।**

किसी एक पात्र में उसका प्रकाश होता है। रामायण में भगवान् कहते हैं—

**कहुँ कहुँ वृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥**

पार्वती ने तो एक लम्बी लिस्ट ही गिना दी। उत्तर काण्ड में भगवान् शंकर के सामने कहा—"प्रभु! आप कहते हो कि काग जी भगवान् के अनन्य भक्त हैं, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा।" कहा—"क्यों? भक्त होना काग जी का असम्भव है?" पार्वती ने कहा—"भगवन्!

**नर सहस्त्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी॥**

हज़ारों मनुष्यों में कोई एक धर्म ब्रतधारी होता है। हज़ारों धर्म जानने वालों में, धर्म की व्याख्या सुनने, समझने, करने वालों में से कोई एक धर्म को अपने जीवन में

उतारने वाला होता है। सामान्य मनुष्य की बात नहीं। और—

**धर्मशील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिराग रत होई॥**

करोड़ों धर्मात्माओं में कोई एक विषयों से विमुख होकर के वैराग्य में रत होता है। और—

**कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥**

उन करोड़ों विरक्तों में से कोई एक होता है जिसको सम्यक ज्ञान होता है।

**ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवन मुक्त सकृत जग सोऊ॥**

करोड़ों ज्ञानियों में कोई एक जीवन मुक्त होता है। सम्यक ज्ञानी माने सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त हुआ। जीवन मुक्त माने निर्बीज समाधि को प्राप्त किया हुआ। करोड़ों सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त किए हुए महात्माओं में से कोई एक निर्बीज समाधि को प्राप्त करता है। उन हज़ारों जीवन मुक्तों में कोई एक ब्रह्मलीन होता है जिसको विदेह मुक्त कहते हैं।

**धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवन मुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥**

ये पाँच सीढ़ियाँ हैं—

**सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥**

इन सारों से भी दुर्लभ है भगवान् की भक्ति—

**सो हरि भगति काग किमि पाई। बिस्वनाथ मोहि कहहु बुझाई॥**

—रा० ७/५४-१से७

इतनी दुर्लभ भक्ति को काग ने कैसे पा लिया है? हे विश्वनाथ! आप मुझे समझा कर कहिए।" मैं आप लोगों को बता रहा था—

**प्रकाशते क्वापि पात्रे।** —ना०भ०सू० ५

यह तो किसी एक के हृदय में ही प्रकाशित होती है। इसलिए तुलसीदास जी ने अपनी विनय पत्रिका में लिखा—

**रघुपति-भगति करत कठिनाई।**

**कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई॥**

—वि०प० १६७/१

कहने में बड़ी सुगम है—

**कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥**

कहो तो भक्ति पथ में कौन सा प्रयास है? कहने में बड़ी सुगम है लेकिन करने में बड़ी कठिन है। गीतावली में तुलसीदास जी ने लिखा है—

**जानी है शंकर हनुमान लखन भरत राम भगति ।**
**कहत सुगम करत अगम सुनत मीठी लगति ॥**

कहने में सुगम है, करने में अगम है, सुनने में बड़ी मीठी लगती है। चाहते सब हैं लेकिन पाता कोई एक है। किसी एक पात्र में ही उसका प्रकाश होता है लेकिन इसमें निराश होने वाली बात नहीं है। यह नहीं कि जब किसी में नहीं होता तो हमारे में कैसे होगा? आप सोचो कि वह जो किसी एक को मिलती है वह मैं ही हूँ। इतना विश्वास हो जाए कि प्रभु का प्रेम मिलेगा। अविश्वासी के लिए भक्ति दूर है लेकिन विश्वासी के लिए भक्ति दूर नहीं है। यह प्रश्न होता है कि क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे भगवान् की भक्ति का प्रकाश हो जाए हमारे में? उपाय तो बहुत हैं किन्तु वे सभी त्याग से ही प्रारम्भ होते हैं और वह त्याग इतना सरल नहीं है। संसार में आसक्त व्यक्ति एकाएक त्याग नहीं कर सकता। यथार्थतया तो भगवत् प्रेम अन्य किसी प्रकार के गुणों की अभिवृद्धि से वा अनेक प्रकार की शुभकामनाओं की अभिवृद्धि से प्राप्त होने वाला भी नहीं क्योंकि भगवत् प्रेम गुणरहित वा कामना रहित है। भक्ति निर्गुण हुआ करती है सगुण नहीं। किसी प्रकार के गुण की यहाँ कोई महिमा नहीं है। दुनिया में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिस पर मनुष्य रीझता है या तो बहुत सुन्दर, गुणवान हो, धनवान हो, बलवान हो या कलावान हो। अपने से अधिक सुन्दर पर ही आप रीझेंगे, कम वाले पर नहीं रीझ सकते। रामायण में एक प्रसंग आता है कि सुर्पणखा भगवान् राम के पास जब जाती है तो यही कहती है—

**मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखउँ खोजि लोक तिहु नाहीं॥**
**ताते अब लगि रहिउँ कुमारी। मनु माना कछु तुम्हहि निहारी॥**

मेरे अनुरूप कोई तीनों लोकों में पुरुष मिला नहीं, मैंने सारा ढूंढ लिया है इसलिए मैं अब तक कुंवारी रह गई, किसी को समर्पित नहीं हुई और तुम भी मुझे पूरे-२ जचे नहीं लेकिन तुम्हें देखकर ही थोड़ा-२ मेरा मन मान रहा है। वैसे पूर्णतया तो तुम भी मेरे योग्य नहीं हो। प्राचीन काल में स्वयंवर की प्रथा थी। सब स्त्रियाँ अपने लिए आप पति ढूँढ़ा करती थी, इसलिए उसका यह कहना अटपटा नहीं लग रहा है। स्वयम्वर का अभिप्राय ही यही होता है, अपने लिए आप वर का वरण करना। हमारे यहाँ आठ प्रकार के विवाह हुआ करते थे, उसमें से अब ब्राह्म विवाह या अरेन्ज मैरिज ही प्रचलित है लेकिन स्वयंवर की बहुत श्रेष्ठ प्रथा रही है भारत में। वह स्वयंवर नहीं जो आजकल प्रचलित है। यहाँ स्वयंवर नहीं यहाँ तो टैस्टिंग हुआ करती है। पुरुष के रूप, गुण और वंश की परम्परा को सुन कर

समझ कर के उसे पति रूप में वरण करना एक अलग चीज़ है और शारीरिक माँग से प्रेरित होकर के बाह्य आकर्षण के ऊपर अपने आपको समर्पित कर देना या उसमें प्रवृत्त हो जाना, काम निकल जाने के बाद उसे छोड़ साल या दो साल बाद किसी दूसरे की तलाश करने लगना, इसका नाम स्वयंवर नहीं है। स्वयंवर प्रथा तो बहुत बड़ी प्रथा थी और वह प्रथा भारत में बहुत काल तक रही है। आप लोगों को मालूम होगी संयोगिता और पृथ्वीराज चौहान की कहानी। सुर्पणखा कहती है कि मैंने अपने अनुरूप पति ढूँढने के लिए तीनों लोक घूमे हैं लेकिन कहीं मेरे बराबर का पुरुष मिला नहीं इसलिए मुझे पसन्द नहीं आया। अब तुम मिले हो, कुछ-कुछ मुझे पसन्द आए हो। भगवान् ने तो उसकी तरफ देखा भी नहीं। तुलसीदास जी लिखते हैं—

**सीतहि चितइ कही प्रभु बाता ।**

भगवान् सीता जी की तरफ देखकर इशारा करते हुए कहते हैं, "मेरे पास तो देवी है, तू तुलना कर ले अपने आप से।" एक तो यह अभिप्राय है और दूसरा सीता जी की तरफ देखा कि यह देख रहे हो कितना झूठ बोल रही है।

**सीतहि चितइ कही प्रभु बाता। अहइ कुमार मोर लघु भ्राता।**

भगवान् ने कहा, "हमारे पास तो यह देवी है लेकिन वो जो मेरा छोटा भाई बैठा हुआ है, वह तो जैसे तू कुंवारी है वैसे ये भी कुंवारे हैं"—

**गइ लछिमन रिपु भगिनी जानी। प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी॥**

उन्होंने उसकी तरफ नहीं देखा लेकिन—

**सुन्दरि सुनु मैं उन्ह कर दासा। पराधीन नहीं तोर सुपासा॥**

कहा—"तू बहुत सुन्दर है लेकिन मैं क्या करूँ दास को तो कभी स्वतन्त्रता होती नहीं। तुम जो तीनों लोकों में अपने लिए वर ढूँढ रही हो तो क्या तुम किसी की दासी बन सकती हो? सुन्दरियाँ दासी नहीं बनती" एक यह भी अर्थ है। दास तो पराधीन होता है इसलिए तुम्हारे लिए यहाँ कोई सुविधा नहीं है। तुम उन्हीं के पास चले जाओ। उसने कहा—"वो तो कह रहे हैं कि उनकी शादी हो चुकी है।" कहा—

**प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उनहि सब छाजा॥**

प्रभु तो समर्थ हैं। वहाँ एक की तो बात नहीं वे दो भी रख सकते हैं, तीन भी रख सकते हैं क्योंकि वे कौशलपुर के राजा हैं, अयोध्या के राजा हैं। अयोध्या के राजा मेरे पिता के पास भी तीन स्त्रियाँ थी। इनके पास तो अभी एक ही है। तुम्हारे लिए वहाँ गुंजाइश हो सकती है, वहाँ यह संकेत है। वहाँ तो यह परम्परा भी रही है कि

कई स्त्रियाँ रख सकते हैं इसलिए तुम वहीं पर चली जाओ।

मेरा कहने का अभिप्राय व्यक्ति या तो रूप पर मोहित होता है या किसी के ज्ञान पर या किसी के गुण पर या धन पर और या शक्ति पर। हमारे यहाँ छः कारण बताए गए हैं मोहित होने के। इन्हें षडैश्वर्य भी कहा गया है। षडैश्वर्य जिसमें छः प्रकार का ऐश्वर्य हो—इस सारे को देखकर हरेक मोहित नहीं होता परन्तु कुछ होते हैं। जो आपसे अधिक विरक्त है उसको देखकर आप मोहित हो सकते हैं। जो आपसे अधिक ज्ञानी है उसके ज्ञान को देखकर आप मोहित हो सकते हैं। जो आपसे अधिक सौन्दर्यवान् है उसके सौन्दर्य को देखकर आप मोहित हो सकते हैं। मोहित होने के यही साधने हैं। क्या दुनिया में भगवान् से भी अधिक कोई बलवान्, रूपवान्, गुणवान् धनवान्, ऐश्वर्यवान् तथा त्यागवान् हो सकता है? नहीं। यदि दुनिया में कोई उससे किसी भी प्रकार अधिक नहीं हो सकता तो कौन ऐसा साधन है जिससे उसको रिझालें? उसको रिझाने के लिए कोई साधन नहीं है। तभी तो कहा है—

**गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणं वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥**

—ना०भ०सू० ५४

भगवान् का प्रेम जो है वह किसी गुण से सम्बन्धित नहीं है, कामना से सम्बन्धित नहीं है। जहाँ गुण की चाह है, जहाँ कामना की चाह है वहाँ भगवत् प्रेम नहीं होता।

ये छः बातें बताई गई हैं। इसमें सबसे पहली है—गुण रहितम्। पहले अपने आप को खाली कर लो। नारद जी जब सनत कुमार जी से विद्या ग्रहण करने गए तो उन्होंने पूछा—"तुम, क्या-क्या पढ़े हो?" नारद जी ने कहा कि मैं यह पढ़ा हूँ, यह पढ़ा हूँ। इस प्रकार १६ विद्याओं की एक लम्बी सी लिस्ट गिना दी। कहा—"इतना पढ़ चुका हूँ लेकिन अभी शान्ति नहीं आई।" उन्होंने कहा- जितना पढ़ चुके हो पहले सारा का सारा समुद्र में फेंक आओ, फिर मेरे पास आओ। महात्मा जी सुनाया करते थे कि एक संगीतज्ञ थे। उनके पास दो व्यक्ति गए संगीत सीखने के लिए। वे दोनों साथी थे। दोनों से पूछा कि तुम संगीत के बारे में कुछ जानते हो? एक ने कहा—हाँ, मैं थोड़ा जानता हूँ। दूसरे ने कहा कि मैं तो कुछ नहीं जानता। उन्होंने पहले से कहा कि तुम्हारी तो १०० रू० महीना फीस होगी और दूसरे से कहा कि तुम्हारी ५० रू० महीने फीस होगी। पहले ने कहा— "आचार्य जी! ऐसी क्या बात है कि यह बिल्कुल भी नहीं जानता तो इसकी ५० रू० महीना फीस और मैं थोड़ा-२ जानता हूँ तो मेरी १०० रू० महीना फीस।

हमारी तो कम होनी चाहिए। कहीं गलती से तो नहीं कह रहे?" उन्होंने कहा— "भई, मैं गलती से नहीं कह रहा। यह बिल्कुल कोरा है। इसे मैं जो बताऊँगा वह इसे ग्रहण कर लेगा। तुम्हारे दिमाग में जो है पहले उसे निकालना पड़ेगा और फिर से डालना होगा, ये दोनों काम करने होंगे।" कहने का अभिप्राय जहाँ गुणाभिमान होता है वहाँ किसी भी प्रकार की ग्राहकता नहीं होती। प्रेम में किसी भी प्रकार के अभिमान के लिए स्थान नहीं है—

**गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणं वर्धमानम्।**

यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, वह कभी कम नहीं होता। एक कवि ने कहा है कि प्रेम में कभी पूर्णमासी नहीं होती अर्थात् वह कभी पूर्ण होता ही नहीं, सदा अभाव ही बना रहता है। जितना प्रेम करो उतना कम है। यदि पूर्णिमा आ गई प्रेम में तो वह प्रेम कहाँ? अविछिन्नम् माने जिसका विभाजन न हो, जिसको तोड़ा न जाए। वह सूक्ष्मतर है, वहाँ दिखावे वाली बात नहीं है, वह अनुभव रूप है। ये छ: गुण हैं प्रेम के। इस प्रेम को प्राप्त करने वाले के विषय में आगे नारद जी कहते हैं—

**तत् प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ॥**

*—ना०भ०सू० ५५*

उस प्रेम को पाकर व्यक्ति सर्वत्र अपने प्रभु को ही देखता है। सब जगह अपने प्रभु की वाणी सुनता है। सब जगह अपने प्रभु की ही व्याख्या करता रहता है और उसी का ही सदैव चिन्तन करता रहता है। उसके सिवा और किसी का कोई अस्तित्व उसकी दृष्टि में होता ही नहीं। यह प्रेमी का लक्षण है। जब प्रेमी में प्रेम का उदय होता है तो उसकी यह स्थिति होती है। धीरे-२ उसे सर्वत्र अपने प्रभु के सिवा कुछ दिखाई ही नहीं देता। जैसे गीता में भगवान् ने कहा—

**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥**

*—गीता ६/३०*

वह सब में अपने प्रभु को ही देखता है। इसलिए—'तत्प्राप्य तदेवावलोकयति।' उसे प्राप्त होकर उसी को ही देखता है—

**दर दिवार दर्पण भए जित देखूँ तित तोही।**
**कांकर पाथर ठीकरो भए आरसी मोही॥**

उसको सर्वत्र प्रभु ही दिखाई देने लगते हैं। थोड़ी सी आहट हुई तो उसको लगता है कि प्रभु आ रहे हैं। यह उत्तम प्रेम का स्वरूप है। अभी सुनना शुरु करो तो आ

ही जाएगा अगले जन्म तक। भगवान् ने कहा कि घबराओ नहीं—

**अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥**

—*गीता ६/४५*

इस जन्म में नहीं अगले जन्म में सही।

पुराण में एक कथा है। एक महात्मा इमली के पेड़ के नीचे बैठे तपस्या कर रहे थे। इमली के छोटे-२ पत्ते होते हैं। नारद जी चले जा रहे थे। उन्होंने देखा तो पूछा—"भगवन्! आप कहाँ जा रहे हो?" नारद जी ने कहा कि मैं तो प्रभु के यहाँ जा रहा हूँ। कहा— "प्रभु से मेरी प्रार्थना करना कि मुझे कब दर्शन होगा?" आगे गए तो उन्होंने एक और महात्मा देखे, पीपल के पेड़ के नीचे बैठे तपस्या कर रहे थे। उन्होंने देखा तो पूछा—"नारद जी! आप कहाँ जा रहे हो?" कहा— "मैं तो भगवान् के यहाँ जा रहा हूँ।" कहा—"ज़रा प्रभु से पूछना मुझे कब दर्शन होंगे भगवान् के? बहुत दिन बीत गए प्रतीक्षा करते-२।" नारद जी ने भगवान् से प्रश्न किया कि रास्ते में दो तपस्वी बैठे हुए हैं। उन्होंने मेरे से प्रार्थना की है कि आप उन्हें कब दर्शन दोगे? भगवान् ने कहा—"वो जो पीपल के पेड़ के नीचे बैठा हुआ है उसको सात जन्म बाद। जो इमली के पेड़ के नीचे बैठा हुआ है, उसे तो जितने इमली के पेड़ के पत्ते हैं उतने जन्म बाद। नारद जी ने कहा, भगवन्! यह तो बड़ा अन्याय है। कहा, अन्याय नहीं, तुम जाकर बता देना। जैसे तुम उनका संदेश लाए हो वैसे ही मेरा संदेश जाकर दे देना।" वहाँ से नारद जी जब लौटे तो पहले पीपल के पेड़ वाला मिला। कहा—"महात्मा जी, आप भगवान् से पूछे?" बोले—"हाँ, पूछे तो भाई।" कहा—"क्या कहा?" कहा—"भगवान् ने बड़ी कृपा की है तुम्हारे पर और उन्होंने कहा कि तुम्हें भगवान् के दर्शन करने में केवल सात जन्म लगेंगे।" कहा—सात जन्म! इतनी देर मैं मरता रहूँ? उसने लंगोटी उठाई और कन्धे पर रखी। कहा—"इससे अच्छा अपने घर पर ही रहूँ। नहीं देता तो न दे दर्शन।" वह तपस्या छोड़कर वहाँ से चल दिया। नारद जी चल पड़े, सोचने लगे कि जब इसकी यह गति है तो जब दूसरे को बताऊँगा कि जितने इमली के पत्ते हैं उतने जन्मों के बाद तुम्हें भगवान् के दर्शन होंगे तो उसकी क्या गति होगी? जब नारद जी वहाँ पहुँचे तो सन्त ने खड़े होकर उनसे प्रार्थना की कि मेरे लिए भगवान् ने क्या कहा? नारद जी ने कहा—"सन्त जी, भगवान् ने कहा है कि इमली के पेड़ में जितने पत्ते हैं, उतने जन्म के बाद तुम्हें भगवान् दर्शन देंगे।" कहा—"यह तो कहा कि देंगे, बस इतना ही बहुत है।" इतना कह वह

खड़तालें ले नाचने लगा, गाने लगा। आनन्दविभोर हो गया। उसको शरीर की सुधि ही नहीं रही। नारद जी अभी खड़े होकर उसकी विह्वलता देख रहे थे तो देखा इमली के पेड़ के पीछे भगवान् खड़े थे। जब यह देखा तो नारद जी को बहुत बुरा लगा कि मेरे से तो कहा है कि जितने इमली के पेड़ पर पत्ते हैं, उतने जन्मों बाद दर्शन देंगे, आप तो अभी आकर यहाँ खड़े हुए हैं। वह विह्वल होकर गिर गया। प्रभु आए, उसके सिर पर हाथ फेरा तो देखा, भगवान् उसके सामने खड़े थे। जब भगवान् दर्शन देकर अन्तर्धान हो गए तो नारद जी फिर पहुँचे बैकुण्ठ और कहा—''भगवन्! आपने हमसे कहा कि इमली के पेड़ पर जितने पत्ते हैं, उतने जन्म बाद दर्शन देंगे और आपने तो एक क्षण भी नहीं लगाया वहाँ पहुँचने में।'' कहा—''यह तो उससे जाकर पूछो कि उतना गैप मेरे वियोग का उसे कितना लगा? यह तो काल की गणना तुम अपने हिसाब से कर रहे हो।

**निमिष निमिष करुणानिधि जाहिं कलप सम बीति।**

एक निमेष भी कल्प के समान हो जाता है और यदि कहो कि कितने कल्प के बाद मैं दर्शन दूँगा, जिसके लिए एक निमेष ही एक कल्प हो गया हो तो कितने कल्प बीत सकते हैं, ज़रा बताओ तो। तुम्हारे लिए तो घण्टा नहीं बीता, उसके लिए कई कल्प हो गए। जब आदमी विह्वल होता है तो उसके लिए एक निमेष एक कल्प के समान होता है।''

मैं आप लोगों को बता रहा था कि घबराने वाली कोई बात नहीं है कि इतनी लम्बी यात्रा अपने से नहीं होने वाली। एक क्षण में ही कितने जन्म बीत जाते हैं पता नहीं चलता। परमात्मा के प्रेम की यदि वियोगाग्नि लग जाय हृदय में तो सारे कलमषों को भस्म कर देती है और आपको पवित्र बनाकर प्रभु की गोद में बिठा देती है। घबराने वाली बात नहीं है। भक्ति के इस स्वरूप को इन सूत्रों में नारद जी ने समझाया है—

**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ मूकास्वादनवत्॥ प्रकाशते क्वापि पात्रे॥**

और उस भक्ति का लक्षण बताया है—

**गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणं वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥**

—ना० भ० सू० ५४

इस भक्ति के प्रकार को—

**तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति**
**तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति॥**

—ना० भ० सू० ५५

पाकर के उसी को देखता है, उसी को सुनता है, उसी की व्याख्या करता है, उसी का चिन्तन करता है। उसकी चर्चा के सिवा उसके पास और कोई दूसरी चर्चा होती नहीं। जिसके जीवन में प्रभु की चर्चा के सिवा और कोई चर्चा ही न हो, वह ही प्रभु का अनन्य प्रिय भक्त होता है, यह बात याद रखो।

हरि ॐ तत्सत्।

## १६

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! भक्ति के स्वरूप की व्याख्या करते हुए देवर्षि नारद जी समझा रहे हैं—

**अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्॥ मूकास्वादनवत्॥ प्रकाशते क्वापि पात्रे॥ गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणं वर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥**

यहाँ तक व्याख्या कल आप लोगों को समझा दी गई है। अब देवर्षि का कथन है—

**तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति॥**

यह भी प्रेम का एक लक्षण है। प्रेमी जब अपने प्रेमास्पद में निरत हो जाता है तो उसे अपने प्रेमास्पद की चर्चा के अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा नहीं लगता, प्रिय नहीं लगता अर्थात् पसन्द नहीं आता। जिधर भी कहीं दृष्टि जाएगी वह अपने प्रेमास्पद को ही देखेगा। सर्वत्र वह अपने प्रियतम को ही ढूंढता है। यदि कोई भी व्यक्ति, वस्तु वा स्थान उससे खाली दिखाई दे तो उसे वह प्रिय नहीं लगता। उसका वह त्याग कर देता है। इस सम्बन्ध में आप लोगों ने रामायण में यह कथा सुनी होगी कि लंका से विजय के पश्चात् जब भगवान् राम लौटकर आते हैं तो विभीषण उपहार में एक अमूल्य रत्नों का हार भगवती को समर्पित करते हैं। अयोध्या में सिंहासनासीन होने के पश्चात् प्रभु अपने सभी प्रियजनों को कुछ उपहार दे करके विदा करना चाहते हैं। सामने बैठे हुए प्रिय हनुमान को देखकर माँ के हृदय में भी कुछ उपहार देने की भावना जागृत होती है और प्रसाद के रूप में वह अपने गले का वह अमूल्य रत्न हार श्री मारुति के गले में डाल देती हैं।

उपहार को पा कर के मारुति प्रसन्न हो जाते हैं। माँ का दिया हुआ प्रसाद है, ऐसा समझ कर गले से निकाल लेते हैं। उस चमकती हुई वस्तु को देखकर वह हार में से एक मणि तोड़ लेते हैं। इधर-उधर देखते हैं, जब उसमें कुछ दिखाई नहीं देता तो दाँत से तोड़ कर उसमें देखते हैं, फिर भी कुछ दिखाई नहीं देता तो उसे फेंक देते हैं। हार की इस दुर्गति को देखकर विभीषण से रहा नहीं जाता। वे खड़े हो जाते हैं और कहते हैं कि मेरे इस दिए हुए हार का इस प्रकार का अपमान मारुति तुम क्यों करते हो? क्या बात है? श्री हनुमान जी उत्तर देते हैं कि मुझे इसमें कहीं रामतत्त्व दिखाई नहीं दे रहा है इसलिए इसे तोड़ रहा हूँ। विभीषण को आवेश आ जाता है, वे पूछते हैं कि क्या जिसमें राम नहीं है, उसका कोई मूल्य नहीं है तुम्हारी दृष्टि में? बोले-राम से रहित पदार्थ मेरे किस काम का? मैं उन्हीं को तो इसमें खोज रहा हूँ। विभीषण ने कहा, जिस शरीर को तुम धारण किए हो क्या इसमें राम हैं? अवश्य, यदि नहीं होंगे तो यह भी मेरे किसी काम का नहीं है। ऐसा कहते हुए श्रीमारुति अपने वक्षस्थल को फाड़ देते हैं। उनके हृदय में श्रीसीता-राम को विराजित देख सारी सभा स्तब्ध रह जाती है।

मेरा कहने का अभिप्राय कि भक्त सर्वत्र अपने भगवान् को ही देखना चाहता है, यह भक्त की आन्तरिक चाह होती है। जिस वस्तु में भगवान् नहीं वह वस्तु उसके किसी काम की नहीं होती। इसलिए देवर्षि नारद जी कह रहे हैं—

**तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति**
**तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति॥**

—ना० भ० सू० ५५

प्रभु को पाने के पश्चात् उनका भक्त सर्वत्र प्रभु को ही देखना चाहता है। जहाँ प्रभु नहीं दिखाई देते उसका वह सर्वथा त्याग कर देता है। हनुमान जी लंका में प्रवेश करके कई भवनों में घूमते हैं लेकिन—

**मंदिर-मंदिर प्रति करि सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा॥**
**गयउ दसानन मंदिर माहीं। अति विचित्र कहि जात सो नाहीं॥**
**सयन किएँ देखा कपि तेही। मंदिर महुँ न दीखि बैदेही॥**

वहाँ शस्त्रास्त्र से युक्त वीर हैं। राम को न पाकर मारुति कहीं भी टिकते नहीं। दसानन के मंदिर में भी जाते हैं। बहुत विचित्र मन्दिर है।

वहाँ रावण को सोया हुआ पाते हैं। वैदेही तो उनको वहाँ भी दिखाई नहीं दी। इसका सामान्य अर्थ तो आप लोग समझ गए होंगे। इसका विशिष्ट अर्थ भी है। वैदेही कौन है? वैदेही माने जो देह से ऊपर है। वह कौन है? परमात्मा की वह परा-भक्ति जहाँ देह का सम्बन्ध, देह की स्थिति, देह की स्मृति नहीं होती। जो इस सीमा से परे है, उस परा भक्ति की तलाश हनुमान जी मन्दिरों में कर रहे हैं। भक्ति भगवान् से सम्बन्धित है। भगवान् मन्दिरों में ही निवास करते हैं, यह एक बहुत पुरानी भावना है लेकिन हनुमान जी ने एक नहीं अनेकों मन्दिरों में देखा परन्तु किसी भी मन्दिर में उन्हें भगवान् दिखाई नहीं दिए, न भगवान् की भक्ति दिखाई दी। जहाँ भगवान् और उनकी भक्ति होती है वहाँ लोग जागृत अवस्था में होते हैं। यही बात गीता में भगवान् ने कही है—

**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।**
**यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥**

*—गीता २/६९*

जिस मोह की निद्रा में दुनिया वाले सोते हैं, उसमें संयमी जागता है और जिसमें संसार के वैभव को देखकर दुनिया वाले जागते रहते हैं वह उसकी दृष्टि में रात्रि है। वह न रात में सोए न दिन में सोए। संयमी के लिए सोना नहीं बताया। हनुमान संयमी हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। वे संसार के सुख को, जिसमें दुनिया वाले जग रहे हैं, रात्रि के समान समझते हैं। जिसमें दुनिया सो रही है उसमें आप जागृत हैं। इस दृष्टि से लंका के जब सभी लोग सो रहे हैं, हनुमान जागते हुए प्रत्येक मन्दिर में तलाश कर रहे हैं कि कहीं भगवती है वा कहीं भक्त है? 'मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा।' यहाँ 'सोधा' शब्द अपने आप में एक बहुत बड़ा अर्थ रखता है। 'सोधा' माने अनुसन्धान किया, देखा, झांका इत्यादि लेकिन वहाँ पर भक्ति रूपी भगवती दिखाई नहीं दी। तुलसीदास जी लिखते हैं—

**देखे जहँ तहँ अगनित जोधा ।**

उन्होंने पहले वैदेही को योद्धाओं में देखा। इन अगणित योद्धाओं का वर्णन तुलसीदास जी ने रामायण में दो जगह किया है-अरण्यकाण्ड और उत्तरकाण्ड में। उन्होंने लिखा है कि ये बड़े सुभट्ट हैं, बड़े बलवान हैं, वीर हैं। इनसे कोई बच नहीं सकता और बड़े-२ तत्त्वज्ञ भी इनके सामने हार जाते हैं—

**श्री मद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।**
**मृगलोचनि के नैन सर को अस लाग न जाहि॥**

*—रा० ७/७० ख*

**गुन कृत सन्यपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥**
**तृस्नाँ केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा॥**
**यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा॥**
**सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥**

*—रा० ७/७१-१,७,८*

उन्हीं वीरों का वर्णन भगवान् श्रीराम के मुख से करवाया है। अरण्यकाण्ड में भगवान् ने कहा—

**लक्ष्मण देखत काम अनीका ।**

यह काम की सेना है, एक जगह मोह की सेना कहा है और एक जगह माया की सेना कहा। ये बड़े-२ वीर हैं—

**मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहँकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी।**

*—वि०प० ५८/४*

इन बड़े-२ योद्धओं को देखा लेकिन कहीं भगवती दिखाई नहीं दी। फिर रावण के मन्दिर में गए—

**गयउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं॥**
**सयन किएँ देखा कपि तेही। मंदिर महुँ न दीखि बैदैही॥**

वह भी सो रहा था। जागने वाला देख रहा है कि उस मन्दिर में भी वैदेही नहीं है लेकिन—

**भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि मन्दिर तहँ भिन्न बनावा॥**

एक मकान उन्हें दिखाई दिया और उस मकान के बगल में देखा एक भगवान् का मन्दिर बना हुआ था। मन्दिर कैसा था? बताया—

**रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।**
**नव तुलसिका बृन्द तहँ देखि हरष कपिराइ॥**

*—रा० ५/५*

उसने मन में सोचा—

**लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥**
**मन महुँ तरक करैं कपि लागा। तेहीं समय बिभीषनु जागा॥**

*—रा० ५/६-१,२*

एक जगह उनको भगवान् का मन्दिर दिखाई दिया लेकिन वह हनुमान जो लंका के मन्दिर-२ में भगवान् को ढूँढ रहे थे, भगवती को ढूंढ़ रहे थे, जहाँ उन्हें नहीं मिले उन सबको छोड़ते हुए चले गए। वह जब विभीषण की कुटिया में जाते हैं

तो बैठते हैं। बैठते ही नहीं बल्कि अपने प्रभु के गुण का कथन भी करते हैं—

**तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।**

वह प्रभु की महिमा, प्रभु के गुण को कहते हैं। प्रभु की महिमा को सुनते हैं, प्रभु को ही सर्वत्र देखते हैं। विभीषण की कुटिया में जाते ही उन्हें पहले प्रभु का नाम दिखाई दिया। विभीषण के साथ वार्तालाप करते हुए उनको प्रभु का चरित्र सुनने को मिला—

**की तुम्ह रामु दीन अनुरागी। आयहु मोहि करन बड़भागी॥**

और फ़िर वे प्रभु की महिमा का गान करने लगे—

**अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर ।**
**कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर ॥**

—रा ५/७

और जब वे बाद में रावण के दरबार में जाते हैं तो रावण में भी वे प्रभु की ही तलाश करते हैं, इसमें राम हैं कि नहीं। रावण में जब राम दिखाई देते हैं तो हनुमान जी उनको नमस्कार करते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है, रावण में राम को देख कर मारुति नमस्कार करते हैं और रावण सोचता है कि यह मुझे नमस्कार करता है। रावण पूछता है कि तूने किसके बल से हमारी वाटिका का विध्वंस किया है? हनुमान जी उसे समझाते हैं—

**जाकें बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥**
**जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥**
**धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावनु दाता॥**
**हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तेहि समेत नृप दल मद गंजा॥**
**खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥**

यानी तुम्हारे में जो बल है वह प्रभु का है—

**जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि ।**
**तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि ॥**

—रा० ५/२१

जिन शब्दों से हनुमान जी राम का स्वागत करते हैं, वही शब्द वे रावण के लिए भी कहते हैं—

**खायउँ फल प्रभु लागी भूँखा। कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा॥**

रावण को हनुमान जी प्रभु, स्वामी आदि शब्दों से सम्बोधित करते हैं क्योंकि

उसमें भगवान् की सत्ता को देखते हैं। गीता के दसवें अध्याय में भगवान् ने एक बात कही है—

**यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव व ।**

''हे अर्जुन! तुम्हें क्या बताऊँ, जहाँ तुम्हें विभूतिमत दिखाई दे। विभूतिमत माने दिव्य गुणों से युक्त सत्त्व दिखाई दे, माने पदार्थ, व्यक्ति व वस्तु, श्रीमत-श्रीयुक्त दिखाई दे, ऊर्जितम् और शक्तियुक्त दिखाई दे—

**तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशंसंभवम् ।**

*—गीता १०/४१*

उन सब को तू मेरे तेज अंश से ही उत्पन्न हुआ जानना।'' रावण के ऐश्वर्य को, रावण के श्री को, रावण की शक्ति को हनुमान भगवान् के अंश से उत्पन्न हुआ जानते हैं, इसलिए उसको बड़े आदर से सम्बोधित करते हैं—

**बिनती करउँ जोरी कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥**

मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ रावण! इसलिए नहीं कि तुमसे डरता हूँ। डरने वाली बात नहीं है। हनुमान भक्त हैं। भक्त की दृष्टि में जो भी कुछ ऐश्वर्ययुक्त है, वह भगवान् की विभूति है। वह भगवान् के अंश से उत्पन्न हुआ है। भक्त जब किसी बुद्धिमान् की बुद्धि को देखता है तो उसकी बुद्धि को भगवान् की विभूति समझता है और उसको उस विभूति का पात्र समझता है। बुद्धि के नाते उसका आदर नहीं करता, उसकी पात्रता के नाते उसका आदर करता है। बड़ा ही गम्भीर विषय है यह। ज़रा आप लोग भी इस पर मनन कीजिए। आप जब किसी बलवान के बल को देखते हैं और उसके बल को उसका अपना मान लेते हैं तो आपमें दासता का जन्म होता है। जब आप किसी धनवान के धन को देखते हैं और उस धन का स्वामी आप उसे मान लेते हैं तो आपमें दीनता का जन्म होता है। जब किसी बुद्धिमान की बुद्धि देखते हैं और उसको उस बुद्धि का स्वामी मानते हैं तो आप में हीनता का जन्म होता है। हीनता, दीनता, दासता और इसी प्रकार के अन्य दुर्गुण आपमें उत्पन्न हो जाते हैं, केवल इस दृष्टि से कि जो इसके पास है वह इसका है। गीता में भगवान् यही संदेश देते हैं कि तुम जब किसी में कोई वैशिष्टय देखो तो उसे उसका मत समझो, वह मेरा समझो—

**बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥**
**बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।**

*—गीता ७/१०,११*

किसी बलवान के पास जो बल है वह मेरा है, बुद्धिमान् के पास जो बुद्धि है वह मेरी है। किसी तेजवान के पास जो तेज है वह मेरा है। कहा—''जब ऐसी बुद्धि हो जाए तो क्या लाभ होगा?'' कहा—''लाभ यह होगा कि जब तुम किसी बुद्धिमान् में बुद्धि उसकी समझोगे तो तुम्हारे अहं ने यदि तुम्हें धिक्कारा तो तुम उसकी बुद्धि का निरादर करोगे। इससे तुम सीख नहीं ले सकते, इसमें तुम प्रेरणा नहीं ले सकते, क्योंकि तुम समझोगे कि इसकी बुद्धि है तो इसके लिए है, मैं क्यों इससे लाभ उठाऊँ या मैं क्यों इसका प्रयोग करूँ। यह मेरे लिए थोड़े ही है। क्या मेरी कम है इससे? यदि अहं ने नहीं धिक्कारा, तुम्हारे अहं ने अपने आपको समर्पित कर दिया तब तुम उसकी दासता करोगे। तुम यह सोचेगे कि यह तो बड़ा बुद्धिमान् है, हम लोग तो उसके सामने कुछ भी नहीं हैं। तुम अपने आप में हीनता की अनुभूति करके उसकी दासता करोगे।'' कहा—''यदि यह मान लिया जाए कि बुद्धि भगवान् की है तो?'' कहा—''जब तुम यह मान लोगे कि इसके पास बुद्धि भगवान् की दी हुई है तो तुम भगवान् की दी हुई बुद्धि का आदर करोगे। उसके प्रयोग में तुम्हें हीनता महसूस नहीं होगी। भगवान् की बुद्धि तो सबके लिए है।'' कहा—''तो फिर उस व्यक्ति के लिए तुम्हारा दृष्टिकोण क्या होगा?'' मनोविज्ञान के विद्वान् सन्त कहते हैं कि उस समय तुम सोचेगे कि भगवान् ने अपनी बुद्धि का इसे पात्र समझा, तब तो इसे बुद्धि दी, तुम्हें क्यों नहीं दे दी? इसमें कुछ तो विशेषता थी जिसके नाते भगवान् ने इसे अपनी बुद्धि का पात्र समझा। बुद्धि भगवान् की है, बल भगवान् का है, श्री भगवान् की है, ऐश्वर्य भगवान् का है, इसमें कोई सन्देह नहीं लेकिन इसको भगवान् ने सबको क्यों नहीं दिया? सबको इसलिए नहीं दिया कि सब में वह पात्रता नहीं थी। पात्रता का इसने स्वयं में सृजन किया। पात्रता का सृजन करने के नाते यह हमारे लिए आदर्श है। जैसे इसने स्वयं में पात्रता उत्पन्न करके प्रभु की बुद्धि को प्राप्त करने में सामर्थ्य प्राप्त किया इसी रूप से हमें भी इसका अनुकरण करके स्वयं में ऐसी ही पात्रता का निर्माण करना चाहिए जिससे हमें भी प्रभु अपनी बुद्धि प्रदान करें। इससे ईर्ष्या नहीं होगी, द्वेष नहीं होगा, उसके प्रति हीनता नहीं होगी बल्कि उसके प्रति आदरदृष्टि होगी। वह हमारे आदर का पात्र है क्योंकि वह भगवान् की कृपा का पात्र बना है लेकिन उसमें जो बुद्धि है, वह भगवान् की दी हुई है इसलिए उसका प्रयोग जैसे उसके लिए है वैसे हमारे लिए भी है। इस अवस्था में आप उसकी बुद्धि का पूरा-२ लाभ उठाते हुए, उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए तथा आदर व्यक्त करते हुए भी उसके दास नहीं बनोगे। यह एक बहुत बड़ी दृष्टि

है और यह दृष्टि हमें गीता देती है। इसी दृष्टि को इस सूत्र में व्यक्त किया गया है—

**तत्प्राप्य तदेवावलोकयति ।**

जो व्यक्ति भगवान् की सत्ता को अनुभव कर लेता है, वह सर्वत्र अपने भगवान् को ही देखता है। हरेक स्थिति में, हरेक अवस्था में, हरेक स्थान पर अपने प्रभु की महिमा को ही देखता है—'तदेव शृणोति।' सर्वत्र उसी की महिमा का ही श्रवण करता है, उसी की महिमा का वह चिन्तन करता है। उसके सिवा वह और किसी की बात सुनने के लिए तैयार नहीं होता। ऐसे व्यक्ति प्रभु से अभिन्न हो जाते हैं। यहाँ पर बताया गया है—

**तदेव शृणोति तदेव भाषयति।**

फिर वे प्रभु की महिमा का गान करते हैं, प्रभु के सम्बन्ध में ही वार्तालाप करते हैं। जैसे एक शायर ने लिखा है, मैं भी कभी-२ गाया करता हूँ—

**मैं तुम्हें पाने की हरदम जुस्तजू करता रहूँ,**
**सबसे तेरे प्यार की बस गुफ्तगू करता रहूँ।**
**दिल में ही करता रहूँ तेरी नमाज़े इश्क मैं,**
**दिल में सजदा और आँखों से वजू करता रहूँ॥**

यानी प्रत्येक स्थिति में अपने प्रभु की महिमा का चिन्तन, प्रभु का ही गान और प्रभु का ही स्मरण, उसके सिवाय उसके जीवन में दूसरे के लिए स्थान नहीं है। यह भक्त का लक्षण है। इस विषय में नारद जी का कथन है—'तदेव चिन्तयति' सतत प्रभु चिन्तन के सिवाय और कोई चिन्तन ही नहीं है। सन्त कबीर जी ने एक जगह कहा है—

**साधो सहज समाधि भली।**
**कहुउँ सो नाम सुनहुँ सो सुमिरन खाऊँ पीऊँ सो पूजा।**

जो मैं कहता हूँ, वह प्रभु का नाम है। जो सुनता हूँ प्रभु का सुमिरन है, जो कुछ सुन रहा हूँ, सब प्रभु से सम्बन्धित है क्योंकि शब्द तो प्रभु की देन है। जो सोलह मात्रिकाएँ हैं, क्या उनके अतिरिक्त आप कुछ बोल सकते हैं दुनिया में? दुनिया का सारा ज्ञान और विज्ञान उनके सिवा और किसी से सम्बन्धित नहीं है। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, इनको हमारे यहाँ षोडश मात्रिकाएँ कहा जाता है। इन्हें भगवती का साक्षात् स्वरूप माना गया है। इनका पूजन होता है। आप इनके बिना कुछ बोल नहीं सकते, कुछ कह नहीं सकते और इनके बिना कुछ सुन भी नहीं सकते। दुनिया में जहाँ तक शब्द का प्रसार है, वह सब इन्हीं से सम्बन्धित है। यदि इनको

अलग कर दिया जाए तो शब्द का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा इसलिए यही जगत् के आधार हैं। यह परमात्मा की शक्ति है। इन्हीं के बल पर सारा विश्व खड़ा हुआ है। जो कुछ कहते हैं इन्हीं का प्रयोग करते हैं। जो कुछं सुनते हैं इन्हीं को सुनते हैं। यही कवि समझा रहे हैं—

**कहूँ सो नाम सुनहुँ सो सुमिरन।**

ये षोडश मात्रिकाएँ भगवान् का नाम हैं, जो भगवत् शक्ति से सम्बन्धित हैं। उनका श्रवण भगवान् का श्रवण है, उनका कथन भगवान् का कथन है।

भारत में एक सन्त हुए हैं नामदेव। वे भगवान् से कहा करते थे कि क्या तुम्हारा नाम सहस्र नाम में पूरा हो गया? नहीं। मैं तुम्हें बताता हूँ कि तुम्हारा नाम क्या है? एक तरफ से कहते हैं—कीड़ी तू, मकौड़ा तू, कुत्ता तू, बिल्ली तू, शेर तू, हाथी तू, गधा तू, यानी जितने जीवों के नाम हैं, सबको कहते हैं कि यदि ये तू नहीं है तो कौन है तू? क्या तेरे से अलग और किसी की सत्ता है? यदि नहीं तो इनकी सत्ता अलग कैसे हो सकती है? ये भी तो तुम्हारे ही नाम हैं।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि उस भक्त की दृष्टि में जो कुछ शब्द हैं सब भगवान् से सम्बन्धित हैं। शब्द अच्छा नहीं है, शब्द बुरा नहीं है, शब्द तो शब्द है। शब्द ही अपने आप में पूर्ण रूप से सृष्टि का मूलाधार है। आज का वैज्ञानिक भी तो यही कहता है, यह बिगबैंग थियोरी भी तो यही समझा रही है। सबसे पहले एक बहुत गम्भीर एटोमिक धमाका हुआ और उससे एक गम्भीर शब्द निकला और उसी शब्द की वेव्स से यह सारा ब्रह्माण्ड बन गया। बिगबैंग थियोरी का यही मूलाधार है। दुनिया के सभी धर्म शास्त्रों का यही कथन है कि सृष्टि के मूल में शब्द कारण है। शब्द से ही सृष्टि हुई है। वेद कहता है शब्द से ही सृष्टि हुई, कुरान कहता है शब्द से ही सृष्टि हुई, बाईबिल कहती है शब्द से ही सृष्टि हुई। कुरान में लिखा गया है कि खुदा ने एक शब्द किया—'कुन'। उसके कुन कहने से सृष्टि बनी। हमारे यहाँ शास्त्रों में यह पढ़ने को मिलता है कि जब परमात्मा ने संकल्प किया तो संकल्प से उस शक्ति में गति हुई और उस गति में सर्वप्रथम एक शब्द निकला 'ॐ' और उस ॐ से सारी सृष्टि हुई। इसलिए—

**ओंकार मात्रं सचराचरं जगत्।**

यह चराचर जगत् केवल ओंकार मात्र है और कुछ नहीं। वेद में बताया गया है—

**सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।**
**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदँसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥**

कहा—ॐ के सिवा और कुछ भी नहीं है। ॐ ही ब्रह्म है। ब्रह्म माने विस्तार को

प्राप्त होने वाला या विस्तार करने वाला। दुनिया के जितने भी नवीन या प्राचीन ग्रन्थ हैं सबका ही कहना है कि शब्द से सृष्टि हुई है। आज का वैज्ञानिक भी यही मानता है कि सृष्टि का मूल कारण शब्द रहा है। इसी बात को हमारे सन्तों ने कहा है कि शब्द का आधार शेष मात्रिकाएँ हैं। इनके बिना शब्द नहीं हो सकता। शब्द अक्षर के संयोग से होता है और उस अक्षर की आधार मात्रिकाएँ हैं। बिना 'अ' के आप कोई अक्षर नहीं बोल सकते। अ आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ औ, सब 'आ' की ही वैरीऐशन्स हैं इसलिए मूल में अ इ उ हैं। इन्हीं से सारे शब्द बने हैं, अ उ मिलकर ओ बन जाता है, अ अ मिलकर आ बन जाता है। ये सारी मात्राएँ इसी से चलती हैं। इन्हें मात्रिकाएँ कहा जाता है। ये मात्रिकाएँ ही जीवन का मूलाधार हैं। ये इस सांसारिक प्रपञ्च की आधार हैं। ये सब परमात्मा की शक्ति से सम्बन्धित हैं इसलिए जो सदैव परमात्मा का चिन्तन करता रहता है, वह जो कुछ बोल रहा है, वह परमात्मा की महिमा का गान कर रहा है, जो कुछ सुन रहा है, वह परमात्मा की महिमा ही सुन रहा है और जिधर उसकी दृष्टि जा रही है उधर परमात्मा को ही देख रहा है—

**तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।**

*—ना०भ०सू० ५५*

ऐसा नारद जी ने भक्त के स्वरूप का वर्णन किया है। देवर्षि नारद जी आगे बता रहे हैं—

**गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा।**

*—ना०भ०सू० ५६*

भक्ति के दो भेद हैं-एक गौणी भक्ति दूसरी परा भक्ति। गौणी जिसे वैधा भक्ति भी कहते हैं, तीन प्रकार की होती है-आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी। गीता के सातवें अध्याय में यह बात बताई गई है—

**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।**
**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥**

*—गीता ७/१६*

ज्ञानी तो परा भक्ति का पात्र है लेकिन भक्त हैं—आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी। आर्त भक्त वह है जिसको विपत्ति पड़ने पर भगवान् याद आए जैसे-द्रोपदी। पति जुए में हार गए हैं। पाँचों पति उसके सामने बैठे हैं और दुर्योधन उसे नग्न करने का आदेश दे रहा है। उसको विश्वास है कि उसके पति उसकी रक्षा करेंगे। जब वह देखती है कि दुर्योधन के आदेश पर दुःशासन उसे नग्न करने के लिए खड़ा

हुआ है, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि गुरुजनों के होते हुए भी कोई उसे मना नहीं कर रहा तो फिर वह अपने पतियों की ओर देखती है। भीम, अर्जुन, धर्मराज युद्धिष्ठिर, नकुल और सहदेव सभी सिर नीचे करके बैठे रहते हैं। जब कोई भी उसकी सहायता के लिए आगे नहीं आता तो वह हार करके प्रभु को पुकारती है— "हा कृष्ण! द्वारिकावासी" द्रोपदी की पुकार द्वारिकानाथ सुनते हैं और वस्त्र रूप धारण करके द्रोपदी की रक्षा करते हैं। मेरा कहने का अभिप्राय, जब दुनिया के सारे सहारे खत्म हो जाते हैं तो व्यक्ति आर्त होकर प्रभु को पुकारता है।

द्रोपदी कहती है, "कृष्ण तुम बड़े कठोर हो।" भगवान् पूछते हैं— "क्यों, क्या बात है, बहन?" कहा—"गजेन्द्र ने तो तुम्हारा आधा ही नाम पुकारा था तो तुमने चक्र से ग्राह का काम तमाम कर दिया था और मेरी बार इतनी देर कर दी?" भगवान् कहते हैं—"द्रोपदी! तुम यह जानती हो कि जब तक दुनिया के अन्य सहारे होते हैं तब तक मैं सहारा नहीं बनता। तुम्हें तो पहले भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य पर विश्वास था। जिस समय दुशासन ने तुम्हारे केश पकड़े, तुम्हें घसीटता हुआ राजमहल से लेकर चला था तो उस समय तुम्हें कृष्ण याद नहीं आए। तूने कहा था—अरे दुष्ट! रुक जा, तू जानता नहीं भीम को, तू जानता नहीं अर्जुन को। तुम्हें उस समय भीम का गर्व था, अर्जुन का गर्व था, नकुल, सहदेव और युधिष्ठिर का गर्व था। कृष्ण का कोई गर्व नहीं था, न कृष्ण का ध्यान था। जब सभा में पहुँची तो देखा कि बड़े-२ गुरुजन सिर नीचे किए हुए हैं। उनका सहारा छूटा तो तुमने अपने पतियों की तरफ देखा। जब तुम्हारे पति भी सिर नीचे कर लिए तब तुम्हें कृष्ण याद आए, इतनी देर से, लेकिन जब मैं तुम्हें याद आया तब भी तुम्हें अपनी बाजुओं का भरोसा था कि मैं साड़ी को पकड़ रखी हूँ, कैसे खींचेगा? लेकिन दुशासन के झटके से जब तेरे हाथ सम्भालने में असमर्थ हुए तो तूने दोनों हाथों को ऊपर उठाया—हा कृष्ण! द्वारिकावासी। तुम तो जानती हो, बहन! द्वारिका यहाँ से कितनी दूर है। द्वारिका से आने में मुझे देर तो लगनी ही थी।" कहा—"जिस समय दुशासन तुम्हारे केश पकड़ कर खींचता रहा, उस समय भी मैं वहीं था, सब देख रहा था। मैं प्रतीक्षा कर रहा था कि तू मुझे पुकारे और मैं पहुँच जाऊँ लेकिन तुम्हारे हृदय में कृष्ण का स्मरण नहीं हुआ। जब तुम्हारा कोई सहारा नहीं रहा तो तुम्हें कृष्ण याद आया।"

भगवान् ने वहाँ पर बताया है कि जब तक दुनिया का एक भी सहारा होता है तब तक मैं सहारा नहीं बनता। गीता में भगवान् ने बताया है—

**उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।**
**परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥**

*—गीता १३/२२*

वह परम पुरुष इसी शरीर में ही है। सब कुछ देख रहा है, वह कुछ नहीं कहता। वह तो तमाशा देखने वाला है। तुलसीदास जी ने लिखा है—

**जग पेखन तुम देखन हारे। विधि हरि सम्भू नचावन हारे॥**

वह तमाशगीर है, वह उपद्रष्टा है। जब आप कहते हो—हे भगवन्! आप मेरी और दया करो तो वह उपद्रष्टा के बाद अनुमन्ता बन जाता है। जब आप कहते हो—प्रभो! आप ही मेरा आश्रय हैं-'अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं हरि'। तब अनुमन्ता के बाद भर्ता बन जाते हो। भर्ता माने रक्षक। रक्षक ही भोक्ता है, वही महेश्वर है। जब तक तुम उसे नहीं पुकारोगे तब तक वह केवल उपद्रष्टा ही रहेगा। वह केवल देखता ही रहेगा। यही बात वेद में बताई गई है—

**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नयो अभिचाकशीति॥**

*—मुण्डक० ३/१-१*

एक पेड़ पर दो पक्षी बैठे हैं। एक पक्षी तो उस वृक्ष के फल को खाने में लगा हुआ है और दूसरा केवल देख रहा है। उस वृक्ष के फल कितनी प्रकार के हैं? क्या केवल एक प्रकार के हैं? नहीं—

**फल जुगल विधि कटु मधुर ।**

उस वृक्ष पर दो प्रकार के फल लगते हैं-कड़वे और मीठे। कड़वे माने दुःख, मीठे माने सुख। वृक्ष माने शरीर, पक्षी माने आत्मा और परमात्मा। इस मनुष्य शरीर रूपी वृक्ष पर आत्मा और परमात्मा दोनों प्रकार के पक्षी बैठे हैं, उसमें एक तो इस पीपल के वृक्ष का फल खाता है। इस शरीर में सुख दुःख को भोगता रहता है और 'अनश्नन्यो' बिना खाते हुए अन्य जो है (अभिचाकशीति) वह केवल देखता रहता है।

**जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥**

वेद कहता है कि वो फल खाने वाला दुःखी होता है, रोता है। वह मोह के वशीभूत होकर के असमर्थ हो करके सोचता है। जब कभी वह अपने बगल वाले

पक्षी को देख लेता है अर्थात् वह दूसरे पूज्य ईश को जब देखता है यानी परमात्मा का जब साक्षात्कार करता है और इसकी महिमा को जब देखता है तो तुरन्त शोक मुक्त हो जाता है। उसको देखा वही हो गया क्योंकि वही था। वेद का बड़ा ही विलक्षण सिद्धान्त है। यही बात गीता में कही गयी है, यही बात रामायण में भी बताई गई है और यही बात नारद भक्ति सूत्र में भी बताई गई है कि भगवान् के तीन प्रकार के भक्त होते हैं । आर्त भक्त जब दुनिया से निराश होकर भगवान् को पुकारता है तो भगवान् उसके संकट को दूर करने के लिए पहुँच जाते हैं। वे हैं तो वहीं लेकिन जब तक उन्हें पुकारें न तब तक वो किसी भी प्रकार का हस्ताक्षेप नहीं करते। अपने कर्मानुसार तुम दुःख-सुख को भोगते हो। हाँ, जब तुम उनको पुकारोगे तो वे तुमसे दूर नहीं रहेंगे।

**गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा॥**

*—ना०भ०सू० ५६*

गुण भेद से आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तीन प्रकार के गौणी भक्ति के भक्त होते हैं। आर्त के बाद अर्थार्थी है। अर्थार्थी माने अर्थ प्राप्ति के लिए भगवान् की भक्ति करना, उपासना करना। एक बात और बता दूँ आपको कि यदि कोई आर्त अपनी विपत्ति दूर करने के लिए भगवान् को पुकारता है या फिर सम्पत्ति के अभाव की पूर्ति के लिए या ज्ञान की प्राप्ति के लिए पुकारता है तो भगवान् कहते हैं कि वह भी मेरा भक्त है—

**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।**

*—गीता ७/१६*

**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।**

*—गीता ७/१५*

जो किसी भी प्रकार से मुझे याद नहीं करता वह दुष्कृति है, वह मूढ़ है, वह अधम नर है लेकिन जो विपत्ति में भी मुझे पुकारता है, अभाव में भी मुझे पुकारता है, चाहे स्वार्थ के लिए, चाहे दुःख दूर करने के लिए मुझे पुकारता है, वह मेरा भक्त है। अभाव को दूर करने के लिए अन्याय तो नहीं करता, मुझे पुकारता है, कौन सी गलती करता है? कुछ लोग कहते हैं कि हम भगवान् की थोड़ी सी पूजा करते हैं, दस बार भगवान् से मांगते हैं। मैं कहता हूँ कि तुम पूजा न भी करो तो भी दस बार भगवान् से मांगो, तुम्हारा अधिकार है। यह कोई कानून नहीं है कि बच्चा यदि बाप को एक गिलास जल पिलावे तभी वह बाप से कह सकता है कि हमारी फीस दे दो या हमारे कपड़े ला दो। यदि शरीर के बाप की सेवा किए बिना वह

सब कुछ मांगने का अधिकार रखता है तो असली बाप से वह क्यों नहीं माँग सकता? वह भगवान् को एक लोटा जल चढ़ा कर कुछ मांग रहा है, कोई गलती नहीं कर रहा है। भगवान् उसके पिता हैं, स्वामी हैं, सर्वस्व हैं। भगवान् गीता में कहते हैं—

**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।**

मेरे चार प्रकार के भक्त हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।

**तेषां ज्ञानी नित्युक्त एक भक्तिर्विशिष्यते।**
**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥**

*—गीता ७/१७*

ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ है। ज्ञानी तो मेरी आत्मा है। वह तो मेरा स्वरूप है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भगवान् को अप्रिय है। आपके चार लड़के हैं, एक लड़का आया, कहा—पिता जी मुझे एक रुपया दे दो। आप पूछेंगे—"क्या करना है?" वो कहता है कि हमें कुछ खरीदना है। आप कहेंगे कि नहीं एक रुपया नहीं ५० पैसे ले जा। दूसरा लड़का आया, एक रुपया मांगा तो आपने कहा—अच्छा यह ले एक रुपया। तीसरा लड़का एक रुपया मांगता है तो आप बिना पूछे डालर निकाल कर दे देते हो। चौथा लड़का आया तो आप चाबी निकाल कर दे देते हो कि जाओ वहाँ से ले लो। अब इन चारों बच्चों के साथ आपका चार प्रकार का व्यवहार है। एक ने मांगा एक रुपया तो आपने तो दिए ५० पैसे क्योंकि उस छोटे बच्चे को लोलीपोप खाना था। आपने सोचा कि यदि इसे एक रुपया देंगे तो यह खराब करेगा, जितने में इसकी चाकलेट या आईसक्रीम आती है, उतना ही दे दो। दूसरे ने मांगा तो आपने हिसाब लगाया कि हाँ, ठीक है, इतने ही लगेंगे तो आपने दे दिया। तीसरे ने रुपया मांगा तो आपने बिना कुछ पूछे रुपया दे दिया क्योंकि आप जानते हो कि यह बड़ा समझदार है, बिना जरूरत के मांगता ही नहीं है, इसलिए आपने दे दिया। चौथा आपका सबसे बड़ा बच्चा है, उसने जब रुपया मांगा तो आपने चाबी दे दी क्योंकि आप जानते हो कि इसको जितने की जरूरत होगी यह उतने ही लेगा, नुकसान नहीं करेगा। वह बड़ा बच्चा आपको ज्यादा प्रिय है और वह छोटा जिसको एक रुपया मांगने पर भी आपने ५० पैसे दिए, वह कम प्रिय है क्या? ऐसी बात तो नहीं है। हैं ये चारों आपके बच्चे परन्तु इन चारों के साथ आपका चार प्रकार का व्यवहार क्यों है? इसलिए कि इनकी योग्यता, इनकी स्थिति, इनका विकास, जिस स्तर का है, उस स्तर का आप व्यवहार करते हो। कहीं आपको जाना है आप नहीं जा सकते,

आप अपने बड़े लड़के को भेज देते हो और अपने मित्र से कहते हो कि मैं तो नहीं आ सकता लेकिन मेरा बड़ा लड़का आयेगा, तुम मुझे ही समझना। क्यों, कारण क्या? उन तीनों को भेज कर क्यों नहीं कहते कि आप मुझे ही समझ लेना क्योंकि वे बालक हैं, नादान हैं। यही भगवान् कहते हैं कि चार प्रकार के मेरे भक्त हैं। एक तो ज्ञानी भक्त हैं, जिनके लिए कहा कि 'ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्।' ज्ञानी तो मेरी ही आत्मा है, मेरा ही स्वरूप है। उसमें और मेरे में कोई भेद नहीं है, वो पूर्णरूप से मेरे से अभिन्न है। मेरे सिवा उसके लिए कुछ नहीं है और उसके सिवा मेरे लिए कोई नहीं है।

**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥**

*—गीता ६/३०*

वह ज्ञानी भक्त है। दूसरा जिज्ञासु भक्त है। उसने मांगा आपने दे दिया। क्या करेगा, यह नहीं पूछा आपने, वह जिज्ञासु भक्त है। तीसरा मांगा और आपने पूछा, क्या करेगा? उसने काम बताया और आपने दे दिया, वह आर्त भक्त है। चौथे ने मांगा, आपने पूछा, क्या करना? वह कहा-यह करना है, इतना चाहिए। आपने कहा-इतना नहीं, इतना देना है, वह अर्थार्थी भक्त है। अर्थार्थी भक्त जो मांगे भगवान् उसे देते ही जाएँ? नहीं, ऐसा नहीं होता। क्या ऐसा कभी होता है कि आपका छोटा बच्चा जो मांगता जाए और आप उसे देते ही जाओ? नहीं। वह अर्थार्थी भक्त है। अभी वह संसार से थोड़ा सा ऊपर उठा है, उसमें भक्ति इतनी आई है कि वह अपनी पूर्ति के लिए संसार से नहीं मांगता, बस तुमसे मांगता है। आर्त वैसे भगवान् से नहीं मांगता, जब बहुत जरूरत पड़े तब मांगता है। विपत्ति में पड़ा तो भगवान् को पुकारा नहीं, भगवान् का स्मरण उसके हृदय में है लेकिन भगवान् को पुकारने के लिए तैयार नहीं है। तीसरा जिज्ञासु भक्त है, भगवान् से ज्ञान मांगता है। भगवान् से सत्य की जानकारी मांगता है। जो आवश्यक है उसको मांगता है इसलिए भगवान् नहीं, नहीं करता। चौथा ज्ञानी भक्त है जो स्वयं भगवत् स्वरूप है। तीन प्रकार के भक्त—आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु-ये वैधा भक्ति के उपासक हैं। चौथी गौणी भक्ति नहीं परा भक्ति है, प्रेमा भक्ति है। यहाँ पर देवर्षि नारद कहते हैं—

**गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा ॥**

*—ना०भ०सू० ५६*

ये तीन प्रकार की भक्ति गुण भेद से आर्तादि भेद के रूप में हुआ करती हैं। गुण भेद माने किसी में पूर्ण सतोगुण है, किसी में रजोगुण है, किसी में कुछ सतोगुण और कुछ रजोगुण है, ज्ञानी तो पूर्ण गुणातीत है। वह गुण युक्त नहीं है। जिज्ञासु शुद्ध सतोगुण से युक्त है—

**सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई॥**

—रा० ७/११७-९

तब वह जिज्ञासु बनता है। जिसमें कुछ रजोगुण है वह आर्त है। जिसमें कुछ सतोगुण, कुछ रजोगुण और अभी कुछ तमोगुण की भी मात्रा मिली हुई है, वह अर्थार्थी है, इस प्रकार से गुणानुसार ही उसकी चित्त की अवस्था होगी। सतोगुण की प्रधानता में वह भगवान् की भक्ति में लगा हुआ है। अभाव की पूर्ति वह भगवान् से चाहता है 'गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा।' आगे नारद जी कहते हैं—

**उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति ॥**

—ना०भ०सू० ५७

वही बात, जैसे-जैसे मैंने आपको समझाया कि पहले से पूर्व वाली भक्ति श्रेष्ठ हुआ करती है। अर्थार्थी से आर्त, आर्त से जिज्ञासु, जिज्ञासु से ज्ञानी श्रेष्ठ हुआ करते हैं। यह धीरे-२ विकास की अवस्था है। पहले तो स्वार्थमयी भक्ति हुआ करती है फिर निस्वार्थ भक्ति करो। निस्वार्थ भक्ति एकाएक नहीं होती। इतनी सरल नहीं है। एक बार यदि प्रभु की महिमा का बोध हो गया, उसकी अनुभूति हो गई, उसकी रक्षा का पात्र बन गया फिर निस्वार्थ भक्ति होती है। जैसे ज्ञानी श्रेष्ठ है, ज्ञानी के दूसरे स्तर पर जिज्ञासु है, जिज्ञासु के दूसरे स्तर पर आर्त है, आर्त के दूसरे स्तर पर अर्थार्थी है-एक की अपेक्षा दूसरा श्रेष्ठ है। इन दोनों सूत्रों में भक्ति की महत्ता का वर्णन करते हुए आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी, ये चार प्रकार के भक्त जो यहाँ बताए गए हैं, इनमें किस श्रेणी में हम आते हैं, ऐसा साधक को हमेशा अपना अनुसंधान करना चाहिए, अपने आपको देखते रहना चाहिए और फिर उपासना की दिशा में आगे कदम बढ़ाना चाहिए। यहाँ पर एक बात और नारद जी कहते हैं—

**अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥**

—ना०भ०सू० ५८

अन्य सब की अपेक्षा भक्ति सुलभ है। अन्य सब की अपेक्षा माने? जैसे गीता में बताया है—

**तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।**
**कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥**
**योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।**
**श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥**

*—गीता ६/४६, ४७*

भगवान् ने कहा है कि इन योगियों में से भी भक्त योगी श्रेष्ठ है। जो मेरा ही ध्यान करता है, जो मेरा ही चिन्तन करता है, मेरे में रत रहता है, वह ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है। क्योंकि—'अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ॥' अन्य में दूसरे का सहारा लेना पड़ता है लेकिन भक्ति में आश्रय भगवान् होते हैं और कोई दूसरा नहीं। कर्म में आश्रय संसार है, तपस्या में आश्रय शरीर है, ज्ञान में आश्रय शास्त्र है लेकिन प्रेम में, भक्ति में आश्रय भगवान् हैं।

**साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥**

*—रा० २/२८९-८*

भगवान् ही साधन हैं, भगवान् ही सिद्धि हैं। दोनों ही भगवान् हैं, भगवान् के अतिरिक्त और कोई आश्रय नहीं, वहाँ पर परतन्त्रता के लिए गुंजाइश नहीं, पराश्रयता के लिए गुंजाइश नहीं है इसलिए भक्ति के लिए किसी अन्य प्रमाण की जरूरत नहीं होती, वह स्वयं में प्रमाण है। यह बात जो यहाँ पर नारद जी ने कही है, इसकी व्याख्या आपको कल सुनाई जाएगी।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## १७

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! कल आप लोगों को भक्ति सूत्र के चार सूत्रों का विशेष रूप से विवेचन सुनाया गया था। जो भगवान् की झाँकी प्राप्त कर लेता है, उसके लिए देवर्षि नारद जी कहते हैं—

**तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव श्रृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्यति॥**

—ना० भ० सू० ५५

सर्वत्र अपने प्रभु को ही देखता है, प्रभु की ही महिमा को सुनता है, प्रभु के विषय में ही चर्चा करता है और प्रभु के ही चिन्तन में निमग्न रहता है, इसका वृहद् विवेचन कल किया था लेकिन जो भक्त अभी प्रारम्भिक अवस्था में है, उसको निराश नहीं होना चाहिए, उसको चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि हमारी तो अभी यह स्थिति नहीं आई। उसके लिए बताते हैं पहले साधना भक्ति फिर सिद्धा भक्ति। ऊपर जो गुण हैं वे सिद्धा भक्ति के हैं साधना भक्ति में ऐसा नहीं होता। साधना भक्ति के लिए बता रहे हैं—

**गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा।**

—ना० भ० सू० ५६

साधना भक्ति तीन प्रकार की होती है, उसमें गुण भेद से आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी, ये तीन प्रकार के भेद होते हैं। जैसा कि गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है—

**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतवर्षभ।**

*— गीता ७/१६*

कल मैंने इसकी व्याख्या आपको बताई थी। इसमें बताया है—

**उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति।**

*— ना० भ० सू० ५७*

एक की अपेक्षा दूसरी श्रेष्ठ है जैसे अर्थार्थी से आर्त श्रेष्ठ है। अर्थार्थी का स्वार्थवश परमात्मा से प्यार होता है। हम संकट में पड़े तो प्रभु से प्रार्थना की कि प्रभु हमारी इस विपत्ति से रक्षा करो, हम तुम्हारी अमुक प्रकार से उपासना करेंगे। यदि वह विपत्ति हमारी दूर हो गई तो हमारी श्रद्धा भगवान् में हो गई कि भगवान् ने हमारी वह विपत्ति दूर की है। हम अब उनकी पूजा करेंगे। यह कृतज्ञता धीरे-२ प्रबल होती जाएगी और हम भगवान् की उपासना में लग जाएँगे, भगवान् से प्रार्थना करेंगे कि भगवान् हमारे संकट को दूर करे। यह जो वृत्ति है भगवान् से प्रार्थना करने की, यह कोई नयी नहीं है। वेद में हज़ारों मन्त्र हैं जिनमें भगवान् से केवल अपनी विपत्ति दूर करने की ही प्रार्थना की गई है। हज़ारों मन्त्र ऐसे हैं जिनमें केवल भगवान् से अर्थ प्राप्ति की ही प्रार्थना है। वैदिक ऋषि यथार्थवादी ऋषि थे, वे केवल आदर्शवादी नहीं थे। उनका यथार्थ आदर्श से जुड़ा हुआ था। यदि उनके सिद्धान्त को हम कहें कि आदर्शनिष्ठ यथार्थवादी सिद्धान्त, तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। आदर्शनिष्ठ यथार्थवादी का अभिप्राय होता है कि जो अपने वर्तमान की स्थिति को भी स्वीकार करता हो लेकिन अपने प्राप्तव्य (लक्ष्य) को भी न भूले, उसमें निष्ठा हो। अपने लक्ष्य में निष्ठा रखते हुए अपने वर्तमान के प्रति सजग रहना यह है आदर्शनिष्ठ यथार्थवाद का दृष्टिकोण। वैदिक ऋषियों के जीवन में हमें यही दृष्टिकोण दिखाई देता है। वे परब्रह्म की प्राप्ति के लिए साधन करते हैं लेकिन बीच में विपत्ति नाश और अर्थ प्राप्ति के लिए भी भगवान् से याचना करते हैं इसलिए कि मनुष्य केवल आत्मा ही नहीं आत्मा से अतिरिक्त भी कुछ है, इसको चाहे शरीर कह दो, इन्द्रियाँ कह दो, मन कह दो, बुद्धि कह दो और अहं कह दो, ये सब आत्मा तो नहीं और न ये आत्मा के अतिरिक्त हैं। इनको घटाने से क्या मनुष्य कुछ रह जाएगा? नहीं रहेगा।

आत्मा की तो कोई संज्ञा नहीं है। न तो वह मनुष्य है, न वह पशु है और न पक्षी है। उसके लिए कोई निषेधात्मक विधान होगा? नहीं होगा, न वहाँ विधि है न निषेध है। न वहाँ करना है न वहाँ नहीं करना है। करने न करने का विधान वेद में किसके लिए है? मनुष्य के लिए। वेद विज्ञान केवल मनुष्य के लिए है

और मनुष्य केवल आत्मा नहीं है। वह आत्मा के साथ बुद्धि भी है, अहं भी है, मन भी है, इन्द्रियाँ भी हैं, शरीर भी है। ये पाँच जो कोष कहे जाते हैं, इन पाँचों कोषों से युक्त आत्मा मनुष्य है। पंच कोष रहित आत्मा नहीं है। पाँचों कोषों की भी तो कुछ आवश्यकताएँ हैं। यदि इन आवश्यकताओं की हम उपेक्षा कर दें तो क्या हम मनुष्य का उत्थान कर सकते हैं? क्या मनुष्य के जीवन को व्यवस्थित कर सकते हैं? सर्वथा मुश्किल है इसलिए वैदिक ऋषि आदर्शनिष्ठ हैं, आत्मनिष्ठ हैं। आत्मा उनका आदर्श है। आत्मनिष्ठ होते हुए भी यथार्थवादी हैं। यथार्थवादी माने इसकी सत्ता अर्थात् इन्द्रियों की सत्ता को, मन की सत्ता को, बुद्धि की सत्ता को, अहं की सत्ता को वे अस्वीकार नहीं करते, इनको वे स्वीकार करते हैं। इनके विषय में सजग हैं साध्यरूप से नहीं साधन रूप से। इनकी सत्ता साधनात्मक है साध्यात्मक नहीं। यदि आपका साधन ही विकृत हो जाए तो क्या कभी आप लक्ष्य तक पहुँच पायेंगे? साधन की व्यवस्था उतनी ही आवश्यक है जितनी कि साध्य की स्मृति। यदि हम साध्य की स्मृति नहीं बनायें रखेंगे तो साधन को ही साध्य मान लेंगे। आज आपको ९९% लोग मिलेंगे जिन्होंने साधन को ही साध्य मान रखा है। उन्हें साध्य की स्मृति है ही नहीं। ऋषि बार-२ उसे साध्य की स्मृति दिलाते हैं लेकिन यह नहीं कहते कि साध्य की तुम उपेक्षा करो। मनुष्य जब साधन से अधिक साध्य बुद्धि कर लेता है तो उसके सामने साधन के दोषों को बता कर के उसमें से आस्था हटाने के सिवा और कोई चारा नहीं रहता। जिस समय आचार्य शंकर का आविर्भाव हुआ था, उन दिनों साधन को ही लोग साध्य मान बैठे थे क्योंकि कर्मकाण्ड की प्रधानता थी, उस स्थिति को देखते हुए आचार्य शंकर ने साधन के दोषों को एक-एक करके मनुष्य के सामने रखा और इसका विश्लेषण करके इसकी निस्सारता भी मनुष्य के सामने रखी क्योंकि इससे उसकी विरक्ति हो जाए और साध्य की स्मृति हो जाए लेकिन उलटा असर हो गया। जो लोग साध्य में अनुरक्त नहीं हो सकते थे, उन्होंने कहा यह तो हमारे लिए है नहीं, यह तो संन्यासियों के लिए है। जो लोग साध्य में अनुरक्त होने की क्षमता रखते थे, उन्होंने इसको भ्रम, माया तथा मिथ्या बता कर अस्वीकार कर दिया और इससे दूर हो गए। भारतीय मानव समाज दो भागों में विभक्त हो गया, एक तो वे लोग जो संसारी कहे जाने लगे और दूसरे वे लोग जो असंसारी सन्त कहे जाने लगे। यह जो १५०० वर्षों की हमारी संस्कृति है, भारत की सामाजिक स्थिति है, इसको यदि गम्भीरता से देखेंगे तो दो संस्कृतियों वाली स्थिति मिलेगी। जो वेदान्त की व्याख्या है, उसका साकार स्वरूप आपको मिलेगा सन्तों में। एक से एक त्यागी,

एक से एक विद्वान्, एक से एक तपस्वी, दुनिया को बिल्कुल तिनके के समान समझने वाले 'समलोष्टा समकाँचना' की स्थिति रखने वाले भारत में आज भी कम नहीं हैं, आज भी आपको हज़ारों मिलेंगे और ऐसे भी लोग मिलेंगे जिन्होंने भगवान् को दूर से नमस्कार करने के सिवा और कुछ नहीं किया है। उनके जीवन का लक्ष्य केवल धन इकट्ठा करना ही है। यदि आप उनसे विरक्ति की बात करो तो वे कहेंगे कि हम तो संन्यासी नहीं हैं हम तो गृहस्थ हैं, हमें तो यही करना है यानी समाज दो भागों में बँट गया है। हज़ार पन्द्रह सौ वर्ष से पूर्व का जीवन, जब भारत पतन की स्थिति में नहीं था, आप देखिए तो आपको ऐसा विभाजन नहीं मिलेगा। वहाँ गृहस्थ और विरक्त का ऐसा विभाजन नहीं था। बड़े-२ ऋषियों को आप देखिए याज्ञवल्क्य ऐसे, जो दरबारों में आकर शास्त्रार्थ करते हैं। शास्त्रार्थ करने के पश्चात् वह अतुल सम्पत्ति को जीत कर ले आते हैं और अपने आश्रम में रखते हैं। एक-एक ऋषि का इतना बड़ा आश्रम है जिसमें ८८००० विद्यार्थी अध्ययन कर रहे हैं और ऋषि उसको चला रहे हैं। ऋषियों का जीवन उन दिनों ऐसा नहीं था। आचार्य शंकर ने पाँच श्लोक लिखे हैं—

**कोपीनवन्तं खलु भागवन्तम्।**

कहा—सबसे बड़ा भगवान् कौन है दुनिया में? जिसके पास केवल एक कोपीन है। शेष सब भाग्यहीन हैं, ऐसी उन ऋषियों की दृष्टि नहीं है। जिन ऋषियों के द्वारा इस प्रकार के शास्त्रों का आविर्भाव हुआ है, वे ऋषि तो बिल्कुल आदर्शनिष्ठ यथार्थवादी थे। वे जानते थे कि जिन्दगी को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए दोनों की ही आवश्यकता है। जब तक आप साध्य तक नहीं पहुँच पाए तो आपके लिए साधन भी उतना मूल्यवान् है जितना कि साध्य। जब आप साध्य तक पहुँच गए तो आपके लिए साधन साधन है लेकिन वह आपके लिए मूल्यहीन हो गया। दूसरा जो आने वाला है उसके लिए उसकी उपयोगिता अब भी बनी हुई है, यह दृष्टिकोण है हमारे ऋषियों का। हज़ार वर्ष के इतिहास में यह दृष्टिकोण और भी दूषित हो गया है। कभी-कभी सोच करके बड़ी व्यथा होती है कि कितना सुन्दर उपदेश था वैदिक ऋषियों का और वह सारा समाप्त हो गया। गृहस्थी सोचते हैं कि हम पाप करने के हकदार हैं और संन्यासी सोचता है कि हम संसार की एक्टीविटी से अलग होने के पूरे हकदार हैं, हमारी समाज के प्रति कोई जिम्मेवारी नहीं है। यह हमारे देश का दुर्भाग्य रहा है जो कि दो प्रकार की विचारधाराएँ देश में पनपी। शास्त्रकारों ने कोई दिशा निर्देश नहीं किया। हाँ, प्रवत्ति मार्गी और

निवृत्ति मार्गी, दो प्रकार के लोग रहे हैं, प्राचीन ग्रन्थों में उनका उल्लेख मिलता है। प्रवृत्ति मार्गी भी उसी लक्ष्य तक जा रहा है जिस लक्ष्य तक निवृत्ति मार्गी जा रहा है। इसकी व्याख्या गीता के तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्याय में कर्म संन्यासी और कर्मयोगी कह कर की गई है।

**तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥**

*—गीता ५/२*

कर्मसंन्यासी निवृत्ति मार्गी है कर्मयोगी प्रवृत्ति मार्गी है-ये दो प्रकार के रास्ते हैं। दुर्भाग्य से वह आदर्शनिष्ठ यथार्थवाद की सारी साधना ही समाप्त हो गई।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि देवर्षि नारद जी कहते हैं कि जो अर्थ के लिए प्रभु की उपासना करता है, वह भी प्रभु का भक्त है अर्थात् वह भी उसी रास्ते पर चल रहा है, जो अपनी विपत्ति को दूर करने के लिए प्रभु की उपासना करता है, वह भी उसी रास्ते पर चल रहा है, जो अपनी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए प्रभु की उपासना कर रहा है, वह भी उसी रास्ते पर चल रहा है—ये सब साधक हैं और इसे गौणी भक्त कहते हैं। इस प्रकार की भक्ति में और यथार्थ भक्ति में क्या अन्तर है? उसमें केवल इतना अन्तर है कि जिस समय हम साधनावस्था में हैं, आर्त हैं, अर्थार्थी हैं, जिज्ञासु हैं, उस समय हमारे जीवन का लक्ष्य, साधना का लक्ष्य भगवान् नहीं है। क्या है? अर्थार्थी अर्थ की प्राप्ति के लिए, आर्त के विपत्ति के निवारणार्थ है, जिज्ञासु जिज्ञासा की पूर्ति के लिए लेकिन इसके साधन रूप में किसको स्वीकार करता है? भगवान् को। वहाँ भगवान् साधन है और ये तीनों इच्छायें साध्य हैं। भगवान् को साधन बना रखा है उसने इसलिए भगवान् कहते हैं कि वह भी मेरा भक्त है क्योंकि उसने हमें साधन तो माना, हमारी महत्ता तो स्वीकार की, दुनिया की महत्ता तो अब उसके दिमाग में नहीं रही। उसने अब भगवान् का आश्रय तो स्वीकार किया कि अब मैं भगवान् के आश्रित हूँ, भगवान् ही मेरी सुनेंगे। अब यदि वह इस प्रकार हमें स्वीकार करके हमारी तरफ आगे बढ़ा है तो एक दिन ऐसी स्थिति आ जाएगी जबकि वह ज्ञानी बन जाएगा। यह है क्रमशः विकास की स्थिति, इसको गौणी भक्ति कहते हैं।

**उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति।**

*—ना० भ० सू० ५७*

इसमें अर्थार्थी से आर्त, आर्त से जिज्ञासु, जिज्ञासु से ज्ञानी और ज्ञानी तो सबसे श्रेष्ठ है ही। भगवान् ने कहा है—

**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते ।**

रामायण में भी तुलसीदास जी ने यही बात लिखी है—

**राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृति चारिउ अनघ उदारा ॥**
**चहु चतुर कहुँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा ॥**

ज्ञानी प्रभु को विशेष प्रिय है क्योंकि ज्ञानी के जीवन का लक्ष्य प्रभु है, बाकी सब साधन हैं। इन तीनों का लक्ष्य भिन्न है, साधन प्रभु है। एक में प्रभु साधन है दूसरे में प्रभु ही साध्य हैं-इतना अन्तर है दोनों में। अब यहाँ पर बता रहे हैं कि यदि साधन रूप में भी तुम भगवान् को स्वीकार कर लो तब भी तुम भगवान् की तरफ आगे बढ़ने लगोगे। इसलिए—

**अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥**

*—ना० भ० सू० ५८*

अन्य साधनों की अपेक्षा भक्ति सुलभ है। यही बात भगवान् ने गीता में बताई है—

**तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।**

*—गीता ८/१४*

भगवान् से अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! आपको प्राप्त करना बड़ा कठिन है। कोई ऐसा साधन बताइए जिससे आप सुलभ हों।" भगवान् ने कहा, मैं केवल उसी के लिए सुलभ हूँ जो अनन्य भाव से मेरी उपासना करता है यानी अब दूसरों का आश्रय उसने छोड़ दिया है। वह जान गया है कि दुनिया से उसे सुख नहीं मिलने का। दुनिया वाले उसकी पूर्ति नहीं कर सकते, दुनिया के लोग उसकी विपत्ति को दूर नहीं कर सकते इसलिए अब अनन्य भाव से उसने प्रभु का आश्रय ले लिया है। प्रभु का आश्रय लेने के नाते वह उनका अनन्य बन गया है—

**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।**
**तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥**

*—गीता ९/२२*

भगवान् कहते हैं कि उस नित्ययुक्त के योग और क्षेम का वहन मैं कर लेता हूँ। एक दिन मैंने बताया था कि जो उसके पास नहीं है, उसको उपलब्ध करवाना योग है, जो है, उसकी रक्षा करना क्षेम है—भगवान् दोनों की व्यवस्था करते हैं। संसार के सारे वैभव हों उससे उसकी तृप्ति तो नहीं होती। तृप्ति का साधन तो भगवान् के साथ आत्मीयता की अनुभूति है, एकता की अनुभूति है। इस योग की पूर्ति उसे भगवत् कृपा से प्राप्त हो जाती है। भगवान् की अनुभूति के पश्चात्

भगवान् से चित्त विचलित होकर संसार में न गिरे, यह भी जिम्मेदारी भगवान् की हो जाती है। भगवान् उसकी सम्भाल करते हैं। भगवान् ने कहा है ऐसे जो मेरे अनन्य उपासक हैं—

**तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।**

जो नित्य युक्त योगी हैं, जो हमेशा मेरे में ही लगे रहते हैं, ऐसे योगियों के लिए मैं सुलभ हूँ। भगवान् के भक्तों के लिए भगवान् सुलभ हैं, इसलिए नारद जी कहते हैं—

**अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥**

*—ना०भ०सू० ५८*

अन्य साधनों की अपेक्षा भक्ति सुलभ है। भगवान् ने कहा है भक्ति में कुछ करना नहीं है। बात बड़े मजे की कही है भगवान् ने कि अन्य जितने देवता हैं, उनकी उपासना के लिए विशेष विधान है और उस विधान से यदि आप उनकी उपासना करते हैं तभी वे देवता प्रसन्न होंगे अन्यथा नहीं लेकिन भगवान् की उपासना इतनी सुगम है, उसके लिए कोई विधान नहीं है—

**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
**यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥**

*—गीता ९/२७*

जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ देता है, जो कुछ तप करता है, सब मुझे अर्पण कर दे, यही मेरी पूजा है। सरल कितनी है? यदि यह भी न हो तो पत्रम्-पत्ता मिल जाए, पुष्पम्-पुष्प मिल जाए, फलम्-फल मिल जाए तो मुझे अर्पण कर दो। कहा—'यह भी मुश्किल है।' कहा—'तोयं' जल तो मिलता है भले आदमी कि वह भी नहीं मिलता? कहा—

**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।**
**तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥**

*—गीता ९/२६*

"भक्ति से दिया हुआ मैं प्रीतिपूर्वक खा लेता हूँ। मैं पत्ता भी खा लेता हूँ, फूल भी खा लेता हूँ, फल भी खा लेता हूँ, जल भी पी लेता हूँ अर्थात् जो कुछ भी भक्तिपूर्वक देता है, मैं खा लेता हूँ।" उसके लिए किसी विधान की जरूरत नहीं है कि भगवान् के लिए पकवान ही चाहिए। भगवान् कहते हैं कि दुर्योधन के यहाँ पकवान बना हुआ था, पकवान तो मैंने त्याग कर विदुर के घर साग खाया। आप लोग पढ़ते हो—

दुर्योधन घर मेवा त्यागा, साग विदुर घर खाया।

भगवान् को तो भाव प्रिय है। एक बहुत सुन्दर श्लोक लिखा है, भक्त ने उसमें बताया—

**व्याधस्या चर्णं, ध्रुवस्य चवयो, विद्या गजेन्द्रस्य का,**
**का जातिर्विदुरस्य, यादव पतेरुग्रस्य किं पौरुषम्,**
**कुब्जायां किं नाम रूपमधिकं किं तत्सुदामनोधम्,**
**भक्त्या तुष्यति केवलैर्नयगुणैर्भक्तिं प्रियो माधवः।**

कहा—प्रभु को केवल प्रेम से प्यार है, भक्ति से प्यार है और प्रभु को कुछ नहीं चाहिए। कहा—प्रभु! मैं तो प्यार करता हूँ लेकिन हमारा आचरण शुद्ध नहीं है तो क्या प्रभु हमें अपना लेंगे? बोले 'हाँ।' कहा—'प्रमाण?' कहा—व्याधस्याचर्णम्। व्याध की कथा मैं एक दिन सुनाया था। मांस बेचने का काम करता, कसाई के यहाँ पैदा हुआ था लेकिन भगवान् ने यह नहीं देखा कि यह मांस बेचता है। इस युग में हुआ है एक संत जो कसाई का पुत्र था, उसका नाम था सदना। व्याध की कथा तो हम महाभारत में पढ़ते हैं लेकिन सदना कसाई तो इस युग में हुआ है। उसका कौन सा उत्तम आचरण था, मांस बेचने का काम ही तो वह करता था लेकिन प्रभु ने उस पर ध्यान नहीं दिया। आप बच्चे हो इसलिए भगवान् को नहीं पा सकते? कहा—यह भी गलत है। ध्रुव तो पाँच वर्ष का बालक था।

आपके पास विद्या नहीं है इसलिए आप भगवान् को प्रसन्न नहीं कर सकते? कहा—नहीं, विद्या गजेन्द्रस्य का? हाथी के पास कौन सा ज्ञान था? ग्राह और गजेन्द्र की कथा तो सुने होंगे आप लोग। ग्राह ने गज को पकड़ करके जब खींचा तो वह चिल्लाया। जब वह लड़ते-२ हार गया तब उसने भगवान् की तरफ सूंड उठा करके पुकारा। उसके पास और तो कुछ था नहीं, एक कमल तोड़ा और प्रभु को अपने हृदय के भावों को व्यक्त करते हुए अर्पित कर दिया। भगवान् आ करके उस ग्राह का वध करते हैं और गज को बचा लेते हैं। एक बड़ी सुन्दर कथा आती है कि भगवान् जब ग्राह का अपने चक्र से वध करते हैं तो उसको मोक्ष प्रदान करते हैं और गज को उबार करके बाहर ले आते हैं। देवता लोग प्रार्थना कर रहे हैं, ऋषि लोग पूछ रहे हैं—भगवन! इस ग्राह ने तो आपके भक्तों का अपराध किया है, आपने इसको कैसे मोक्ष प्रदान कर दिया? उन्होंने कहा—इसने किसी भी प्रकार से मेरे भक्त का पाँव तो पकड़ा था, चाहे वह शत्रुता से ही सही। जो भक्त का चरण पकड़ता है, उसको मैं मोक्ष नहीं दूँ, यह कैसे हो सकता है? वह भी मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।

मैं आप लोगों को बता रहा था—व्याधस्य चर्णं, ध्रुवस्य चवयो, विद्या गजेन्द्रस्य का, का जाति विदुरस्य। कहा, हम तो छोटी जाति में पैदा हो गए हैं, भगवान् हमें प्यार नहीं करेंगे, तो विदुर कौन सी ऊँची जाति में पैदा हुए थे, दासीपुत्र ही तो थे! आप कहो कि मेरे पास तो पुरुषार्थ ही नहीं है, मैं कैसे भगवान् को प्यार करूँगा? कहा—उग्रसेन के पास कौन सी शक्ति थी, उन्हें तो लड़के ने उठाकर बन्दीगृह में डाल दिया था, वृद्ध थे बेचारे। उन्हें भगवान् ने अपना बनाया। 'कुब्जानां किं नां रूपाधिकम्।' वो कुब्जा जो कंस की दासी थी जिसका कूबर निकला हुआ था, कौन सी रूपवान थी? उसको भगवान् ने अपना बनाया। 'किं तत्सुदामनो धनम्।' यदि कहो कि हम तो गरीब आदमी हैं, हमें भगवान् कहाँ अपनाएँगे? तो सुदामा से अधिक गरीब तो तुम नहीं हो सकते? इन सारे प्रमाणों द्वारा यह संकेत किया है कि—

**भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैः।**

भगवान् तो केवल भक्ति से ही सन्तुष्ट होते हैं गुण से नहीं। एक दिन मैंने आपको बताया था कि यदि कोई आपसे अधिक गुणवान है तो आप रीझोगे, अपने से कम गुणवाले पर आप कैसे रीझ सकते हैं? क्या दुनिया में कोई भगवान् से भी अधिक गुणवान, बलवान, रूपवान, धनवान, ऐश्वर्यवान, कीर्तिवान, विद्वान् हो सकता है? क्या किसी भी गुण में भगवान् से आगे आप जा सकते हो? नहीं। फिर भगवान् आपके इन गुणों पर कैसे रीझेंगे? भगवान् को रीझाने के लिए ये साधन नहीं हैं। क्या है फिर? भगवान् केवल प्रेम से ही सन्तुष्ट होते हैं और उनको कुछ नहीं रिझा सकता। 'भक्ति प्रियो माधवः'। माधव को भक्ति प्रिय है, प्रेम प्रिय है इसलिए यहाँ पर बताया—'अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ', भक्ति में किसी विधि-निषेध की जरूरत नहीं है। एक संत ने लिखा है—दुनिया में जितने साधन हैं, सबसे परे प्रेम है। प्रेम में कभी किसी भी प्रकार से न तो विधि-निषेधात्मक विवेचन हो सकता है और न उसके लिए कोई नियम बनाया जा सकता है, इसलिए हरेक व्यक्ति के लिए वह सुलभ है। एक दिन मैंने और बताया था कि यदि तुम ज्ञान योग का साधन करना चाहो तो तुम्हें तीक्ष्ण बुद्धि की जरूरत है। सूक्ष्म बुद्धि की प्राप्ति सबके लिए सम्भव नहीं इसलिए सब उसके अधिकारी नहीं हो सकते। यदि तुम कर्मयोगी बनना चाहते हो, वो भी तुम्हारे बस का नहीं क्योंकि कर्मयोग में आसक्ति मूल कारण है, अनासक्त होना कोई सामान्य बात नहीं है। जब तक पूर्णज्ञान नहीं होगा तब तक तुम अनासक्त नहीं हो सकते। यदि ध्यानयोगी बनना चाहते हो तो मन की शुद्धता, मन की एकाग्रता अनिवार्य है। मन की

एकाग्रता इतनी सरल नहीं है कि तुरन्त हो जाए! तो ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी और कर्मयोगी, ये तीनों प्रकार के योग तुमसे एकाएक नहीं सध सकते। तपस्वी बनना चाहते हो बड़ी कठिन साधना करनी पड़ेगी, संयम करना पड़ेगा। अभ्यास भी तुम्हारे वश का नहीं है। इसके लिए विशेष गुण चाहिए लेकिन भक्त बनने के लिए तो हृदय की जरूरत है। ऐसा दुनिया में कोई प्राणी नहीं जिसके पास हृदय न हो और हृदय में भाव की ज़रूरत है। दुनिया में ऐसा कोई प्राणी नहीं जिसके पास भाव भी न हो। इस भाव को परिवर्तित करना है। अभी जो भाव संसार की तरफ जा रहा है उसको चैनेलाईज़ करके परमात्मा की तरफ कर देना है। इसके सिवा और कुछ नहीं करना। इसलिए—'अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥' अन्य साधनों की अपेक्षा भक्ति सुलभ है क्योंकि भक्ति भावपरक है, यह भाव हरेक प्राणी के पास है। निर्बल है, धनी है, अनपढ़ है, गवार है या किसी भी स्थिति में है, हरेक व्यक्ति के पास भाव रूपी धन है और इस भाव को परिवर्तित कर सकता है, प्रभु की तरफ लगा सकता है इसलिए भक्तियोग सबके लिए सुलभ है। ज्ञानी के लिए भी सुलभ है। दरिद्र के लिए भी सुलभ है, अमीर के लिए भी सुलभ है यानी इसमें किसी भी प्रकार के गुण की आवश्यकता नहीं है। नारद जी ने कहा है—

**प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात् ॥**

—ना०भ०सू० ५९

भक्ति में अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती—

**अटल नेम यह प्रेम को सभी नेम छुट जाए।**

यह तो स्वयं में प्रमाण है। जिसको तुम चाहते हो उसके लिए सब कुछ करने के लिए तुल जाते हो। यह तो साधारण सी बात है और लोक में भी देखा जाता है। जिन बच्चों को, परिवार को, स्त्री को तुम प्यार करते हो, जीवन भर कमा करके, रातों-दिन मेहनत करके सब उनके लिए समर्पित कर देते हो, क्या कोई शर्त होती है वहाँ? कोई शर्त नहीं। ऐसा क्यों करते हो? इसलिए कि उन्हें तुम प्यार करते हो। जब सामान्य प्यार में इतना समर्पण हो जाता है तो जो भगवान् से प्यार करता है उसके लिए भी यही होता है। वह भगवान् के लिए सब कुछ करने के लिए उतारु हो जाता है।

मुहम्मद साहिब ने इस्लाम धर्म में भक्ति की प्रतिष्ठा की और उन्होंने बुद्धि की पूर्ण रूप से तिलाञ्जलि दे दी। उन्होंने एक बात कही कि मज़हब में अक्ल की दखल नहीं होनी चाहिए। इस्लाम माने होता है परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण। पूर्ण समर्पण के लिए मुहम्मद साहिब ने चार नियम बनाए जो कि इस्लाम धर्म के

मूलाधार हैं—सोम, सलात, हज और जकात। इन चारों नियमों में उन्होंने चार बातें कहीं। प्रथम कहा कि जिसको प्यार करते हो, उसको याद करते हो, उसके सामने आदर पूर्वक प्रणाम करते हो, उसका स्मरण करते हो, कहा—दिन में एक बार नहीं पाँच बार स्मरण करना चाहिए-यह नमाज़ है, इसे सोम कहते हैं। दूसरा उन्होंने कहा यदि तुम्हारे हृदय में परमात्मा के प्रति प्यार है तो इसका प्रमाण है कि तुम उसके लिए कष्ट सहते हो या नहीं? यदि कष्ट सहते हो तो खुशी-२ सहते हो या दुःखी होकर? कष्ट सहना तप है लेकिन यदि कष्ट सहने में दुःख हो तो उसको तप नहीं कहते बल्कि वह आपत्ति, विपत्ति व संताप ही होता है। उन्होंने कहा कि परमात्मा को यदि तुम प्यार करते हो तो उसके नाम पर भूखे रहो। ४० दिन का उन्होंने 'रोज़ा' बताया। वे स्वयं ४० दिन तक व्रत किया करते थे। गुफा में चले जाते थे तो कुछ नहीं खाते थे। केवल दूध का सेवन करते थे। आज भी मुसलमान भाई दूध का सेवन करते हैं और उसमें सेवईयां (सिरनी) डालकर 'रोज़ा' के दिनों में ४० दिन तक खाते हैं। तीसरा उन्होंने कहा कि तुम परमात्मा की स्मृति में पवित्र स्थान की यात्रा करो जिसे हम हज कहते हैं। मक्का, मदीना में जाकर भगवान् के दर्शन करो, उनको प्रणाम करो क्योंकि श्रद्धा का एक केन्द्र होना चाहिए। श्रद्धा के यदि हज़ार केन्द्र बन जाएँ तो बात बनती नहीं इसलिए उन्होंने कहा कि श्रद्धा का एक केन्द्र होना चाहिए। उन दिनों मक्का में भगवान् शंकर के ३६० मन्दिर थे, सबके अलग-२ आचार्य थे, अलग-२ सम्प्रदायों में बँटे हुए थे। मुहम्मद साहिब ने ३५९ मन्दिरों को तुड़वाकर धराशायी कर दिया और एक मन्दिर रहने दिया जिससे हर एक का एक जगह आश्रय बना रहे। इस मन्दिर के पुजारी मुहम्मद साहिब के चाचा थे। उनके चाचा भगवान् शंकर के अनन्य भक्त थे, वे शैव थे। वहाँ जो शिवलिङ्ग था, उसको अरबी में सङ्गे असमद कहते हैं। काला पत्थर लम्बा गोला सा आज भी ज्यों का त्यों है। आज भी जो लोग जाते हैं वहाँ पर हज करने उनको बिल्कुल शैवों के समाज के नियमों का पालन करना होता है। वे मांस नहीं खाते, मच्छी नहीं खाते, मदिरा नहीं पीते, बिल्कुल पवित्र जीवन जीते हैं, सफेद वस्त्र पहनते हैं। दक्षिण भारत के लिङ्गायत सम्प्रदाय की भांति बिना लांग के कमर में धोती और ऊपर से उसे गर्दन में डाले हुए होते हैं। कभी आप इस्लाम धर्म के हज की यात्रा का वर्णन पढ़िए और लिङ्गायत सम्प्रदाय की पूजा का वर्णन पढ़िए तो आपको ऐसा लगेगा कि दोनों एक-दूसरे के बहुत नज़दीक हैं। इसी प्रकार से मुहम्मद साहिब ने हर एक मुसलमान के लिए हज की व्यवस्था की। तुम परमात्मा में आस्था रखते हो तो कम से कम यात्रा करके वहाँ

तक तो पहुँचो।

मैं आपको बताऊँ, मुहम्मद साहिब के चाचा ने जो भगवान् शंकर की स्तुति में अरबी में छन्द लिखे हैं, वे दिल्ली के बिरला मन्दिर (लक्ष्मी नारायण मन्दिर) में पूरे के पूरे अनुवाद सहित लिखे हुए हैं। मुसलमानों में जो हिन्दुओं को काफिर कहने की भावना आई, वह क्यों आई? हिन्दू तो भक्त हैं। वे ईश्वर को मानने वाले हैं। वे भी शैव हैं और वैष्णव हैं। यदि मुसलमान स्वयं भी शिव लिङ्ग की उपासना करते हैं तो उन्होंने दूसरे मूर्ति पूजकों को बुतपरस्त क्यों कहा? इसका एक बहुत लम्बा इतिहास है। मुसलमानों के आस-पास यानी अरब के आस-पास उन दिनों भारत के जिस सम्प्रदाय का प्रचार था, वह था बौद्ध सम्प्रदाय। बौद्ध धर्म में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। ईश्वर की पूजा के लिए कोई स्थान नहीं है। उन दिनों बुद्ध को भगवान् नहीं महात्मा बुद्ध माना जाता था। आज भी बहुत लोग महात्मा बुद्ध ही कहते हैं। हालांकि बाद में आचार्य शंकर ने बुद्ध को भगवान् का अवतार घोषित करके यह कोशिश की कि बुद्ध में आस्था रखने वालों की आस्था को सुरक्षित रखते हुए बौद्धों की विचारधारा का पूर्ण रूप से सफाया किया जा सके। यह एक नीति थी और यह नीति बाद में सफल हुई। मैं आप लोगों को समझाने जा रहा था कि अरब में चारों ओर बौद्ध का प्रचार था। बौद्ध बुत परस्त थे। बुत-परस्त माने मनुष्य की मूर्ति की पूजा करने वाला या अपने पूर्वजों की मूर्ति की पूजा करने वाला। इसलिए उन्होंने जो बुत-परस्ती कहा वह बुद्ध-परस्ती है। कई इतिहासकारों ने इस विषय में विशेष अर्थ लिखा है।

शिव का जो लिङ्ग है, उसमें व्यक्ति का चिह्न है कहीं? नहीं। शिव पुराण में यह भी कहा गया है कि शिव लिङ्ग की बजाए जो शिव मूर्ति बनाकर पूजते हैं, वे मंद बुद्धि के उपासक हैं। उसमें यह भी बताया गया है कि परमेश्वर का यदि कोई प्रतीक है तो वह अलिङ्ग है। अलिङ्ग माने जो न स्त्री है न पुरुष है। अतः शिवलिङ्ग हिरण्यगर्भ का स्वरूप है। जैसी ब्रह्माण्ड की आकृति है वही आकृति शिवलिङ्ग की है। इस ब्रह्माण्ड का एक नाम हिरण्यगर्भ भी है। इस ब्रह्माण्ड का प्रतीक है शिवलिङ्ग। शिवलिङ्ग को कहते हैं ज्योतिर्लिङ्ग। यह विराट् की उपासना का माध्यम है, प्रतीक है। वह बुत परस्ती नहीं है। वह मनुष्य की उपासना नहीं है। वहाँ व्यक्ति है ही नहीं। वह साकार नहीं है। वह निराकार है। उसमें किसी की आकृति नहीं है, न पुरुष की, न स्त्री की, न नपुंसक की। वह आकृति युक्त है इसलिए वह सगुण है। वह सगुण निराकार है, निर्गुण निराकार नहीं। निर्गुण निराकार की तो कोई आकृति नहीं बन सकती। यह विराट् पुरुष जो है या ब्रह्माण्ड

का अधिपति जो है, वह निर्गुण निराकार नहीं सगुण निराकार है। निर्गुण निराकार तो ब्रह्म है। निर्गुण निराकार से जो सबसे पहले प्रकट होता है—

**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत।**
**स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम्॥**

*—ऋग्वेद १०/१२१-१*

यह ऋग्वेद का मन्त्र है, यह यजुर्वेद में भी है। वह जो प्रथम प्रकट हुआ था, उसमें स्त्री–पुरुष आदि की आकृति नहीं थी इसलिए वह सगुण निराकार है। जो निर्गुण निराकार है वह परमात्मा, सगुण निराकार शिवलिङ्ग और सगुण साकार को हमारे यहाँ अवतार कहा गया। जो सगुण साकार है उसको विराट् कहते हैं, जो सगुण निराकार है उसको हमारे यहाँ विशेष रूप से तैजस कहते हैं या हिरण्यगर्भ कहते हैं, उसके आगे जो निर्गुण निराकार है वह परब्रह्म परमात्मा है। कहीं-२ पर हमें चार रूपों से इसका वर्णन मिलता है जैसे उपनिषदों में। वहाँ पर सगुण साकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार, निर्गुण निराकार, इन चार प्रकार का विवेचन है। वहाँ पर सगुण साकार विश्व है, सगुण निराकार तैजस है, निर्गुण साकार भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण जो प्राकृत गुणों से परे होते हुए भी चिदानन्द स्वरूप में प्रकट हुए हैं। इनके स्वरूप को निर्गुण साकार कहा गया तथा इनका कारण रूप, अव्यक्त रूप निर्गुण निराकार परात्पर ब्रह्म के नाम से अभिहित होता है।

मैं आपको बता रहा था कि मुहम्मद साहिब शैव सम्प्रदाय के महापुरुष के शिष्य थे। उन्होंने उसी शैव सिद्धान्त को प्रस्थापित किया। इनका प्रथम परिचय जिन लोगों से हुआ, वे सही में काफिर थे। काफिर माने ईश्वर को न मानने वाले। आप लोगों को पता होना चाहिए कि बौद्धों का प्राबल्य जब भारत में था तो हिन्दू मन्दिरों की मूर्तियों को तोड़-२ कर उन्होंने पानी में फेंक दिया। यह जो बद्री नारायण में भगवान् नारायण की मूर्ति है, बौद्धों के भय से इसे तप्त कुण्ड में डाल दिया गया था। आचार्य शंकर ने जाकर वहाँ से उसे निकाल कर पुनः प्रतिष्ठित किया। बौद्धों ने अपने प्रभुत्व में काफी अत्याचार किए और फिर जब वैदिकों का प्रभुत्व हुआ तो इन्होंने भी बौद्धों की मूर्तियाँ तोड़ दी। यह संघर्ष बहुत वर्षों तक चलता रहा। ये इतिहास की बातें हैं। मुसलमानों को इन्हीं का सम्पर्क हुआ, इन्हीं से उनका शुरु-२ में परिचय हुआ क्योंकि काबुल, कन्धार इत्यादि का इलाका सब बौद्ध हो गया था और बुद्ध धर्म का ही वहाँ प्रभुत्व था इसलिए उन्होंने इन्हें काफिर कहा जबकि करते वे भी भगवान् शंकर की उपासना हैं। मैं आपको बता रहा था

कि मोहम्मद साहिब ने भक्ति मार्ग में चार बातें स्थापित की हैं। सोम, सलात, हज और जकात। जकात माने जिस परमात्मा में तुम आस्था रखते हो, उसके लिए तुम अपनी आय का कितना हिस्सा दे सकते हो? परिश्रम से कमाए हुए धन में मनुष्य की पकड़ सबसे ज्यादा होती है। वहीं उसकी आसक्ति का केन्द्र होता है। जिसको तुम प्यार करते हो उसको तुम अपनी कमाई का सर्वस्व दे देते हो। जिसको तुम जितनी मात्रा में प्यार करते हो उसको उतनी मात्रा में देते हो। छोटी अवस्था में माँ को प्यार करते हो इसलिए जो बाहर से पाते हो लाकर माँ को दे देते हो। शादी हो जाने पर यदि माँ कहे कि जो कमाकर लाते हो वो लाकर मुझे दे दो, तो कहते हो, नहीं। धर्म शास्त्र ने बताया कि सारा नहीं चौथा हिस्सा माँ को देना चाहिए। आज चौथा हिस्सा भी नहीं देते। माँ-बाप को कहते हैं कि खाना पीना करो, कपड़ा पहनों, पैसा लेकर क्या करोगे? अब श्रीमती को सब कुछ समर्पित करना है क्योंकि उसको प्यार करने लगे हैं। जहाँ पर थोड़ा सा भेद हुआ श्रीमती और श्रीमान में वहाँ अब वो समर्पण वाली भावना नहीं रही। पश्चिम में जो परिवार नहीं बन पाता, जानते हो क्यों नहीं बन पाता? इसलिए नहीं बन पाता कि वहाँ पर पति की कमाई पर स्त्री का अधिकार नहीं है और स्त्री की कमाई पर पति का अधिकार नहीं है। वे दोनों अपना कमाते हैं, अपना खाते हैं। वे दोनों कभी एक होने की कोशिश नहीं करते।

भारत में एक व्यवस्था रही है। पुरुष ने जो कुछ भी कमाया, तनख्वाह मिली सीधा लाकर श्रीमती को पकड़ा देता है। वो अब क्या, जैसे खर्च करेगी वो जाने। यह जो स्थिति रही है इसमें पूर्ण समर्पण की भावना रही है इसलिए वहाँ पर झगड़े के लिए कोई गुंजाईश नहीं। यहाँ वो बात नहीं है। जिसको तुम प्यार करते हो उसको तुम क्या देते हो? उसको अपने परिश्रम का परिणाम। मुहम्मद पूछते हैं—"तुम भगवान् को प्यार करते हो? तुम धर्म को प्यार करते हो? यदि करते हो तो उसे अपनी आय का कितना भाग देते हो?" उसने जो विधान बनाया उसको कहते हैं—'जकार।' इस विधान के अनुसार तुम्हें अपनी आय का चौथा हिस्सा धर्म के लिए देना होगा, यदि तुम परमात्मा को प्यार करते हो तो। पहले लोग देते थे। अब भी मुसलमानों में चौथा हिस्सा नहीं तो ४% तो देते हैं। हमारे यहाँ भारतीय दर्शन में दसवां हिस्सा है, जिसे दशांश कहते हैं। संस्कृति में दशांश और पंजाबी में दसौंद कहते हैं। १०० में १० रु० धर्म के नाम पर देने का विधान रहा है। जो अपनी आय का दशवां हिस्सा देकर बचा हुआ खाता है, वह अपना खाता है, वह पाप का भागीदार नहीं होता। यही बात गीता के तीसरे और चौथे अध्याय

में भगवान् ने कही है कि जो दूसरे का अधिकार देकर बचा हुआ खाता है—

**यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्॥**

*—गीता ४/३१*

वो सनातन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है क्योंकि उसने अपनी आय का पूरा हिसाब दे दिया है। आचार्य चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में आय के विभाजन में यह बताया है कि कितना हिस्सा किसे देना चाहिए। मनु महाराज ने भी यह बताया है कि राजा सोलहवें हिस्से का मालिक है। हमारे यहाँ धर्मशास्त्र की दृष्टि से राजा यदि १६% से अधिक आय कर लेता है तो वह अन्यायी राजा कहा जाता है। शास्त्र में बताया गया है कि यदि ऐसे अन्यायी राजा से तुम अपनी सम्पत्ति को बचाने के लिए कोई रास्ता निकाल लेते हो तो तुम धर्म शास्त्र की दृष्टि से अपराधी नहीं हो। यह १०% धर्म का, गुरु के हिस्से का है। उन दिनों गुरुकुल हुआ करता था। प्रत्येक आदमी किसी न किसी गुरु से सम्बन्धित होता था। गुरु रहित तो कोई व्यक्ति होता नहीं था क्योंकि जीवन ही गुरु से शुरु होता था। हमारे यहाँ जब यज्ञोपवीत दिया जाता था तो यज्ञोपवीत के साथ ही गुरु दीक्षा मिल जाती थी। वहीं गुरु विद्या अध्ययन की पूरी व्यवस्था देता था। सारा वंश वहीं विद्या अध्ययन किया करता था। उस गुरु से ही गुरुकुल का स्रोत-गोत्र चलता था। हमारे यहाँ ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य का जो गोत्र है, वह गुरु से सम्बन्धित है। गुरु के गुरुकुल में उसके बाप-दादा पढ़ते आए हैं, उसी गौत्र का वह है। वो उसी गुरु परम्परा से पढ़ता रहा है, उसी परम्परा का वेद होता है, उसी परम्परा की पूजा विधि होती है, सारी व्यवस्था उसी में ज्यों की त्यों है और दशवां हिस्सा गुरुकुल का भी होता था। जो लोग आय का दशवां हिस्सा भी देते हैं लेकिन गुरु उसके शोक को दूर करने के लिए कुछ नहीं कर रहा है, उसके लिए तुलसीदास जी लिखते हैं—

**हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥**

*—रामा० ७/९९-७*

इसी रूप से राजा १६% यदि कर लेने के पश्चात् प्रजा की रक्षा न करे तो तुलसीदास जी कहते हैं—

**जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥**

*—रामा० २/७१-६*

वो राजा नरक का अधिकारी होता है जो अपना हिस्सा तो ले रहा है लेकिन कर्त्तव्य पालन नहीं कर रहा। उसके परिणामस्वरूप उसकी यह दुर्गति होगी। ऋग्वेद में यह बताया गया है कि जो व्यक्ति अपने अधिकार के लिए तो तैयार

रहता है लेकिन कर्त्तव्य पालन नहीं करता, वह अधिकार ग्रहण करने के बदले में पाप का भक्षण कर रहा है। उसके परिणामस्वरूप उसे नारकीय जीवन बिताना पड़ेगा।

यहाँ पर यह बताया गया है कि जिसे हम प्यार करते हैं, उसके लिए हम समर्पण करते हैं। कितने हिस्से में समर्पण करते हैं, यह प्यार पर अवलम्बित है। जिसको हम पूर्णरूपेण प्यार करते हैं, उसके लिए हम सर्व समर्पण कर देते हैं। यहाँ पर भक्ति में अन्य की जरूरत नहीं होती यानी प्रेम में अन्य प्रमाण की जरूरत नहीं होती। प्यार स्वयं अपना प्रमाण आप व्यक्त कर देता है।

**प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात्॥**

—ना०भ०सू० ५९

प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखते हुए यह प्रेम अथवा भक्ति स्वयं प्रमाण स्वरूप है। इसके पश्चात् नारद जी कह रहे हैं—

**शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च॥**

—ना०भ०सू० ६०

यह भक्ति शान्तिरूपा है और परमानन्द रूपा है। जहाँ भक्ति आई वहीं परमशान्ति और परमानन्द है। यहाँ शान्त भाव भी है और साथ में यह रसात्मिका भी है। इसमें नीरसता नहीं है इसलिए यहाँ दो बातें कहीं हैं—शान्तिरूप है और उस शान्ति में रस है इसलिए वह परमानन्द स्वरूप है। जहाँ भक्ति की उपलब्धि हो जाती है वहाँ अन्तर शान्त हो जाता है। परमात्मा में पूर्ण आस्था हो जाए, पूर्ण विश्वास हो जाए, पूर्णानुरक्ति हो जाए तो शान्ति क्यों नहीं होगी? शान्ति के साथ प्रेम भी होगा। प्रेम प्रायः विक्षोभ पैदा कर देता है लेकिन परमात्मा के साथ प्रेम विक्षोभ नहीं शन्ति प्रदान करता है। संसार, धन, बल और अधिकार के साथ जहाँ भी कहीं प्रेम होगा, वहाँ किसी न किसी प्रकार का विक्षोभ भी होगा। शान्ति और सरसता ये दोनों परमात्मा के साथ प्रेम होने पर ही उपलब्ध होते हैं, इसलिए यहाँ पर भक्ति का लक्षण यह भी बताया—

**शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च॥**

वह भक्ति शान्ति रूपा और परमानन्द-रूपा है। आगे जो लोग साधक हैं उनके लिए देवर्षि नारद का संदेश है—

**लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्॥**

—ना०भ०सू० ६१

लोकहानि की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। जब तुमने लोक और वेद दोनों प्रकार के अधिकारों को प्रभु को निवेदन कर दिया, समर्पित कर दिया, अब तुम चिन्ता क्यों करते हो? भगवान् कहते हैं कि मेरा दास होकर यदि संसार की चिन्ता करते हो तो—

**मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥**

यह तो वैसे ही हो गया जैसे एक आदमी गाड़ी में बैठे हुए है और गठरी अपने सिर पर रखे हुए है। भले आदमी! गठरी सिर पर क्यों रखा है? वो कहता है कि मैंने तो केवल अपना टिकट लिया है, गठरी का टिकट तो लिया नहीं। क्या समझे? इसलिए अधिकारी हूँ गाड़ी में बैठने का, गठरी रखने का अधिकारी नहीं हूँ। उसको आप क्या कहेंगे? समझदार कहेंगे? नहीं। इसी प्रकार के जो लोग अपने आप को तो कहते हैं कि वे प्रभु को समर्पित हैं लेकिन चिन्ता सारी दुनिया की अपने सिर पर रखे हुए हैं, वो सोचते हैं कि वे तो समर्पित हैं, उनकी चिन्ता थोड़े ही समर्पित हुई है भगवान् को। उनको आप समझदार नहीं कहते। इसलिए कहा कि जब लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार की जिम्मेदारियाँ भगवान् को समर्पित कर दीं, फिर लोकहानि की चिन्ता क्यों करते हो? भगवान् अपने आप सम्भालेंगे, ऐसा मन में विश्वास रखो। इसकी व्याख्या अब कल बताई जाएगी।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## १८

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए सदैव कल्याणकारी हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! कल मैंने बताया था कि भक्ति के लिए, प्रेम के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं में प्रमाण है और परमानन्द स्वरूप है। जहाँ रस है वहाँ उन्माद सा हो जाता है लेकिन भक्ति रूपी रस में शान्ति है, स्थिरता है, उन्माद नहीं है इसलिए वह—

**शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च॥**

—ना०भ०सू० ६०

दो वैशिष्ट्य इसमें समझाए गए हैं, तीसरी बात कल मैंने समझाई थी—

**लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्॥**

—ना०भ०सू० ६१

लोकहानि की चिन्ता नहीं करनी चाहिए क्योंकि अपने आपको, लौकिक और वैदिक सब प्रकार के कर्मों को साधक ने परमात्मा को समर्पित कर दिया है। अब उसे किसी भी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। यदि चिन्ता करने की वृत्ति बनी ही रहे तो भगवत् समर्पण का कोई अर्थ नहीं होता। समर्पण का अभिप्राय स्वयं के अहं का परमात्मा में पूर्णरूपेण लय करना होता है। यदि अपना अहं पूर्ण रूपेण परमात्मा में लय नहीं हुआ तो अभी समर्पण नहीं है। भक्ति शास्त्र में इसके लिए दो शब्द हैं-शरणागति और समर्पण। जो शरणागत हो जाते हैं उनकी चिन्ता समाप्त हो जाती है। शरणागति का अभिप्राय है—

**अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं हरि।**

अब हम किसी अन्य की शरण में नहीं हैं, आप ही जीवन का एक आधार हैं। प्रभु

का आश्रय लेते ही चिन्ताएँ सारी समाप्त हो जाती हैं। समर्पण और शरणागति में क्या अन्तर है? शरणागति में व्यक्ति का अहं रहता है लेकिन वह परमात्मा के आश्रित रहता है। समर्पण में अहं के लिए स्थान ही नहीं रहता। इसका उदाहरण दिया जाता है कि लड़की अपने पिता के तो शरण रहती है और पति को समर्पित होती है। जहाँ समर्पण है वहाँ अभेद है लेकिन जहाँ पर शरणागति है वहाँ भेद बना रहता है। भक्ति का पहला चरण शरणागति है दूसरा, चरण समर्पण है। ये साधक की दोनों दो अवस्थाएँ हैं। अब यहाँ पर—

**लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्॥**

जब आत्मा, लोक और वेद, इन सभी को प्रभु को समर्पित कर दिया तो अब लोक-हानि की चिन्ता किस लिए करें? यदि लोक हानि की चिन्ता अभी बनी हुई है तो इसका अभिप्राय अभी समर्पण नहीं हुआ। अभी तो अहं बना हुआ है। इसका अभिप्राय अभी शरणागत भी पूरी तरह नहीं हुआ। शरणागत होने पर ही चिन्ता समाप्त हो जाती है, समर्पण की तो स्थिति ही अलग है। वहाँ पर आत्मा, वेद और लोक तीनों का निवेदन कर दिया है। वेद के विधि-विधान से ऊपर उठ चुका है, लोक के सारे प्रपंच उसने भगवान् को अर्पित कर दिए हैं। जब आत्मा को ही समर्पित कर दिया है तो आत्मा के ही नाते लोक और वेद होता है। आत्म निवेदन भक्ति की आखिरी स्टेज है—

**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**
**अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**

*—श्रीमद्भाग० ७/५-२३*

ये नौ स्टेजिस हैं। आत्म निवेदन आखिरी स्टेज है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चना, वन्दना, दास्य, सखाभाव और आखिर में आत्म निवेदन माने पूर्ण समर्पण जब कर दिया तो बाकी क्या रहा? आत्म निवेदन के पश्चात् तो लोक और वेद के लिए चिन्ता की गुंजाइश नहीं रही। आगे कहते हैं—

**न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः ।**

*—ना०भ०सू० ६२*

जब तक भक्ति की सिद्धि न हो जाए या पूर्ण प्रेम की उपलब्धि न हो जाए तब तक लोक व्यवहार हेय नहीं माना जाता, त्याज्य नहीं माना जाता। केवल सुनकर जो लोग वेद का त्याग कर देते हैं, वे भक्त हो जाते हैं, भक्ति को बिना प्राप्त किए आवेश में आकर लोक-वेद व्यवहार का त्याग कर देने से समर्पण नहीं होता, वह तो भक्ति का कार्टून है। वह यथार्थता नहीं है, सत्यता नहीं है, केवल

आडम्बर है। गीता में एक शब्द का प्रयोग उन्होंने आत्म प्रवञ्चन के रूप में किया है। आत्म प्रवञ्चन माने अपने आप को धोखा देना। यदि व्यक्ति की वह आन्तरिक स्थिति नहीं आई, उस अवस्था में पहुँचा नहीं और बिना उस अवस्था में पहुँचे हुए अपने आपको प्रीटेन्ड करता है कि हम उस अवस्था में पहुँच गए हैं और ऐसा व्यवहार करने लगता है जैसे उस अवस्था में पहुँचे हुए लोग करते हैं, वह दुनिया को तो बाद में धोखा देगा पहले अपने आपको धोखा देता है। एक संत कहा करते थे कि जब तक कोई बेईमान नहीं बनता तब तक बेईमानी नहीं कर सकता, इसी प्रकार से जब तक चोर नहीं बनेगा तब तक चोरी कैसे करेगा? बुराई पहले अपने में आती है तब उस बुराई का दूसरे के प्रति प्रयोग करते हैं। अच्छा होकर किसी ने बुराई किया आज दिन तक? कर ही नहीं सकता। यह स्थिति आत्म प्रवञ्चन की है यानी अपनी आत्मा के साथ धोखा करना। नारद जी कह रहे हैं—

**न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः ।**

जब तक भक्ति की सिद्धि नहीं हुई तब तक लोक व्यवहार त्याज्य नहीं है।

**किन्तु फलत्यागस्तत्साधनं न कार्यमेव ॥**

लोक व्यवहार द्वारा जो मिलने वाला परिणाम है, उसका त्याग कर देना चाहिए। लोक व्यवहार यानी कर्म का त्याग नहीं करना है। कर्म के फल का त्याग करना है। पहले तो कर्म फल का त्याग होगा फिर बाद में कर्म अपने आप छूट जाएगा जब उसकी सिद्धि हो जाएगी तब। आत्मनिवेदन के पश्चात् तो कुछ नहीं होता—

**कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें ।**

तुलसीदास जी ने लिखा है कि जब स्वरूप बोध हो गया, फिर कर्म कहाँ से होगा? भगवान् में पूर्णानुरक्ति हो गई तो फिर कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होगी क्योंकि जिसको कुछ पाना नहीं है उसको कुछ करना नहीं है। संकल्प का उदय कब होता है जीवन में? जब किसी प्रकार के अभाव की प्रतीति हो। अभाव नहीं होगा तो संकल्प भी नहीं होगा। परमात्मा को कौन सा अभाव था जो उसने सृष्टि की? उपनिषद् कहती है 'एकाकी न रमते'। अकेले में क्रीड़ा नहीं होती। क्रीड़ा करने के लिए—

**सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति ।**

उसने कल्पना की कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ—

**स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदꣳ सर्वमसृज।**

*—तैत्ति० २/६*

उसने संकल्प किया और लोकों की रचना कर दी। अपने संकल्प से ही वह एक से अनेक हो गया। उसने अपने आपको अनेक रूपों में प्रकट कर दिया।

देवर्षि नारद ने समझाया कि जब तक भक्ति की सिद्धि न हो जाए, पूर्ण रूप से प्रेम में विह्वलता न आ जाए, विभोर न हो जाए, ऐसी स्थिति न आ जाए कि हम उससे अभिन्न हैं तब तक लोक व्यवहार को करते रहना चाहिए। पूर्ण प्रेम की प्राप्ति हुए बिना कभी भी जीवन में शान्ति वा स्थिरता नहीं आती। नदियाँ तब तक गतिशील रहती हैं जब तक कि पूर्ण रूप से समुद्र में लीन न हो जाएँ। तुलसीदास जी ने कहा है—

**सरिता जल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥**

*—रा० ४/१४-८*

नदियों का जल समुद्र में जाकर कैसे शान्त हो जाता है? जैसे जीव शिव को पाकर के शान्त हो जाता है। आत्मनिवेदन आखिरी गति है। जहाँ प्राप्तव्य नहीं वहाँ कर्त्तव्य नहीं होगा और जहाँ प्राप्तव्य नहीं है वहाँ ज्ञातव्य भी नहीं होगा। ज्ञातव्य माने जिसको जानना चाहिए, उसको पाना चाहिए और उसके लिए करना चाहिए। जहाँ पूर्ण समर्पण हो गया वहाँ प्रभु से परे क्या है जिसको जानना चाहिए, प्रभु से परे क्या है जिसको पाना चाहिए और प्रभु से परे क्या है जिसके लिए कुछ करना चाहिए। सही में हम देखें तो अपना क्रिया-कलाप इन्हीं तीनों के लिए हो रहा है। लक्ष्य वही है। यदि आप विश्लेषण करेंगे तो आपको पता चलेगा कि आपकी आन्तरिक चाह प्रभु को पाना है लेकिन भ्रमवश प्रभु को पाने वाली क्रिया में आप दूसरी चीज़ें इकट्ठी कर रहे हो। आप सोचते हो कि शायद इसके द्वारा प्रभु मिल जाएँग लेकिन यह असम्भव है। गीता के तीसरे अध्याय में प्रभु ने बात बताई—

**यस्त्वातमरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**
**आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥**

*—गीता ३/१७*

जो आत्मरत हो गया, आत्मतृप्त हो गया और आत्म तुष्ट हो गया, उसके लिए कुछ करना नहीं रहा क्योंकि उसको जो कुछ पाना था वह पा लिया लेकिन—

**न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः।**

*—ना०भ०सू० ६२*

जब तक भक्ति में सिद्धि न मिले तब तक लोक व्यवहार का त्याग नहीं करना चाहिए। किन्तु
फल त्याग करके उस भक्ति का साधन करते रहना चाहिए। जो कुछ भगवान् के

नाते करोगे वह भक्ति का साधन होगा। ९९% लोग साधक हैं। सिद्ध के लिए शास्त्र का विधान नहीं है। जो सिद्ध हो गया है उसे कुछ नहीं चाहिए। क्या जो सिद्ध हो गया है वह भी कुछ करता है? हाँ, वह लोकसंग्रह करता है। हमारे यहाँ समझाया गया है कि सिद्ध की दो अवस्थाएँ होती हैं। पूर्णत्त्व की अनुभूति हो जाने पर संसार में आने की रुचि नहीं होती। संसार में घसीट कर लाना बड़ा मुश्किल होता है। यह समझ लो कि बड़ी मजबूरी होती है। उसकी दो प्रकार की स्थितियाँ होती हैं—या तो वह पूर्ण रूप से संसार का त्याग करके विरत हो करके कहीं एकान्त में पड़ जाए या फिर संसार में लोक संग्रह के लिए ही कार्य करे। अधिकांश लोग उस स्थिति में पहुँचने के पश्चात् एकान्त में सेवन ही पसन्द करते हैं। चाह ही नहीं है तो क्रिया में प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? बहुत कठिन स्थिति होती है लेकिन कुछ लोगों को मजबूर होकर करना पड़ता है। उसको प्रारब्ध नहीं कहते क्योंकि प्रारब्ध तो उस पर हावी नहीं होता, उसको ईश्वर इच्छा कहते हैं। हमें सक्रिय होने के लिए तीन वर्ष लगे थे। गुरुदेव के निर्देशानुसार हमें अपने आप को तैयार करना पड़ा, नहीं तो किसी भी प्रकार की क्रिया में प्रवृत्त होना बड़ा मुश्किल था। जिस गुरु की कृपा से हम उस स्तर तक पहुँचे उस गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करने की तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उनकी आज्ञा का परिणाम ही है कि आज हम तुम लोगों के बीच में बैठे हुए हैं। साधक अपनी साधना में यदि लगा रहे तो उस साधना से उसको इतना होता है कि धीरे-२ वह उस अवस्था को प्राप्त होता है लेकिन साध्य तक बिना पहुँचे उसका त्याग करना यह गलती है। जब तक होश है तब तक उसको लोकसंग्रह का कार्य करते रहना चाहिए। जब बेहोश हो जाए फिर तो बात ही अलग है। फिर तो कोई कहेगा ही नहीं कि भई तुम कुछ करो। जब तक उसकी सिद्धि नहीं हुई तब तक लोकव्यवहार हेय नहीं है। हेय माने त्याज्य। **फलत्यागस्तत्साधनं न कार्यमेव॥** फलत्याग करके उसका साधन करते रहना चाहिए क्योंकि कर्मफल त्याग सबसे श्रेष्ठ है। भगवान् ने कहा है—

**श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।**
**ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥**

*—गीता १२/१२*

अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान की अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान की अपेक्षा कर्मफल त्याग श्रेष्ठ है। कर्मफल त्याग से ही शान्ति मिल जाती है। इस सूत्र में बताया गया है कि फल त्याग पूर्वक कर्म करते रहना चाहिए। भक्त के लिए

वर्जित क्या है? भक्त के लिए जो निषेध है उसका वर्णन करते हुए कहा—

**स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम्।।**

—ना० भ० सू० ६३

स्त्री की कथा मत सुनो, धन की कहानी मत सुनो, नास्तिक और शत्रु की कथा मत सुनो। इनसे काम, क्रोध, लोभ और मोह का जागरण होता है। यदि स्त्री की कथा सुनोगे तो काम की जागृति होगी, धनी की कथा सुनोगे तो लोभ की जागृति होगी, नास्तिक की कथा सुनोगे तो मोह की जागृति होगी और वैरी की कथा सुनोगे तो क्रोध की जागृति होगी। ये काम, क्रोध, लोभ और मोह, चारों महाशत्रु हैं। एक बात याद रखो जैसे यहाँ स्त्री शब्द का प्रयोग हुआ है ऐसे ही स्त्री के लिए पुरुष की कथा है। मैंने अपने 'मानस महाकाव्य में नारी' में लिखा है कि यदि स्त्री पुरुष के लिए पतन का कारण है तो पुरुष स्त्री को बैकुण्ठ पहुँचाने का साधन नहीं है, वह भी स्त्री के लिए उतना ही पतन का कारण है क्योंकि स्थान तो दोनों का एक सा ही है। वही चेतन और वह वृत्ति स्त्री और पुरुष दोनों में काम कर रहा है। वही वृत्ति उसमें है इसलिए वहाँ पर यह जो दृष्टिकोण है, यह दोनों के लिए बराबर है। एक बात याद रखनी चाहिए यहाँ जो कहा कि 'न श्रवणीयम्' कथा नहीं सुननी चाहिए, क्यों नहीं सुननी चाहिए? सारा रोग सुनने से ही शुरु होता है। सुनने के बाद देखने की चाह होती है, देखने के बाद पाने की चाह होती है, पाने के बाद प्रयोग करने की चाह होती है, प्रयोग करने के बाद उसमें आसक्ति हो जाती है। यह चक्र ऐसा चल पड़ता है कि फिर उसके अन्त के लिए कोई स्थान ही नहीं होता। यदि इनके चरित्र को सुना ही न जाए, भगवत् चरित्र का ही चिन्तन किया जाए तो भगवान् की तरफ प्रवृत्ति बन जाती है। यहाँ पर नारद जी ने कहा—किसी धनी के पास जाओगे तो वह धन की ही चर्चा शुरु करेगा। यदि धन की चर्चा सुनते रहे तो थोड़े दिन बाद तुम्हें भी धन पाने की चाह होगी। जहाँ धन पाने की चाह हुई वहीं पर अनर्थ का बीज तुम्हारे में पड़ गया।

निन्यानवे की कथा सुनी है न? एक वैश्य, था उसके घर में रोज कलह हुआ करता था। दिन भर कमा कर ले आवे और सायंकाल को कलह शुरु हो जाए। स्त्री अपना खाए, पुरुष अपना खाए। कलह इतना बढ़ गया कि अब पुरुष अपनी स्त्री के सोने पर ही घर जाए ताकि शान्ति से रोटी खाकर सो तो जाए। गर्म-२ रोटी खाने की बजाए ठण्डी रोटी खाना ही पसन्द है लेकिन कलह पसन्द नहीं है। जब पुरुष अपने समय से अधिक बाहर लगाने लगे तो यह समझ लो कि उसमें स्त्री ही कारण है और कुछ नहीं। जब घर में किसी भी प्रकार की अशान्ति

की सम्भावना होती है तब वह दूर ही रहना पसन्द करता है। खैर, वह यही करता था। उसके बगल में ब्राह्मण परिवार रहता था। वे अपने भिक्षा मांग कर ले आते थे, खाते थे और शान्ति से रहते थे। एक दिन उसकी स्त्री रात देर तक जागती रही, जब पति आया तो कहने लगी कि हमारे बगल में ब्राह्मण हैं। इनके पास कुछ भी नहीं है, बड़ी शान्ति से सुखमय जीवन बिता रहा है। मैं तो भगवान् से प्रार्थना करती हूँ कि ऐसे हमें भी बना दे। कम से कम घर में शान्ति तो रहे, सुख तो रहे। तुम्हें तो दिन भर धन-२ इसके सिवाय और कुछ सूझता ही नहीं लेकिन वहाँ तो भूत सवार था, कहने लगा कि पगली! ये बिचारे निन्यानवे का फेर जानते ही नहीं। अच्छा कोई नहीं, हम इनकी शान्ति का मज़ा दिखाते हैं तुम्हें। उन दिनों चाँदी के रुपये होते थे, उसने ले जाकर निन्यानवे रुपये की थैली उसके घर में डाल दी। ब्राह्मणी के हाथ वे निन्यानवे रुपये लग गए। देखा और सोचा कि भगवान् ने छप्पर फाड़ कर दिए हैं। उसने निन्यानवे गिने और सोचा कि सौ बनने चाहिए। ब्राह्मण जब सायंकाल को भिक्षा मांग करके आया, अब दूसरा साधन तो था नहीं उसने उसमें से कुछ अन्न बचाकर बगल में रख लिया। आजकल जैसे एक रुपये का आधा सेर अन्न हो जाता है तो पाँच छः दिन की भिक्षा में पूरा हो जाता है लेकिन उन दिनों तो बड़ा सस्ता था। रुपये में मन दो मन अन्न मिलता था। अब जब मन दो मन अन्न इकट्ठा हो तब तो उनका एक रुपया पूरा हो, सौ बने। अब दो मन अन्न इकट्ठा करने के लिए भिखारी की स्त्री कब तक इन्तजार करेगी? वे थोड़ा और करें। अब वे आए तो पूछे कि भई! हम भिक्षा तो उतनी ही लाए थे, रोटियाँ कम कैसे हो गईं? उसकी स्त्री ने कहा कि क्या मैं पहले खा गई सारी? खा तो नहीं गई, कम कैसे हो गई? अब वहाँ कलह शुरु हो गया। स्त्री न पेट भर खाये, जो रोटी बनाए वह पुरुष खा जाए और जो बचे वह बच्चे खाएं। उनका भी पेट पूरी तरह न भरे। उसने कहा—"देखा, अब इन्हें निन्यानवे का चक्र लगा है।" सौ बने तो शान्ति आवे। शास्त्रकार ने कहा कि न तो स्त्री के चरित्र को सुनें और न धनी के चरित्र को सुनें, नहीं तो लोभ बढ़ेगा।

जब मैं प्रचार के लिए चला तो मेरे गुरुदेव ने मुझसे एक बात कही कि कभी किसी मठाधीश के पास नहीं जाना और वहाँ नहीं रहना। तब ये बातें मेरी समझ में नहीं आती थीं कि ये मुझे क्यों मना करते हैं लेकिन अब समझ में आती हैं। क्योंकि वहाँ तो पूरी राजशाही ठाट होती है, मठाधीश हैं तो सोने की चौकी बनी हुई है, उस पर बैठा हुआ है। कोई आ रहा है तो समय लो और मिलो। यह दुनिया भर का पाखण्ड होता है, साधना नहीं होती, सौम्यता नहीं होती, सरलता

भी नहीं होती। वहाँ आडम्बर ऐसा घिर जाता है कि वह महात्मा ही नहीं रह पाता, बेचारा पता नहीं क्या-२ हो जाता है। बाद में पता चलता है कि उसमें यह-यह कारण था, इसलिए यहाँ पर नारद जी ने बताया कि स्त्री का चरित्र मत सुनो, वासना की वृद्धि होगी, धनी का चरित्र मत सुनो, लोभ की वृद्धि होगी, नास्तिक का चरित्र मत सुनो, मोह बढ़ेगा क्योंकि तुम भी सोचोगे कि जब यहाँ ऐसे हैं तो हम भी क्यों न ऐसे हो जाएँ? भारत में भी कितने लोग कहते हैं कि रशिया और चाईना बिना भगवान् को माने, बिना धर्म को माने इतनी तरक्की कर सकता है तो हम क्यों नहीं कर सकते? हमारे लिए धर्म और भगवान् इतना अनिवार्य क्यों है? यह बुद्धि भ्रष्टता नहीं तो और क्या है? उनसे पूछो कि तरक्की का भले आदमी क्या सम्बन्ध है भगवान् से? यह नहीं देखते कि इंग्लैंड ने भगवान् मानकर सारी दुनिया पर शासन किया है। यह ध्यान नहीं आता कि अमेरिका तो भगवान् को मानकर आज भी सुपरसीड कर रहा है दुनिया को। अमेरीका धार्मिक देश है, वहाँ सभी को धार्मिक सुविधा है। हमारे से एक सज्जन पूछने लगे कि आप अमेरीका तो बहुत जाते हो, रशिया कभी नहीं गए? हमने कहा रशिया कहाँ जाएँगे, वहाँ तो बोलने की इजाजत नहीं है। अमेरीका जाते हैं कम से कम दस आदमियों के सामने अपने धर्म की बात तो कहते हैं।

भौतिक विकास के लिए ईश्वर को मानने न मानने की बात नहीं है, यह तो परिश्रम की बात है, व्यवस्था की बात है। मैं आप लोगों को बता रहा था कि नास्तिक की बात सुनोगे तो अनेक प्रकार के संदेह आपके जीवन में उत्पन्न होने लगेंगे और आस्था समाप्त होने लगेगी। आस्था में ज़रा सा लेकिन लग जाए तो जीवन बर्बाद हो जाता है। किसी स्त्री को शक हो जाए कि मेरा पति मेरे सिवाय किसी और को चाहता है या किसी पति को पता लग जाए कि मेरी स्त्री मेरे सिवाय किसी और को चाहती है तो जीवन नरक हो जाएगा। जहाँ भी संदेह जन्म लेता है वहाँ भगवान् कहते हैं—

**अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति।**
**नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।**

*—गीता ४/४०*

जहाँ अज्ञान है, अश्रद्धा है, वहाँ संशय होगा। जहाँ संशय है वहाँ विनाश ही होता है।

संशयात्मा को न तो इस लोक में और न परलोक में ही सुख मिलता है, इसलिए नास्तिक का चरित्र नहीं सुनना चाहिए और बैरी अर्थात् शत्रु का चरित्र भी

नहीं सुनना चाहिए क्योंकि शत्रु का चरित्र सुनने से क्रोध उत्पन्न होता है। जिसके प्रति तुम्हारे हृदय में ईर्ष्या हो ऐसे व्यक्ति की विशेषता जब सुनोगे तो क्या होगा? तुम जलोगे और तुम्हें कुढ़न होगी। ऐसी स्थिति में अच्छा यही है कि तुम न सुनो, यह बिल्कुल मनोवैज्ञानिक उपचार है। इनके बदले में तुम भगवान् के चरित्र को सुनो, संत के चरित्र को सुनो, मित्र के चरित्र को सुनो, विरक्त के चरित्र को सुनो। इनके चरित्र को सुनोगे तो आस्था बढ़ेगी, भक्ति की ओर तीव्रता होगी, जीवन की ओर गति तीव्र होगी, परमात्मा की तरफ गति होगी। अगले सूत्र में नारद जी कह रहे हैं—

**अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्॥**

*—ना० भ० सू० ६४*

अभिमान और दम्भ, इन दोनों का पूर्ण रूप से त्याग कर देना चाहिए। संत कौन है? कहा—

**संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।**
**बालबिनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु॥**

*—रा० १/३*

जहाँ सरलता है वहीं संतता है। संत का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह सरल होता है। बालकवत उसकी वृत्ति होती है। बात है १९७० की, मैं अहमदाबाद में एक संत से मिलने गया। भारत के माने हुए विद्वानों में से वो एक थे। उनका नाम था स्वामी भगवताचार्य। बड़े ही महान् संत थे। उनकी विद्या के विषय में कई बार मैं आप लोगों से चर्चा किए हूँगा कि वे २२ व २३ भाषाओं के पंडित थे। पांव के अंगूठों में और दोनों हाथों में कलम पकड़ करके वे तीन चार भाषा एक साथ लिखा करते थे यानी इतना विकसित उनका मस्तिष्क था। वे वैष्णव रामानन्द सम्प्रदाय के संत थे। मैं उनके दर्शनार्थ अपने शिष्य सहजानंद के साथ अहमदाबाद गया। जिस सेठ के यहाँ मैं ठहरा हुआ था वह अपनी गाड़ी से हमें उनके यहाँ ले गया जहाँ वे अपने एक शिष्य के मकान में ही रहते थे। घण्टी बजाई, अन्दर से एक माँ निकली । उसने जाकर के कहा—"स्वामी जी! एक संत आए हैं। ले आएँ?" उन्होंने कहा नहीं, मैं स्वयं चल रहा हूँ। उस समय उनकी आयु रही होगी कोई ९५ वर्ष की। उन्होंने १०१ वर्ष की आयु में शरीर छोड़ा। वे स्वयं उठकर बाहर आए, देखे तो प्रणाम किए झुक करके। पहले तो मैं पहिचाना नहीं कि यही वो संत हो सकते हैं। हम ने कहा—स्वामी भगवताचार्य जी महाराज, सुनते ही कहा कि हाँ! इस शरीर को ही कहते हैं। मैं उनके चरण पकड़ने लगा

तो उन्होंने पकड़ करके हृदय से लगा लिया। हमें इतना आनन्द आया उनसे मिल करके कि कह नहीं सकता। वे ले गए मुझे कमरे में। उनका आसन नीचे जमीन पर ही लगा हुआ था। मुझे उस पर बिठाने लगे। हमने कहा नहीं, भगवन् मैं आपके.......। कहा.......न-न ऐसा नहीं हो सकता। वेद कहता है—'अतिथि देवो भव'। अतिथि और फिर संत! ''अरे!'' हम कहा ''मैं तो आपका बच्चा हूँ।'' संत! कोई बच्चा नहीं होता.....

**संत-भगवंत अंतर निरंतर नहीं, किमपि मति मलिन कह दास तुलसी॥**

—*विनय पत्रिका ५७/९*

मैंने कहा अच्छा, आप बैठ जाइए मैं भी बगल में बैठ जाऊँगा। बैठ गए फिर उनसे बातचीत किए। बहुत विषयों पर मैंने उनसे प्रश्नोत्तर किए। वो विद्या के एक प्रकार के समुद्र थे। मेरे दर्शनशास्त्र के आचार्य थे सारभौम वासुदेवाचार्य। उनसे इनका शास्त्रार्थ हुआ था और उस शास्त्रार्थ में भगवताचार्य जी विजयी हुए थे और वासुदेवाचार्य जी हार गए थे। मैंने उनसे प्रश्न किया कि भगवन्! मैंने सुना है आपका और सारभौम जी का शास्त्रार्थ हुआ था? उन्होंने कहा! हाँ।'' उसमें सुना वो आपसे पराजित हो गए थे? बोले-''नहीं-नहीं। इसमें पराजित होने वाली बात नहीं थी, बात सम्प्रदाय की थी। सम्प्रदाय के लिए मैंने उनसे झूठ बोला।'' आपने झूठ बोला? हाँ! भगवन्! आप कैसे झूठ बोल सकते हैं? उन्होंने कहा कि नहीं, मैंने झूठ बोला जिसके नाते उन्हें पराजित होना पड़ा। आखिर आपने क्या झूठ बोला? कहा! मैंने गीता पर आनन्द भाष्य लिखा और जब मैं उसको प्रमाण रूप में पेश करने लगा तो मैंने कहा कि यह 'आनन्द' रामानन्द का वाक्य है। आचार्य वाक्य को कौन मिथ्या कहेगा? वे मौन हो गए। दोनों एक ही आचार्य के मानने वाले थे, वे पराजित हो गए! वह सही में रामानन्द का वाक्य नहीं था, मैंने रामानन्द के नाम पर उसे उद्धृत किया था। यह मेरा छल था। इतना कह करके उनकी आँखों से आँसू आ गए। बाद में उन्होंने मेरे से पूछा कि आप उन्हें कैसे जानते हैं? मैंने कहा कि भगवन्! मैं उनका दर्शनशास्त्र का शिष्य हूँ। इतना सुनना था कि उन्होंने मुझे हृदय से लगा लिया। इतना महान् भारत का विद्वान् और इतना महान् योगी लेकिन सरलता, सादगी और व्यवहार देख करके आप कल्पना भी नहीं कर सकते कि कोई इतना महान् संत होगा। पाखण्ड तो उस महापुरुष के नज़दीक से नहीं गुज़रा। उन्हीं का ही प्रसाद रहा है कि मैं पाखण्ड आदि से बचने की कोशिश किया हूँ। हमारे शिष्य लोगों को यह भी बुरा लगता है कि आप क्या जो आया उससे घुल मिल गए, बैठ गए, यह किए वो किए। अरे कुछ अपनी

पोजिशन को भी देखा करो। यह मेरी समझ में नहीं आता कि वह पोजिशन क्या है जिसको देखूँ? पिछले साल जब मैं आया तो अमेरिका में शिष्यों ने सोचा कि स्वामी जी जब आते हैं तो जो आता है वही सीधा उनके पास चला आता है, उनका कोई आराम का समय ही नहीं है। ऐसे तो उनकी शक्ति भी खराब होती है। उन्होंने एक प्लानिंग बनाई और एक चार्ट बनाया। हमारे एक शिष्य हैं बिल। उसने कहा कि आप लोग बना तो रहे हो लेकिन मुझे यह विश्वास नहीं है कि स्वामी जी इसको स्वीकार करेंगे। क्यों नहीं स्वीकार करेंगे? वे जब अमेरिकन ढंग समझेंगे तो अवश्य इसे स्वीकार करेंगे। वे लोग वो थे जो पहले कभी महर्षि के साथ थे। महर्षि के प्रचार में उनका बड़ा योगदान था। जब मैं आया तो उन्होंने सारी प्लानिंग लाकर मेरे सामने रख दी। मुझे बताया कि ऐसे-ऐसे करने जा रहे हैं। इससे क्या होगा? इससे सारे अखबार वाले आएँगे और एडवरटाईज़मैन्ट भी होगा। दो-तीन साल के अन्दर आप भी पूरे अमेरीका में प्रसिद्ध हो जाएँगे जैसे महेश जी हो गए। मैंने उनसे कहा कि तुम मुझे दूसरा महेश बनाना चाहते हो। मैं महेश बनने के लिए तैयार नहीं हूँ। ये चार्ट-ऊट उनके सारे के सारे धरे रह गए। इसमें क्या आपत्ति है कि जो व्यक्ति आएगा दस मिनट बैठेगा चला जाएगा। हम कहा कि नहीं यह मेरे बस की बात नहीं है। हमारा दरवाजा तो खुला रहता है, जिसकी जब रुचि हो आ जाए। जितनी देर रुचि हो बैठे बल्कि जब जाने लगता है तो कहता हूँ कि यार दस मिनट और रुक जा। जिन्दगी का सबसे बड़ा उद्देश्य अधिक से अधिक लोगों को शान्ति प्रदान करना है। हम कहा भले आदमी! लोग दिन भर काम करते हैं १० या ११ बजे मेरे पास आते हैं, दो बजे रात तक बैठे रहते हैं जबकि छः बजे उन्हें काम पर जाना होता है, हमें कौन काम पर जाना होता है। उनको शान्ति मिलती है, स्थिरता है, प्रियता है तभी तो बैठते हैं नहीं तो क्यों बैठेंगे। मैं सोचूँ कि १० बज गए अब मेरे पास कोई नहीं आ सकता, यह नहीं हो सकता। यह तुम लोगों का प्रोग्राम हमें पसन्द नहीं है। इसलिए मैं स्वीकार नहीं करता।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि भक्ति में भगवद् प्राप्ति में भगवद् अनुराग में अभिमान और दम्भ के लिए स्थान नहीं है। दम्भ माने अपने आपको प्रीटेन्ड करना। यह भगवद् प्रेम का द्योतक नहीं है क्योंकि वह तो इन्डीविज्यूऐशन की पुष्टि करता है। धर्म ने आपको दुनिया के साथ 'एसीमीलेट' होने की सीख दी है न कि 'आइसोलेट' होने की। यदि आप धर्म की स्थापना करते-करते आइसोलेट

हो रहे हैं तो आप गलत रास्ते पर पड़ गए हैं। धर्म के नाम पर पाखण्ड अपना रखा है। जैसे-२ आप में भगवत् अनुभूति आएगी वैसे-वैसे आप सब में भगवान् को देखेंगे। 'आइसोलेट' होने का अभिप्राय भगवान् से दूर होना है। गीता में भगवान् ने यही बताया है—

**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**

*—गीता ६/३०*

मेरा भक्त सबमें मुझे देखता है।

एकनाथ जी चले जा रहे थे। उन्होंने गंगोत्री से जल भरा रामेश्वर को चढ़ाना था। पैदल लेकर चले जा रहे थे और जब पहुँचे रेगिस्तान में तो वहाँ पर एक गधा प्यासा पड़ा हुआ था। उन्होंने देखा कि वह जल के बिना तड़प रहा था। वे जल का घड़ा उसके मुख में डालने लगे। उनके साथियों ने कहा "अरे मूर्ख! तू गंगोत्री का जल ले आ रहा था शंकर जी के ऊपर चढ़ाने के लिए, गधे को पिला रहा है? यह क्या कर रहा है तू?" उन्होंने कहा कि गधे को नहीं यह भगवान् शंकर को ही अर्पित कर रहा हूँ। उनकी उस श्रद्धा ने उस गधे से भगवान् शंकर को प्राप्त कर लिया। संत नामदेव का नाम तो सुना होगा आपने। वे रोटी बना रहे थे, गोपाल को भोग लगाने के लिए। इतने में एक कुता आया, रोटी उठाया और चल पड़ा। संत नामदेव जी घी का डिब्बा उठाया, कुत्ते के पीछे दौड़े और कहा— प्रभो, सूखी नहीं, सूखी कैसे खाई जाएगी? घी तो लगा लो। यदि नामदेव की दृष्टि में कुत्ते में भी भगवान् है, एकनाथ की दृष्टि में गधे में भी शिव है तो कौन ऐसा स्थान है जहाँ भगवान् नहीं है। जब भगवान् घट-२ में हैं तो तुम अपने आपको भगवान् से दूर करते हो या नज़दीक ले जा रहे हो। यह भक्ति का रास्ता नहीं है। भक्ति का रास्ता तो वो है जिसमें तुम दुनिया में मिल गए। तुम्हारे में और दुनिया में कोई भेद नहीं रहा। दुर्भाग्य रहा है भारत का। भारत में वह दृष्टि बनी कि यह बहुत अच्छे महात्मा हैं क्योंकि ये किसी से बात नहीं करते। बहुत आगे बढ़ गए तो वे किसी को छूते नहीं हैं। किसी को न छूना, किसी को न मिलना, ये महात्माओं के लक्षण बनते चले गए। यह तो बड़ी सीधी सी बात है लेकिन ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति बड़ी मुश्किल से होती है। दुनिया में कीर्ति दो प्रकार से होती है। या तो आपके पास बहुत बड़ा ज्ञान है या आप तपस्वी हैं। ज्ञान का नाटक तो आप कर नहीं सकते लेकिन तपस्वी का नाटक तो आप कर सकते हैं। तुलसीदास जी ने लिखा—

**जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥**
**अशुभ बेष भूषन धरे भच्छाभच्छ जे खाहिं।**
**तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥**

—रा० ७/९८

सिद्धाई को प्रीटेन्ड करने का सीधा सा रास्ता है अशुभ वेश-भूषा बना लो तथा भक्ष्य-अभक्ष्य सब खाते रहो। कोई पूछे—'अरे हम तो सिद्ध हैं।' सिद्धों के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है। आम जनता विद्वता को नहीं पाखण्ड को ज्यादा प्रश्रय देती है। पाखण्ड उसकी समझ में आ जाता है, विद्वता उसकी समझ में नहीं आती। बावरा जी के पास जाना बड़ा मुश्किल है। वहाँ वेद शास्त्र की बात, कौन समझे, इतनी ऊँची बात बताते हैं। यदि कोई कहे कि भाई! भवानी आई है और ऐसे-ऐसे सिर हिलाती है, चलोगे? हाँ चलेंगे। दुनिया में यह पाखण्ड प्रबल होता जा रहा है। यदि अनपढ़ और मूर्ख लोगों में पाखण्ड का प्रवाह चले तो कहें कि जाने दो कोई नहीं, इनका तो स्तर ही इतना है लेकिन अच्छे-२ समझदार लोग भी पाखण्ड के प्रेमी बन जाते हैं। इसका परिणाम दुःखद होता है और जिंदगी उसी में चली जाती है तथा बाद में पछताते हैं बैठ करके। कुछ हाथ नहीं लगा, न भगवान् की भक्ति हुई न परमात्मा का चिन्तन हुआ। सारे बिगड़े काम सँवर जाएँगे यदि संतोषी माता खुश हो गई तो! सही में न कोई संतोषी है न माता है यानी किस ढंग से पाखण्ड चलता है भारत में और यह दुर्भाग्य से भारत के हिस्से में आया है क्योंकि जहाँ पर धर्म का ज्यादा प्रभाव होगा वहाँ पर ही इसकी महिमा है। विद्वता और साधना में तो बड़ी मेहनत करनी पड़ती है परन्तु पाखण्ड तो आराम से हो जाता है। मैं आपको बता रहा था कि शास्त्र बताता है—

**अभिमानदम्भादिकं त्याज्यं।**

—ना०भ०सू० ६४

अभिमान और दम्भ का त्याग करो। दम्भ बहुत ही भयंकर है क्योंकि पहले तुम्हें मूर्ख बनाएगा बाद में बेवकूफ इसलिए आगे कह रहे हैं—

**तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्॥**

—ना०भ०सू० ६५

यह जो कह दिए-स्त्री, धन, नास्तिक और बैरी का चरित्र नहीं सुनो तथा अभिमान और दम्भ का त्याग कर दो। यह सारा कैसे हो सकता है एकाएक? नारद जी एक ऐसी बात कह रहे हैं, आप सुनोगे तो आप को हँसी होगी। तदर्पिताखिलाचार,

कहा–सारे आचार–विचार भगवान् को समर्पित कर दो, फिर काम, क्रोध, लोभ, अभिमान जो कुछ है, उसको भगवान् के साथ कर दो। यह बड़ा मुश्किल है कैसे किया जाए? रावण को शत्रुता प्रिय है, वह कहता है कि मैं शत्रुता अब राम के साथ करूँगा। उसने कहा—

**सुर रंजन भंजन महि भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥**
**तौ मैं जाइ बैरु हठि करउँ। प्रभु सर प्राण तजे भव तरऊँ॥**

देवताओं की रक्षा के लिए और दुष्टों का नाश करने के लिए यदि भगवान् ने पृथ्वी पर अवतार ले लिया है तो अब मैं जाकर उनसे शत्रुता करूँगा। उन्हीं के बाणों से मर करके मोक्ष पाऊँगा। अरे, कहा—भले आदमी शत्रुता क्यों करता है, प्रेम क्यों नहीं कर लेता? वह कहता है—

**होइहि भजन न तामस देहा।**

मैं तामसी वृत्ति वाला आदमी हूँ, मेरे से भक्ति नहीं होती। श्रीमद्भागवत में हम पढ़ते हैं कि जैसे गोपिकाओं को सर्वत्र कृष्ण दिखाई देते हैं ऐसे ही कंस को सब में कृष्ण दिखाई देते हैं, क्यों? आप इसे अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। या तो मित्र का चिन्तन होता है या शत्रु का, या वो जिससे बहुत प्यार करते हैं, उसकी याद आपको बनी रहती है या जिसकी आपसे घोर दुश्मनी हो वह आपके दिमाग पर चढ़ा रहता है। जिससे आप दूर होना चाहते हैं, उसकी स्मृति अधिक प्रबल होती है। हमें याद है, हम कई वर्षों तक नमक नहीं खाए। जब कहीं जाता, कोई सब्जी बना कर मेरे सामने ले आता तो सबसे पहले मुझे नमक याद आता। क्यों भाई, इसमें नमक तो नहीं है? कौन याद आया? सब्जी नहीं नमक याद आया। नमक छोड़ा है इसलिए नमक याद आ रहा है। नमक खाते रहते हो तब किसी से पूछते हो कि इसमें नमक है या नहीं है? ये दो प्रक्रियाएँ हैं—या तो खूब प्रेम करो तब उससे आत्मीयता होगी या द्वेष हो, शत्रुता हो तब आत्मीयता होगी। स्मरण के दो आधार है। यहाँ पर नारद जी कह रहे हैं कि काम, क्रोध और अभिमान, ये तीनों भगवान् के साथ जोड़ दो तुम। कामना करो तो भगवान् से करो, क्रोध करो तो भगवान् से करो। तुलसीदास जी लिखते हैं रामायण में—

**अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥**

"मैं भक्त हूँ भगवान् मेरे स्वामी हैं, ऐसा यह मेरा अभिमान प्रभो! कभी नष्ट न हो।" हनुमान जी जब लंका में जाते हैं तो रावण बड़े गर्व से पूछता है, कौन हो तुम? किसके बल से तूने हमारी वाटिका को नष्ट किया? किसके बल से तूने

अक्षय का वध किया ? हनुमान जी क्या कहते हैं जानते हो ?

दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
हनूमान्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः ॥

—वाल्मीकि ५/४३-९

हनुमान जी कहते हैं, "मूर्ख ! मैं राम का दास हूँ, हनुमान मेरा नाम है। मैं शत्रुओं की सेना का संहार करने वाला पवन पुत्र हूँ।" उनको अभिमान है राम दास होने पर, राम भक्त होने पर, राम का दूत होने पर। जब भगवान् का होने पर अभिमान करेंगे तो अभिमान नहीं कहा जाएगा, उसका नाम होगा स्वाभिमान। जहाँ अभिमान नहीं वहाँ स्वाभिमान अमृत है, जीवन है। भगवान् पर अभिमान होना, भगवान् में आसक्ति होना, भगवान् की कामना होना, भगवान् की शत्रुता होना, बड़े सौभाग्य की बात है, इससे भगवद् चिन्तन बना रहता है। भगवान् से शत्रुता करने के लिए रावण बनना पड़ेगा, कंस बनना पड़ेगा। बहुत मुश्किल है क्योंकि जब दस सिर काट कर चढ़ाने की सामर्थ्य आ जाए तब तो रावण बनोगे। यहाँ तो अंगुली में जब चोट आ जाए तो दस बार सी-सी करते हैं। रावण बनना बड़ा मुश्किल है। घोर तपस्या करके तब रावण बना है वो लेकिन विभिषण बनना बड़ा सरल है क्योंकि वहाँ समर्पण है। उसमें कुछ करना नहीं है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि काम, क्रोध और अभिमान सब भगवान् से ही करना चाहिए यानी सारे विकार भगवान् के साथ जोड़ दें। यही बात श्रीमद्भागवत में आती है। जब परीक्षित ने पूछा शुकदेव जी से कि "भगवन् ! गोपिकाएँ तो कामातुर हो करके कृष्ण के पीछे ही लगी हैं, इनकी क्या गति होगी ?" उनका जो प्रवाह चल रहा था इस दृष्टि का वह सारा का सारा वहीं शांत हो गया और उन्होंने कहा कि यह यथार्थ पात्र नहीं है। उन्होंने वहाँ एक श्लोक कह कर समाधान करके वैसे ही छोड़ दिया। उन्होंने कहा कि काम से, क्रोध से, मोह से, मद से, मत्सर से, किसी भी प्रकार से जो भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, उसका उद्धार हो जाता है। हमारे यहाँ धर्म ग्रन्थों में पढ़ने को मिलता है कि भूल से भी यदि भगवान् का नाम निकल आवे तो भगवान् उसकी रक्षा करते हैं। अजामिल तो अपने लड़के को पुकारता था 'नाराय़ण' कह करके, भगवान् को तो नहीं पुकारा था, भगवान् ने उसकी रक्षा की। एक ग्रन्थ में आया है कि एक मुसलमान था। वह चला जा रहा था। बनैले सुअर ने आकर उसे मार दिया। जब वह मरने लगा तो उसने कहा कि 'ह-राम ने मुझे मारा।' सुअर को मुसलमान 'हराम' कहते हैं। हराम का अभिप्राय तो हराम ही होता है लेकिन ह-राम का

अभिप्राय होता है 'हा-राम मुझे मार दिया।' ह-राम कहते ही वहाँ पर विष्णु के दूत पहुँच गए। यम के दूतों ने पूछा कि यह कैसे आ गया? यह तो महा पापी आदमी है। कहा-नहीं, पापी नहीं, इसने तो भगवान् का नाम लिया है। भगवान् का नाम? भगवान् का नाम कहाँ, यह तो सुअर की बात कर रहा था। कहा कि नहीं, किसी भी प्रकार से राम शब्द तो इसके मुख से निकला है अन्तिम समय में। अन्तिम समय में जिसके मुख से राम निकले उनके लिए तुलसीदास जी लिखते हैं—

**तुलसी जाके बदन ते, धोखेहुँ निकसत राम।**
**ताके पग की पगतरी, मेरे तन को चाम॥**

*—वैराग्यसंदीपनी ३७*

'धोखे में जिसके मुख से राम निकल जाय, मेरे शरीर की चमड़ी उतारकर उसके चरण की यदि जूती बना दी जाए तो मुझे संतोष होगा।' भूल कर नाम लेने की इतनी महिमा है, जो राजी से नाम ले रहा है उसकी तो बात ही क्या है! तुलसीदास जी ने रामायण में लिखा है—

**भायँ कुभाँय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥**

*—रा० १/२८-१*

भाव से, कुभाव से, अनख, आलस्य से कैसे भी राम कहो, प्रभु का नाम लो तुम्हारा मंगल होगा। तुम कह कर तो देखो। अभ्यास तो करो पहले। यहाँ पर बताया—

**तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्॥**

*—ना०भ०सू० ६५*

सारा आचार-विचार प्रभु को अर्पित कर दो और काम, क्रोध, लोभ, अभिमान जो कुछ भी विचार हैं, सब प्रभु के साथ जोड़ दो तो अपने आप सब नष्ट हो जाएँगे। आगे एक और बात कही है—

**त्रिरूपभंगपूर्वकं नित्यदास नित्यकान्ताभजानात्मकं**
**वा प्रेमैव कार्यम्, प्रमैव कार्यम्॥**

*—ना०भ०सू० ६६*

तीनों रूपों को नष्ट कर दो। त्रिरूप क्या है? स्वामी, सेवक और सेवा। मैं सेवक हूँ, प्रभु मेरे स्वामी हैं, मैं उनकी सेवा करूँगा। इन तीनों रूपों को भंग करके नित्य दासभाव या नित्य कान्ताभाव नारद जी रिकोमैन्ड करते हैं। भगवान् कहते हैं—

**सबके प्रिय सेवक यह नीति। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥**

दास भाव में क्या आता है—

**बालक सुत सम दास अमानी।**

जैसे छोटे बच्चे के लिए माँ के सिवा और कोई सहारा नहीं, वैसे दासभाव की स्थिति होती है। कान्ता भाव में प्रिया-प्रियतम भाव है। प्रभु मेरे स्वामी हैं और मैं उनका भोग्य हूँ, इस प्रकार का भाव और दूसरा दास्य भाव-मैं शिशु हूँ, प्रभु मेरे माता-पिता हैं। दोनों भावों में भेद के लिए स्थान नहीं है। राज सिंहासन पर बैठने का अधिकार किसको है? या तो महारानी को या उस शिशु को जो महारानी की गोद में है। यदि वह बड़ा बच्चा बन जाए तो वह राजसिंहासन पर नहीं बैठ सकता जब तक कि उसका अभिषेक न हो जाए। यह दास भाव शिशु के समान है। भक्ति रूपी माँ है, उसकी गोद में रहते हुए भगवान् के सन्निकट बैठना। वहाँ भी भेद का पूरा अभाव नहीं है। कान्ता भाव में बिल्कुल भेद का अभाव है। पहले दास्य भाव है फिर कान्ता भाव आता है। ये दोनों क्रम से आते हैं, इसकी विस्तृत व्याख्या आपको कल सुनाई जाएगी।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## ११

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! देवर्षि नारद का कथन है—

**तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्॥**

*—ना०भ०सू० ६५*

सारे आचार को, क्रिया-कलाप को भगवान् को समर्पित कर देने के पश्चात् जो जीवन में विकार उत्पन्न होता है—काम, क्रोध, लोभ तथा मोह आदि, इसका भी प्रयोग भगवान् के साथ ही करना चाहिए क्योंकि जब सभी भावों का आधार प्रभु ही हैं तो उनके अतिरिक्त किसी सत्ता को स्वीकार करना उचित नहीं.......इसकी व्याख्या पिछले दिनों मैंने आप लोगों को सुना दी थी। आगे कह रहे हैं—

**त्रिरूपभंगपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजानात्मकं वा**
**प्रेमैव कार्यम्, प्रमैव कार्यम्॥**

*—ना०भ०सू० ६६*

तीन प्रकार की भावनाएँ हैं—स्वामी, सेवक और सेवा या उपासक, उपास्य और उपासना, इनका त्याग करके केवल नित्य दास और नित्य कान्ता, इन दोनों भावों से केवल प्रभु का भजन ही करना चाहिए, प्रेम ही करना चाहिए। प्रेम करने के लिए दो भावों को नारद जी प्रोत्साहन देते हैं-एक शिशु-पिता का सम्बन्ध और दूसरा प्रिया-प्रियतम सम्बन्ध जिसे उन्होंने दास भाव और कान्ता भाव कहा है। प्रेम के लिए दोनों में से किसी एक भाव को अपनाना चाहिए और प्रभु से प्रेम ही करना चाहिए, ऐसा उनका कथन है। उपासक, उपास्य और उपासना, यदि ये तीन

बने रहें तो इससे क्या अन्तर पड़ता है? नारद जी कहते हैं कि इसमें भेद बना रहता है। उपासक, उपास्य और उपासना में भेद नहीं होता बल्कि दूरी भी होती है। उपास्य तो बहुत दूर है हम उसके उपासक हैं। इस प्रकार स्वामी-सेवक में बहुत दूरी होती है लेकिन भक्ति में दूरी के लिए स्थान नहीं है। नारद जी कहते हैं जब हम पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं वहाँ दूरी कम हो जाती है। सेवक सेवा करे तो स्वामी को प्रिय है, यदि वह सेवा न करे तो उसका कोई अधिकार नहीं है लेकिन ऐसा सम्बन्ध पिता-पुत्र में नहीं है। पुत्र यदि पिता को मानता है तब भी वह पुत्र है, यदि नहीं मानता है तब भी पुत्र है। उसका सम्बन्ध नित्य है, स्वीकार किया हुआ नहीं है। इसी रूप से प्रिया-प्रियतम का सम्बन्ध नित्य है, स्वीकार किया हुआ नहीं है। वहाँ न मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता इसलिए दोनों अवस्थाओं में एक तो निकटता बनी रहती है, अभिन्नता बनी रहती है और भेद भी समाप्त हो जाता है। उच्चतम अवस्था प्रिया-प्रियतम की है जिसमें किसी भी प्रकार के आवरण के लिए गुंजाइश नहीं है। निरावरण रूप की उपलब्धि तो कान्ता भाव में ही होती है। नारद जी ने जोर दिया है कि प्रभु के साथ दो प्रकार की भावनाओं में से कोई एक चुन लेना चाहिए और उसके अनुसार प्रेम करता रहे। प्रेम के लिए बहुत निकटतम सम्बन्ध जरूरी है। हमारे यहाँ रामायण में दास्य भक्ति के आचार्य हनुमान हैं। प्रभु राम उन्हें वहाँ पर पुत्र रूप में ही स्वीकार करते हैं। भगवान् राम कहते हैं—

**सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥**

—रा० ५/३२-७

मैं आप लोगों को बता रहा था कि यह जो नित्य दास और नित्य कान्ता भाव का सम्बन्ध है, यह शाश्वत सम्बन्ध है। इसमें दूरी नहीं रहती, निकटता हो जाती है, अभिन्नता हो जाती है। जहाँ भेद नहीं होता वहीं पर अखण्ड प्रेम होता है। इसके आगे नारद जी समझा रहे हैं—

**भक्ता एकान्तिनो मुख्या॥**

—ना० भ० सू० ६७

एकान्त माने एक ही में जीवन का अन्त कर देना। एक में ही जीवन को समर्पित कर देने की जो भावना है, यही मुख्य है। विनय पत्रिका में तुलसीदास जी ने लिखा है—

**तुलसी रहत निसोच सदा ज्यों बालक माय बबा के ।**

जैसे माता-पिता के राज्य में शिशु सोच रहित रहता है इसी रूप से तुलसीदास जी

लिखते हैं कि हम राम नाम के राज्य में निसोच रहते हैं। इन्हीं दो भावों से एकान्तिक भक्ति होती है। यदि बच्चे को माँ मारे तो बच्चा रोता हुआ माँ का आँचल पकड़ कर उसी से लिपटेगा क्योंकि उसके पास कोई और सहारा नहीं है। इसी रूप से—

**भक्ता एकान्तिनो मुख्या ॥**

भक्त के लिए भगवान् के सिवा और कोई आधार नहीं है। रामायण में एक कथा आती है महात्मा नारद की, जिन्होंने भक्ति सूत्र की रचना की है। इनको एक बार अभिमान हो जाता है कि मैंने कामदेव को जीत लिया है। भगवान् की लीला बड़ी विचित्र है—

**जिता काम अहमिति मन माहीं॥**

*—रा० १/१२७-५*

अहंकार का परिणाम हुआ कि शंकर के यहाँ पहुँच गए और शंकर जी से कहा कि मैंने काम को जीत लिया है। भगवान् शंकर समझ गए कि यह भगवान् की बड़ी प्रबल माया है। शंकर जी ने बार-२ समझाया—

**बार-बार बिनवउँ मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनायहु मोही॥**
**तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ। चलेहूँ प्रसंग दुराएहु तबहूँ॥**

*—रा० १/१२७-७,८*

नारद, मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ जैसे यह काम-विजय की कथा मुझे सुनाई है ऐसे नारायण को कभी नहीं सुनाना। यदि प्रसंग आ भी जाए तो छुपा लेना लेकिन उसकी व्याख्या नहीं करना। जब बुद्धि उलट जाती है तो—

**सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥**

*—गीता १८/३२*

वह सब बातों में उल्टा ही समझती है। नारद जी ने सोचा कि शंकर जी को यह प्रिय नहीं है कि मैंने काम को जीत लिया है क्योंकि कामारी नाम से तो इनकी ख्याति है और ये सोच रहे हैं कि दूसरा कोई हमारी बराबरी का न हो। उन्होंने निश्चय किया कि वैसे तो मैं न जाता लेकिन अब तो जरूर जाकर भगवान् से कहूँगा। मैं इनसे कम थोड़ा ही हूँ। मैंने भी काम को जीता है। नारद जी वहाँ से चले, पहुँच गए नारायण के पास। भगवान् ने दूर से देखा कि नारद जी अभिमान में आ रहे हैं तो प्रभु उठकर खड़े हो गए। खड़े होकर भगवान् ने स्वागत किया और—

**बोले बिहसि चराचर राया। बहुते दिनन कीन्हि मुनि दाया॥**

—रा० १/१२८-६

कहा—"आप बहुत दिनों के बाद आए। कहाँ रहे इतने दिन?" बड़े प्रेम से भगवान् नारायण ने उनका स्वागत किया और अपने बगल में आसन पर बिठा लिया। यहाँ पर प्रश्न होता है कि नारद भगवान् के बगल में क्यों बैठ गए? इसलिए कि नारद जी को पता है कि तीन चीज़ों को जो विजय कर ले, वह नारायण के समान हो जाता है।

**नारी नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥**
**लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥**

—रा० ४/२१-४,५

जिसने काम, क्रोध और लोभ, इन तीनों पर विजय कर लिया वह भगवान् के समान है। एक दिन मैंने नरसिंह मेहता का एक गीत सुनाया था—

**आपा मारि जगत में बैठे, नहीं किसी से काम ।**
**तिनमें तो कछु अन्तर नाहीं, संत कहो चाहे राम ॥**

नारद जी ने सोचा कि मैंने तीनों को ही जीत लिया है—

**भयउ न नारद मन कछु रोषा। कहि प्रिय बचन काम परितोषा॥**

इसलिए अब मैं नारायण के समान हो गया तो मुझे वहीं बैठना होगा जहाँ नारायण बैठते हैं। नारद जी का स्वागत करके जब भगवान् ने उनका आवाहन किया कि आइए आप यहाँ बैठिए तो नारद जी आकर भगवान् की बगल में बैठ गए। भगवान् ने पूछा, भाई नारद,तुम कहाँ रहे इतने दिनों तक?

**काम चरित नारद सब भाषे। जद्यपि प्रथम बरजि सिवँ राखे॥**

—रा० १/१२८-७

भगवान् शंकर ने बहुत समझाया था कि नहीं कहना लेकिन नारद जी ने सारी व्याख्या बड़े प्रेम से सुना दी कि भगवन्! मैं तो बद्रिकाश्रम चला गया था। वहाँ पर आपकी कृपा से ध्यान में बैठ गया, ध्यान में इन्द्र ने कामदेव को भेज दिया। कामदेव अपनी अप्सराओं के साथ आकर मेरे सामने नग्न होकर नृत्य करने लगा। प्रभु! वह बेचारा कामदेव क्या कर सकता था? भगवान् ने पूछा, फिर क्या हुआ? कुछ नहीं, कामदेव आपकी कृपा से हार कर चला गया। "तुम्हें गुस्सा तो आया होगा?" नहीं, मैं तो प्रभो बड़े प्यार से उसको विदा कर दिया। भगवान् ने नारद से कहा—

**तुम्हरे सुमिरन तें मिटहिं मोह मार मद मान ॥**

—रा० १/१२८

अरे नारद जी, तुम्हारा कोई नाम ले दे, तो तुम्हारे सुमिरन से काम, क्रोध और लोभ मिट जाते हैं, तुम्हारे पास काम कैसे आ सकता है? तुलसीदास जी कहते हैं—

**नारद कहेउ सहित अभिमाना। कृपा तुम्हारि सकल भगवाना॥**

—रा० १/१२९-३

यह सब आपकी कृपा से हुआ लेकिन अहंकार के साथ कहा। भगवान् समझ गए। भगवान् ने निश्चय किया—

**करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गरब तरु भारी॥**

—रा० १/१२९-४

कि अब नारद के हृदय में अहंकार का अंकुर उत्पन्न हो रहा है। जब तक इस अंकुर को उखाड़ कर फेंक न दूँ तब तक नारद का कल्याण नहीं होगा। यदि अंकुर उखाड़ दिया जाएगा तो कम दर्द होगा और यदि अंकुर वृक्ष बन गया और उखाड़ना पड़ा तो उखड़ेगा नहीं, फिर तो काटना ही पड़ेगा। भगवान् ने निश्चय किया कि नारद के इस अहंकार को दूर किया जाए। नारद जी ने जब कथा सुना दी तो भगवान् ने उसकी बड़ी महिमा गाई। नारद जी आनन्दमगन हो गए। उनका अहंकार और पुष्ट हो गया और वे उठकर चल दिए। अभी कुछ दूर ही आगे बढ़े थे कि रास्ते में एक विशाल नगर देखा। उस नगर का एक राजा था और उसकी एक राजकुमारी थी जो बहुत सुन्दर थी। जब नारद जी को पता चला कि राजकुमारी का स्वयंवर हो रहा है तो वे राजा के पास पहुँच गए। राजा ने जब नारद जी को देखा तो दौड़ कर आया, प्रणाम किया, ले जाकर उन्हें अपने सिंहासन पर बिठाया और उनके चरण धोए। अपनी कन्या को लाकर नारद जी के सामने खड़ा कर दिया कि महाराज ज़रा इसका हाथ तो देखिए। नारद जी को हाथ देखने का बड़ा शौक था। हाथ देखा तो उसमें चिह्न था—

**जो एहि बरइ अमर सोइ होई। समर भूमि तेहि जीत न कोई॥**
**सेवहिं सकल चराचर ताही। बरइ सीलनिधि कन्या जाही॥**

—रा० १/१३१-३,४

बात बिल्कुल स्पष्ट है, जो इसको वरण करेगा वह अमर होगा, चर और अचर सब उसकी उपासना करेंगे। नारद उल्टा समझ गए। जब बुद्धि भ्रष्ट होती है तो उलटा समझ आता है। नारद जी यह समझे कि जिसको यह कन्या वरण करेगी चर-अचर उसकी पूजा करने लगेंगे। उन्होंने सोचा कि यह सुनहरी मौका हाथ से क्यों

जाने दें। राजकुमारी का स्वयंवर होने वाला है, यदि हम ही जाकर बैठ जाएँ तो यह राजकुमारी हमें ही वरण कर लेगी। हम ही अमर हो जाएँगे, हमें सारी दुनिया पूजने लगेगी। देखिए कैसे काम, क्रोध और लोभ तीनों को जीता था और धीरे-धीरे तीनों अपना अधिकार जमाने लगे।

**देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥**

—रा० १३१/१

पहले बहुत देर तक तो उसकी छवि देखते रहे। काम जिसको विजय किए थे, वह सर पर सवार हो गया क्योंकि रामायण में तुलसीदास जी ने बताया है—

**एहि कें एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी॥**

—रा० ३/३८-१२

**तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।**
**मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥**

—रा० ३/३८

काम, क्रोध और लोभ, ये तीनों बड़े शत्रु हैं। ये बड़े-२ मुनियों के हृदय में क्षोभ पैदा कर देते हैं। इन तीनों को जीतना, तीनों से दूर रहना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। नारद जी ने तीनों को विजय किया था। अहंकार उत्पन्न होते ही वे तीनों के गुलाम हो गए। पहले राजकुमारी के स्वरूप को देखा था, वहीं समर्पित हो गए। अब सोचने लगे राजकुमारी के लक्षण कि जो इसको वरण करेगा वह अमर हो जाएगा। नारद जी को यह चाह हुई कि मैं क्यों न अमर हो जाऊँ? काम भी आया, लोभ भी आया, जब लोभ पूरा नहीं हुआ तो क्रोध भी आ गया। ये तीनों एक-दूसरे के साथी हैं। यह राजकुमारी वरण कैसे करेगी? उन्होंने निश्चय किया—

**एहि अवसर चाहिअ परम सोभा रूप बिसाल।**
**जो बिलोकि रीझै कुअँरि तब मेलै जयमाल॥**

—रा० १/१३१

मैं एक बात आपको बता रहा था कि जो दास, शिशु भगवान् के आश्रित है, उसको यदि भगवान् धक्का भी देना चाहें तब भी वह भगवान् को ही पकड़ता है। जैसे बच्चे को माँ मारती है लेकिन बच्चा फिर भी माँ को ही पकड़ता है क्योंकि उसके सामने कोई दूसरा सहारा नहीं होता। जब नारद के हृदय में यह चाह हुई कि यह राजकुमारी हमें मिल जाए तो उन्होंने सोचा कि कैसे मिलेगी? इस समय तो बहुत सौन्दर्य की जरूरत है। स्वयंवर में राजकुमारी सुन्दरता को ही देखेगी। जो

सबसे सुन्दर होगा उसी के गले में जयमाला पड़ेगी। उन्होंने अपनी शक्ल देखी तो सोचा कि मैं तो महात्मा हूँ, मेरे गले में कौन जयमाला पड़ेगी? उन्हें याद आया—

**हरि सन मागौं सुन्दरताई।**

शादी विवाह में हरेक व्यक्ति कुछ न कुछ तो उधार ले ही आता है। कुछ लोग किराए पर समान ले आते हैं। अब किराए पर लेने की बात नहीं, उधार लेने वाली बात हो सकती है। भगवान् से अधिक सुन्दर तो कोई है ही नहीं। यदि भगवान् अपनी सुन्दरता एक घण्टे के लिए उधार दे दें तो उनका कुछ बिगड़ेगा ही नहीं लेकिन हमारा काम बन जाएगा। यह निश्चय कर वे तुरन्त भगवान् से प्रार्थना करने लगे।

**बहुबिधि बिनय कीन्हि तेहि काला। प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला॥**

—रा० १/१३२-३

परम कौतुकी भगवान् तो वहीं प्रकट हो गए। वही तो लीला कर रहे थे। भगवान् जब प्रकट हुए तो उन्होंने पूछा—''क्यों नारद! क्या बात है?'' कहा—

**आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिं पावौं ओही॥**

''प्रभो! अपना रूप मुझे दे दो।'' ''किस लिए भाई?'' कहा-''दूसरे प्रकार से मैं उसको नहीं पा सकता।'' किसको? कहा-उसी को। उसी का कोई नाम है? प्रभो! हमारे यहाँ धर्मशास्त्र में पत्नी का नाम नहीं लिया जाता। अब वह होने वाली पत्नी है इसलिए उसका नाम नहीं ले रहे। भगवान् मुस्कराये और उन्होंने वहाँ एक बात कही—

**कुपथ माग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥**

—रा० १/१३३-१

नारद! यदि एक रोगी व्याकुल होकर कुपथ्य मांगे तो क्या वैद्य दे देता है? नहीं देता। भगवान् ने कहा, ऐसे ही हम तुम्हारा हित करेंगे—

**एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ। कहि अस अंतरहित प्रभु भयऊ॥**
**माया बिबस भए मुनि मूढ़ा। समुझी नहिं हरि गिरा निगूढ़ा॥**

—रा० १/१३३-२, ३

भगवान् ने तो स्पष्ट कहा था कि हम अपना रूप नहीं देंगे लेकिन मोह के वशीभूत होकर उन्हें समझ में ही नहीं आया। वह रूप पाने के लिए भगवान् को ही पकड़े। जब राजकुमारी नहीं मिली फिर वे गालियाँ भी भगवान् को ही दिए—

**फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं॥**

निश्चय किया कि—

**देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई । जगत मोरि उपहास कराई ॥**

—रा० १/१३६-३

नारद जी की यह अनुभूत बात है इसलिए तो यहाँ कह रहे हैं कि यदि तुम्हारे हृदय में विकार उत्पन्न हो यानी काम हो, क्रोध हो या लोभ हो तो भगवान् से ही करो। नारद जी को काम की जरूरत हुई तो उन्होंने भगवान् से ही रूप माँगा, क्रोध आया तो भगवान् को गालियाँ दीं तथा लोभ आने पर भगवान् से ही कहा। भगवान् के सिवा और कौन है? किससे कहें? इसलिए यहाँ पर कहते हैं—

**भक्ता एकान्तिनो मुख्या ॥**

जो एक ही में जीवन का अन्त कर रखा है, वही भक्त मुख्य है। भगवान् ने नारद जी को सम्भाला ही नहीं बल्कि शरीर तो अपना दे दिया और मुँह बन्दर का दे दिया। यह मेरा शरीर है, यह तो केवल नारद जी देख रहे थे। मुँह बन्दर का है, यह केवल राजकुमारी ने देखा। राजाओं का समाज जो बैठा था—

**नारद जानि सबहिं सिर नावा।**

—रा १/१३३-८

सबने देखा महर्षि नारद आए हैं इसलिए उनके लिए आसन खाली कर दिया और उस पर बैठा दिया। नारद जी क्या सोचते थे, जानते हो? लोग मुझे विष्णु समझ कर प्रणाम कर रहे हैं। भगवान् ने नारद की लाज भी रख ली और उन को सबक भी सिखा दिया। नारद के पास भगवान् के सिवा और कोई आसरा नहीं था इसलिए काम, क्रोध, लोभ सब भगवान् के साथ उन्होंने प्रयोग किया। यहाँ पर यही बात वे बता रहे हैं कि एक में ही जिसने अपने जीवन का अन्त कर दिया है, एक ही जिसके जीवन का आधार है, लक्ष्य है, ऐसा निष्ठावान् भक्त ही मुख्य है। वही श्रेष्ठ है। भगवान् कहते हैं—

**मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥**

—रा० ७/४६-३

कहता तो है मैं दास भगवान् का हूँ लेकिन आशा दूसरे की करता है—वो दे दे, वो दे दे, उस पर विश्वास कौन करेगा? तुलसीदास जी ने कवितावली रामायण में लिखा है—

**जड पंच मिलै जेंहि देह करी, करनी लखु धौं धरनीधर की।**
**जनकी कहु, क्यों करिहैं न संभार, जो सार करैं सचराचर की॥**
**तुलसी! कहु राम समान को आन है, सेवकि जासु रमा घरकी।**
**जग में गति जाहि जगत्पतिकी, परवाह है ताहि कहा नरकी॥**

*—कवितावली ७/२७*

जिसको भगवान् की गति हो, भगवान् का आसरा हो तो उसको क्या मनुष्य की परवाह हो सकती है? मनुष्य क्या दे सकता है? वह तो स्वयं बेचारा अधूरा प्राणी है। वह तो स्वयं भिखारी है, वह दूसरे को क्या देगा? जो भगवान् का आसरा ग्रहण कर चुके हैं उन्हें और किसी आसरे की जरूरत नहीं होती। वह दुनिया में और किसी से कुछ नहीं चाहते। उन्हें यदि चाहना ही है तो वे भगवान् से चाहेंगे। तुलसीदास जी ने एक जगह लिखा है—

**जवा जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं जियँ जाचिअ जानकी जानहि रे।**

*—कवितावली ७/२८-१*

दुनिया से तुझे माँगना नहीं चाहिए। यदि माँगे बिना तेरा नहीं बनता तो तुम भगवान् से माँगो।

**जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे॥**

*—कवितावली ७/२८-२*

जिससे माँगने से फिर दुनिया में माँगना नहीं पड़ता। विनय पत्रिका में लिखा है—हे प्रभो! जिसने तुमसे माँगा वह दुनिया में फिर भिखारी नहीं कहलाया।

**गति देखु बिचारि बिभीषनकी, अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे।**

*—कवितावली ७/२८-३*

तुलसीदास जी लिखते हैं विभीषण की गति देख लो। विभीषण एक बार राम के दरबार में माँगने आया फिर दुनिथा में किसी से नहीं माँगना पड़ा। हनुमान का सहारा लेकर आया। उस हनुमान का तुम भी सहारा लो। तुम भी राम के दरबार में चले जाओ माँगने के लिए, तुम्हें पुनः दुनिया में किसी से माँगना नहीं पड़ेगा। यही बात इसमें बता रहे हैं नारद जी—

**भक्ता एकान्तिनो मुख्या॥**

*—ना०भ०सू० ६७*

एक में ही जिसने अपने जीवन का अन्त कर दिया है, वही श्रेष्ठ भक्त है। भक्ति का श्रेष्ठतम स्वरूप है अनन्यता।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

—गीता ९/२२

जो अनन्य भाव से प्रभु की उपासना करता है, उसके योग और क्षेम को प्रभु वहन करते हैं। महाराष्ट्र में एक गृहस्थ संत हुए हैं, उनके जीवन में गीता परमाश्रय थी। गीता का चिन्तन, गीता का मनन, गीता का निदिध्यासन, यही उनका जीवन था और जो कुछ भगवान् के विधान से मिल जाता था उसी में अपना गुजारा करते थे। एक बार उन्होंने निश्चय किया कि भगवान् ने कहा है कि जो मेरा अनन्य भाव से भजन करेगा, उसका योग-क्षेम मैं वहन करूँगा। इसलिए अब तो भगवान् ही करेंगे, अब तो अपने योग-क्षेम के लिए मैं कुछ नहीं कहता। बैठ गया वह। एक दिन बीत गया, दो दिन बीत गया, जब तीसरा दिन बीता तो श्रीमती जी आकर कहने लगी कि अब भोजन नहीं रहा घर में, तीन दिन से बच्चे भूखे हैं, भोजन की कुछ तो व्यवस्था करो। उन्होंने कहा, कोई बात नहीं। चिन्तन करते हुए जब तीन दिन बीत गए तो उन्होंने कलम उठाई और गीता के इस श्लोक पर स्याही से लकीर लगा दी—

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

यह सही नहीं, गलत है। जब यहाँ वे लकीर लगाए तो उसी समय भगवान् बालक का वेश बनाकर अनेक प्रकार की भोजन सामग्री लेकर उनके घर पर पहुँच गए। उनकी श्रीमती दरवाजा खोलकर जब बाहर निकली, देखा कौन है? एक सुन्दर से बालक ने उनको बताया, ''यह पण्डित जी ने आपके लिए भोजन की सामग्री भेजी है।'' पण्डित जी ने भेजी है? बोले ''हाँ।'' अब श्रीमती जी देखने लगी कि इतना सुन्दर बालक तो मैंने कभी देखा नहीं। श्रीमती जी ने पूछा—''तुम कौन हो?'' उन्होंने कहा—''मैं एक ग्वाला हूँ, यही रहता हूँ।'' तुम्हारा नाम क्या है? ''मेरा नाम गोपाल है।'' तुम्हारे मुख पर स्याही कैसी लगी है? ''यह तो पण्डित जी ने लगा दिया है।'' क्यों लगाई? ''यह तो वही जाने, मैं तो जानता नहीं।'' इतना कहकर भगवान् ने सामान रखा और चले गए। ब्राह्मणी को गुस्सा आया कि इतना सुन्दर बालक और इस पण्डित पगले को क्या सूझा-उसके ओंठ पर स्याही लगा दिया है। थोड़ी देर बाद पण्डित जी आए, ब्राह्मणी बड़े गुस्से में थी। पण्डित जी ने पूछा—''देवी! गुस्से में क्यों हो? क्या बात है?'' अरे आपको ज़रा भी तरस नहीं आया, इतने सुन्दर बालक के मुँह पर स्याही लगा दी? कौन बालक? जिसके हाथ आपने भोजन की सामग्री भेजी थी। मैंने तो

किसी से नहीं भेजी। अभी वह गोपाल सामग्री देकर गया है भोजन की। फिर? उसके मुँह पर कालिख लगी हुई थी। मैंने पूछा, यह कालिख आपके मुख पर किसने लगाई? पण्डित जी ने लगा दी है। पण्डित जी को होश आया कि गीता भगवान् की वाङ्गमयी मूर्ति है। भगवान् के किसी शब्द पर कालिख लगाने का अर्थ होता है भगवान् की जुबान पर कालिख लगाना। पण्डित जी को होश हुआ और उन्होंने दौड़ कर अपनी पत्नी के चरण पकड़ लिए। श्रीमती ने कहा कि यह क्या? पगली! तूने तो भगवान् के दर्शन कर लिए, हम तो जीवन भर गीता ही पढ़ते रहे। यह सौभाग्य मुझे नहीं मिला। सही में मैं ही नालायक हूँ जो प्रभु के मुख पर कालिख लगाया। गीता के उस श्लोक पर से कालिख हटाते हुए उन्होंने निश्चय किया कि प्रभु सही में अपने अनन्य भाव से भजने वाले भक्तों के योग और क्षेम का स्वयं वहन करते हैं। मैं आप लोगों को बता रहा था कि जो एकान्तिक भक्त हैं, वही श्रेष्ठ हैं, जो अनन्य भाव से भगवान् को भजते हैं, वही श्रेष्ठ हैं, जो भगवान् को पूर्णरूपेण समर्पित हैं, वही श्रेष्ठ हैं बाकि भक्ति तो नाम मात्र की है। हम अपना काम करते चलें, यदि थोड़ा समय मिले तो बैठकर राम-राम भी कर लें। नहीं करने से तो अच्छा है, लेकिन यह एकान्तिक भक्ति नहीं है, निष्ठायुक्त भक्ति नहीं है। पूर्ण निष्ठा है भगवान् के चरणों में, इसका अभिप्राय यह नहीं कि कोई काम न करें। सब कुछ करें लेकिन भगवान् के नाते करें। जब एकान्तिक भक्ति होती है तो क्या लक्षण होता है भक्त का? बता रहे हैं—

**कण्ठाऽवरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ॥**

—ना० भ० सू० ६८

उसका कण्ठ रुँध जाता है, गद्‌गद हो जाता है। बोला नहीं जाता। प्रेम में विह्वल हो जाता है। उसके रोएँ खड़े हो जाते हैं, नेत्रों से अश्रुओं की धारा बहने लगती है। कब? भगवान् को याद करते ही। भगवान् की महिमा को, भगवान् के चरित्र को, भगवान् के नाम का स्मरण करते ही उसके शरीर में रोमांच हो जाता है। नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। परस्पर जब एक दूसरे से मिलते हैं तो भगवान् की ही चर्चा करने लगते हैं। उनके लिए कोई दूसरी चर्चा नहीं होती। भगवान् की चर्चा करते हुए ऐसे भक्त जो हैं वे—

**कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।**
**अपार संवित्सुखसागरेऽस्मिल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥**

—५५/१४०

वे अपने कुल को भी पवित्र कर देते हैं और सारी पृथ्वी को भी पवित्र कर देते हैं। भगवान् का एक भक्त जिस कुल में पैदा हो जाता है वह उस समग्र कुल को तार देता है, उस पृथ्वी को धन्य बना देता है। उसके समान भाग्यवान् और कोई नहीं होता। इसी बात को तुलसीदास जी लिखते हैं—

**सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत ।**
**श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत ॥**

—रा० ७/१२७

वो कुल धन्य है जिस कुल में भगवान् का एक भक्त पैदा हो गया। माता सुमित्रा ने तो यहाँ तक कहा है—

**पुत्रवती जुबती जग सोई । रघुपति भगतु जासु सुतु होई ॥**

वही माँ अपने आपको सही में पुत्रवती कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकती है जिसका पुत्र सही में 'पु नाम नरकस्य त्रायते' पु नाम है नरक का, उससे रक्षा करने वाला हो यानी भगवान् का भक्त हो। यदि पुत्र भगवान् का भक्त नहीं है तो

**नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥**

—रा० २/७५-१, २

जो माँ राम से विमुख पुत्र को भी अपना पुत्र मानती है, वह माँ तो तुलसीदास जी कहते हैं, व्यर्थ में ही अपनी जिंदगी को बरबाद करने के लिए सन्तान को जन्म दिया है। वह माँ नहीं। इससे तो अच्छा होता कि वह बाँझ रहती। राम विमुखी पुत्र को जन्म देने की अपेक्षा उसका बंध्या रहना श्रेष्ठ था।

भारत भूमि में अनेकों भक्त हुए हैं जिन्होंने अपने पावन चरित्र से केवल अपने वंश को ही नहीं सारे देश को भी पावन बना दिया है। आप ज़रा सोचिए तुलसीदास जी ने अपनी भक्ति के प्रवाह में जिस रामचरितमानस की गाथा गाई आज करोड़ों लोग उस रामायण को पढ़ करके धर्म की दिशा प्राप्त कर रहे हैं, भगवद् अनुरक्ति प्राप्त कर रहे हैं। ऐसे पुत्र को उत्पन्न करके वह धरा क्यों नहीं धन्य हो सकती? आगे के सूत्र में नारद जी कह रहे हैं कि जो भगवान् के ऐसे भक्त हैं वे

**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि॥**

—ना०भ०सू० ६९

जिस तीर्थ में रहते हैं उसे सुतीर्थ बना देते हैं और जिस कर्म को करने लगते हैं उस कर्म को सुकर्म बना देते हैं तथा जिस शास्त्र को वे स्वीकार करते हैं उस शास्त्र को सद्शास्त्र बना देते हैं। वर्तमान में जो वृन्दावन है, आज से ५०० वर्ष पूर्व वहाँ कुछ

नहीं था। मात्र जंगल था। एक सन्त आ करके वहाँ बैठे। उनकी तपस्या का परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे आज वृन्दावन भगवान् की नगरी कही जाती है, मन्दिरों का शहर कहा जाता है, सन्तों का केन्द्र स्थान बन गया है। जहाँ आज अयोध्या है २००० वर्ष पूर्व वहाँ कुछ नहीं था, वहाँ भी घोर जंगल था। एक सन्त वहाँ आकर रहने लगे। उनकी कृपा से आज अयोध्या में पाँच हज़ार मन्दिर हैं। भगवान् राम को हुए पौने नौ लाख वर्ष हुए हैं तथा भगवान् कृष्ण को हुए पाँच हज़ार वर्ष हुए हैं। ये जो तीर्थ सुतीर्थ बने, ये किसके द्वारा बने? सन्तों के द्वारा बने। सन्तों के वहाँ रहने से धरती पावन हो गई। आज लाखों लोग वहाँ जाकर के सात्त्विक संस्कार ग्रहण करते हैं। २०० वर्ष पूर्व तो वह हरिद्वार नहीं था जो आज है। सबसे पुराना जो गंगा मन्दिर हर की पौड़ी पर है, वह १५० वर्ष का पुराना है। जहाँ हरिद्वार था पहले वह कनखल नाम से कहा जाने वाला स्थान है। वहाँ आज कोई नहीं जाता, केवल कुछ महात्मा ही जाते हैं। कनखल को कोई नहीं जानता और हर की पौड़ी प्रसिद्ध हो गई। इसी रूप से एक महात्मा आकर बैठे ऋषिकेश में और ऋषिकेश महात्माओं का केन्द्र बन गया। मैं आप लोगों को बता रहा था कि महात्मा लोग जहाँ बैठ जाएँ, उसी को तीर्थ बना देते हैं। दुनिया में जितने भी तीर्थ स्थल हैं वे किसी न किसी महापुरुष का या तो जन्म स्थान है, या तप स्थान है या कर्म क्षेत्र है। महात्मा बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित सात तीर्थ स्थान हैं। बौद्धों के लिए सातों उसी प्रकार से पवित्र हैं जैसे हमारे लिए सात पुरिया हैं—

**अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।**
**पुरीद्वारावती चैव सप्तैते मोक्षदायिकाः॥**

जैसे हमारे लिए ये सप्त पुरियां मोक्षदायक हैं, उसी रूप से बौद्धों के लिए वे सात क्षेत्र मोक्षदायक हैं। वे सात स्थान कौन-कौन से हैं? एक स्थान है लुम्बिनी जहाँ उनका जन्म हुआ है, दूसरा स्थान कपिलवस्तु है जहाँ वे पले, तीसरा स्थान राजगृह जहाँ दीक्षित होकर अध्ययन किया, चौथा स्थान बोधगया है जहाँ उन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त किया, पाँचवा स्थान सारनाथ है जहाँ से धर्म प्रचार प्रारम्भ किया, छटा स्थान श्रावस्ती जहाँ कई चातुर्मास किए और सातवाँ स्थान कुशीनारा जहाँ उन्होंने शरीर छोड़ा, ऐसे अनेकों प्रमाण हमें इतिहास में मिलते हैं। महापुरुष जिन शास्त्रों को स्वीकार कर लेते हैं, वे सद्शास्त्र बन जाते हैं। वैदिक साहित्य की बड़ी महिमा थी लेकिन आचार्य शंकर ने जब समाज में घूम करके देखा तो उन्होंने निश्चय किया कि इतने बड़े वैदिक साहित्य को पढ़कर कौन कहेगा कि हमारा

सिद्धान्त क्या है क्योंकि वेद के मन्त्रों में तो अनेकों देवता, अनेकों विधियाँ, अनेकों प्रकार हैं। उन्होंने निश्चय किया कि एक कोई ऐसा आधार धर्म के लिए मिलना चाहिए जो कि सबसे श्रेष्ठ माना जाए। उन्होंने वेद को छोड़ करके उपनिषदों को स्वीकार किया। उसका नाम वेदान्त है। वेदान्त प्रतिपादित सिद्धान्त को स्वीकार किया और वेदान्त के साथ ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता को मिलाकर उन्होंने प्रस्थानत्रयी की प्रतिष्ठा की। आचार्य शंकर के पश्चात् सनातन धर्म का पूरा प्रवाह इन तीनों ग्रन्थों पर अवलम्बित है। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य और निम्बार्काचार्य ने भी इन्हीं तीनों ग्रन्थों को स्वीकार किया है। भारत का दर्शन, भारत की अद्वैत फिलास्फी, भारत की जीवन प्रक्रिया अर्थात् जो कुछ भारत में है केवल इन तीन ग्रन्थों के आधार पर प्रतिष्ठित है। उन्होंने वेद को निराकृत कर दिया, आज भी वह उसी अवस्था में पड़ा हुआ है। बहुत लोगों ने प्रयत्न किया कि दुनिया में वेद की महत्ता को प्रस्थापित किया जाए लेकिन वेदान्त की बराबरी वह नहीं कर पाया। आज भी उपनिषदों को सिरमौर माना जाता है वेद का सार माना जाता है।

मैं आपको बता रहा था—'सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि' महापुरुष जिस शास्त्र को स्वीकार कर लें, वही सद्शास्त्र बन जाता है। उनके लिए जिसको उन्होंने स्पर्श किया वही महान् बन गया। ऐसा क्यों होता है? इसके लिए उन्होंने बताया—

**तन्मयाः।** —ना० भ० सू० ७०

'तन्मया' माने भगवान् के साथ तन्मय होते हैं अर्थात् भगवान्मय होते हैं इसलिए उनकी वाणी भगवन्मय होती है। उनका कार्य भगवान् का कार्य होता है। उनका जीवन भगवान् का जीवन होता है। वे स्वयं भगवत् स्वरूप होते हैं इसलिए 'तन्मयाः' ऐसा कहते हैं। विनय पत्रिका में तुलसीदास जी ने एक बात कही है, उसमें समझाया है—

**संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं, किमपि मति मलिन कह दासतुलसी॥**

—वि० प० ५७/९

संत और भगवंत में कोई अन्तर नहीं क्योंकि वह भगवान् के साथ एक है। जो भगवान् के साथ एक हो गया है उसका अपना कोई अस्तित्व रहा ही नहीं इसलिए जो भगवान् है वही वह है। वह जहाँ पैदा होता है वह धरती पवित्र हो जाती है, जिस कुल में जन्म लेता है, वह कुल पवित्र हो जाता है, माँ कृतार्थ हो जाती है,

तीर्थ सुतीर्थ बन जाते हैं, कर्म सुकर्म बन जाते हैं और शास्त्र सद्शास्त्र बन जाते हैं। यह तन्मया होने की महिमा है। इन्हीं शब्दों के साथ आज का विचार यहीं विश्राम पाता है।

हरि ॐ तत्सत्।

## २०

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

जिस भक्ति शास्त्र का आप लोग चिन्तन कर रहे हैं, उसका मूल संदेश यही है—

**भक्ता एकान्तिनो मुख्या॥**

*—ना० भ० सू० ६७*

जिसने अपने जीवन की साधना और सामग्री दोनों ही प्रभु के चरणों में समर्पित कर दी, वही श्रेष्ठ भक्त है, ऐसा नारद जी का कथन है। 'एकान्तिनो' माने जिसने एक में ही जीवन का अन्त कर दिया है। जिसके लिए अनन्य शब्द का प्रयोग किया गया था प्रारम्भ में उसी को उन्होंने यहाँ पर एकान्तिनो कहा है। ऐसे अनन्य भक्त की स्थिति क्या होती है? इसके लिए उन्होंने कहा—

**कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः**
**पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च॥**

*—ना० भ० सू० ६८*

गद्गद वाणी, रोमांच तथा नेत्रों से अश्रु प्रवाह। जब वो आपस में वार्ता करते हैं तो भी भगवान् के ही चरित्र, भगवान् की ही महिमा का चिन्तन तथा भगवान् के ही गुणों का गान करते हैं। उनके इन कृत्यों का परिणाम क्या होता है?

**पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ॥**

वे अपने को और पृथ्वी को भी पवित्र कर देते हैं।

**तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**
**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥**

*—गीता १०/१०*

भगवान् ने कहा वो जो मेरा ही चिन्तन करते हैं, मेरे में ही चित्त को लगाए रखते हैं, उनको मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त करते हैं। ऐसे भक्त सदैव भगवान् के ही चिन्तन में लगे रहते हैं—

**मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।**

उनका चित्त मेरे में लगा रहता है, उनका प्रत्येक प्राण मुझे समर्पित हुआ होता है और जब वे आपस में बात करते हैं तब भी मेरे विषय में ही करते हैं—

**कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥**

*—गीता १०/९*

"मेरा ही नित्यप्रति कथन करते हैं और मुझमें ही संतुष्ट रहते हैं और मेरे में ही रमण करते हैं। मेरे सिवा और उनके लिए कोई कथा नहीं है, मेरे सिवा और उनकी संतुष्टि का साधन नहीं है, ये सब कुछ वो मेरे से युक्त होकर ही करते हैं।" गीता के दसवें अध्याय में भगवान् ने कहा है कि इस प्रकार के भक्त के लिए मैं स्वयं ज्ञान प्रदान करके उसे अपने आपको प्रकाशित कर देता हूँ। ऐसे भक्त जो गद्गद वाणी से अश्रुपूर्ण नेत्रों से रोमांचित हो करके प्रभु के ही विषय में चर्चा, चिन्तन, सुमिरन करते रहते हैं, वे अपने चरित्र द्वारा अपने कुल को तार देते हैं, पवित्र कर देते हैं और पृथ्वी को भी पवित्र कर देते हैं। वे आगे कहते हैं—

**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति**
**कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि॥**

*—ना०भ०सू० ६९*

ऐसे संत तीर्थों को सुतीर्थ, शास्त्रों को सुशास्त्र, कर्मों को सुकर्म बना देते हैं। कल मैंने आप लोगों को समझाया था कि जितने भी तीर्थ हैं, सभी महापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित हैं। जहाँ वो जन्म लिए वह तीर्थ हो गया, जहाँ वो तप किए, वो तीर्थ हो गया, जहाँ वो क्रीड़ा किए वो तीर्थ हो गया यानी तीर्थों के मूल में महापुरुषों का जीवन और उनकी तपश्चर्या के सिवा और कुछ नहीं है इसलिए जिस कर्म को उन्होंने अपनाया वह सुकर्म बन गया तथा जिस शास्त्र को उन्होंने अपनाया वह सद्शास्त्र बन गया। कल मैंने आप लोगों को समझाया था कि आचार्य शंकर से पूर्व हमें ऐसा कोई महापुरुष दिखाई नहीं देता जिसने वेद के संहिता भाग को दूसरा स्थान दिया हो और उपनिषदों को प्रथम स्थान में प्रतिष्ठित किया हो। आचार्य शंकर ने कर्मकाण्डात्मक श्रुतियों को ही नहीं पूरे संहिता भाग को कर्म और उपासना से सम्बन्धित श्रुतियाँ कह करके वेद के सार तत्त्व के रूप में वेदान्त की प्रतिष्ठा की जिसको हम उपनिषद् कहते हैं। उपनिषदों में संहिता भाग के,

ब्राह्मण भाग के तथा आरण्यक भाग के भी मंत्र हैं। इन सबके होते हुए भी हम देखते हैं कि उनकी स्वीकृति के द्वारा भारत में प्रस्थानत्रयी की प्रतिष्ठा चल पड़ी। आज का जो सनातन धर्म है वह वैदिक धर्म नहीं वेदान्तिक धर्म है। केवल आचार्य शंकर नहीं, शंकर के बाद रामानुज, माध्वाचार्य, बाद में निम्बार्काचार्य और आखिर में वल्लभाचार्य ने भी उन्हीं तीन ग्रन्थों को आधार माना। गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषद्, इन्हीं तीन को सनातन धर्म की पृष्ठभूमि बता करके प्रस्थानत्रयी के रूप में इन्हीं की प्रतिष्ठा करी। आचार्य शंकर से पूर्व ब्रह्मसूत्र की इतनी महिमा नहीं थी। हम अपने प्राचीन ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्र का इतने आदर के साथ जिक्र नहीं पाते। सब जगह सांख्य और योग की महत्ता है। गीता में स्वयं भगवान् ने सांख्य और योग की महत्ता का गान किया है। पूरा महाभारत सांख्य और योग की महत्ता से भरा पड़ा है। श्रीमद्भागवत सांख्य और योग की महत्ता से भरा हुआ है। अठारह पुराण सांख्य और योग की महत्ता से भरे हुए हैं और आदि कवि वाल्मीकि जी अपनी रामायण में सांख्य और योग की महिमा का गान करते हैं लेकिन आचार्य शंकर ने सांख्य और योग को स्वीकार नहीं किया, उन्होंने ब्रह्मसूत्र जिसे भिक्षु सूत्र कहते हैं, स्वीकार किया है। उसके बाद में समस्त आचार्यों के लिए ब्रह्मसूत्र ही दर्शन का एक पर्याय बन गया। जो स्थान प्राचीन काल में सांख्य को प्राप्त था, वह ब्रह्मसूत्र को मिल गया। कुछ विद्वानों ने अनुसंधान करके यहाँ तक कहा कि ब्रह्मसूत्र के रचयिता भी शंकर ही थे क्योंकि शंकर से पूर्व किसी ने इस भाष्य को नहीं लिखा। पश्चिमी विद्वानों का भी ऐसा अनुसंधान रहा है लेकिन यह मिथ्या रहा है। बाद में अन्य विद्वानों ने इसकी खोज की और बताया कि यह सूत्र तो था, इसको भिक्षुसूत्र कह करके पाणनीय ने स्मरण किया है। इसको भिक्षुसूत्र इसलिए कहते थे कि केवल संन्यासी लोग ही इसका मनन किया करते थे क्योंकि यह ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा थी।

**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।**

*— ब्रह्मसूत्र १/१-१*

संन्यासी लोग चित्त तृप्ति के लिए इसका चिन्तन किया करते थे। आचार्य शंकर से पुराना कोई भाष्य मिला नहीं, रामानुजाचार्य ने अपने भाष्य की भूमिका में महर्षि बोधायण का जिक्र किया है। महर्षि बोधायण ने इस पर भाष्य लिखा है लेकिन अब तक न तो मुझे ही कहीं से वह भाष्य मिला न ही किसी अनुसंधानकर्त्ता को ही मिला है। मैं नहीं कहता कि महर्षि बोधायण ने उस पर भाष्य नहीं किया होगा। यदि किया भी हो तो उपलब्ध नहीं, ऐसा कहा जा सकता है। दुनिया की

किसी भी लाइब्रेरी में उसकी उपलब्धि नहीं हो सकी। केवल रामानुजाचार्य के ग्रन्थों में उसका उदाहरण मिलता है। इस विषय में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि बहुत से हमारे ग्रन्थ हैं जिनका आज के कुछ ग्रन्थों में उद्धरण प्राप्त होता है लेकिन मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। मुसलमानों की कोपाग्नि में जहाँ बड़ी-२ लाइब्रेरियाँ भस्म हो गईं, उन्हीं में वह भी भेंट चढ़ गया होगा। खैर, फिर इतना कहने में कोई संकोच नहीं है कि सन्तों ने 'ब्रह्मसूत्र' को अपनाया, उपनिषदों को अपनाया, गीता को अपनाया और यही सद्शास्त्र बन गए। आज इन्हीं पर पूरा हिन्दू धर्म का सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो गया है। बाद के विद्वानों ने वैदिक संहिताओं की खोज की, उस पर ध्यान दिया तथा उसके अनुसंधान की प्रेरणा भी दी। विशेष करके स्वामी दयानन्द सरस्वती जिनके गुरु स्वामी विरजानन्द थे, जब धर्म के क्षेत्र में प्रवृत्त हुए तो उनको यह बात बहुत खलती थी कि हिन्दू लोग दुहाई तो वेद की देते हैं लेकिन जब सिद्धान्त का निरूपण करना होता है तो वेद को आधार न मान करके उपनिषदों को स्वीकार कर लेते हैं। उपनिषदें सारी संहिता भाग की तो हैं नहीं, जैसे—ईशोपनिषद् संहिता भाग की है, श्वेताश्वतरोपनिषद् संहिता भाग की है लेकिन अधिकांश उपनिषदें तो ब्राह्मण भाग की हैं और आरण्यक भाग की हैं। ब्राह्मण तथा आरण्यक वेद पर भाष्य है, वेद का मूल स्वरूप नहीं हैं। ऐसा हम मानते हैं और आर्य समाज के लोग भी मानते हैं लेकिन हमारे यहाँ वैदिक विज्ञान की बात करते समय मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग वेद रूप में स्वीकार किया जाता है। यह जो मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग का भेद है, वह वेद और उसके भाष्य के रूप में अर्थात् मन्त्र और उसके भाष्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। जिन ऋषियों ने वेद मन्त्रों का अनुसंधान किया अर्थात् जो ऋषि वेद मन्त्र के द्रष्टा हैं उन्हीं के द्वारा उस पर भाष्य भी किया गया है अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ के रचयिता भी वही ऋषि हैं इसलिए उनकी बातें भी उतनी ही प्रमाणिक हैं, उससे कम प्रमाण नहीं रखती ऐसी विद्वानों की राय है। हम लोग ऐसा ही मानते हैं इसलिए मैं आप लोगों को बता रहा था कि स्वामी दयानन्द ने मन्त्र भाग पर ही जोर दिया और कहा कि संहिताओं को ही परम ग्रन्थ मानना चाहिए और दूसरे स्तर पर ये ब्राह्मण ग्रन्थ होने चाहिए, उपनिषदें होनी चाहिए लेकिन सनातन धर्मी ऐसा नहीं मानते। वे मानते हैं कि वेद के अन्दर जितने ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित मन्त्र हैं, उन सभी पर अनुसंधान हुआ ब्राह्मण ग्रन्थों में। ब्राह्मण ग्रन्थों में हम पढ़ते हैं, जहाँ भी कहीं ऋषि अपने अनुसंधान की बात पुष्ट करना चाहता है, वह उदाहरण देता है—एतत् श्लोकः। इस विषय में वेद का एक-२ मन्त्र है और वहाँ पर वेद का वह मंत्र कोट

कर देता है इसलिए उपनिषदों को हम भी वैदिक विज्ञान से विभूषित मानते हैं लेकिन मैं आप लोगों को बता रहा था कि महापुरुष, संत, भक्तगण जिस शास्त्र को अपना लेते हैं वही सद्‌शास्त्र बन जाता है। उनके लिए घिसी-पिटी बात नहीं रहती कि जो पहले वाले कहते आए हैं, वो कहें तभी मानी जाएगी। जो आप्तकाम पूर्णकाम हैं, उनके लिए यही बात कही जा रही है—

**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति**
**कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि॥**

—ना० भ० सू० ६९

क्यों ऐसा होता है? उन ऋषियों की बात, उन सन्तों की बात, उन महापुरुषों की बात क्यों इतना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है? इस विषय में देवर्षि नारद जी कहते हैं—

**तन्मयाः।** —ना० भ० सू० ७०

'तन्मयाः' माने तत्‌मयाः। वे ऋषिगण, वे संतगण, वे भक्तगण भगवद् स्वरूप होते हैं। भगवान् में लीन होकर भगवद् स्वरूप हो जाते हैं। एक दिन मैंने आप लोगो को समझाया था कि लौह पिण्ड को यदि अग्नि में डाल दिया जाए तो अग्नि में पड़ करके वह लौह पिण्ड अग्निमय हो जाता है। लौह पिण्ड की आकृति को अग्नि स्वीकार कर लेती है यानी अग्नि गोली-गोली दिखाई देने लगेगी और लौह पिण्ड अग्निमय दिखाई देने लगेगा। इसी को हमारे यहाँ वेदान्त की प्रक्रिया में तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं। तादात्म्य सम्बन्ध माने अग्नि ने लोहे की आकृति स्वीकार कर ली और लोहे में अग्नि के गुण और धर्म, प्रकाश और दाह प्रकट हो गए। भगवान् ने रामगीता में लक्ष्मण को बताते हुए ऐसा सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया है कि यह तादात्म्य सम्बन्ध है। इसी रूप से भक्त जो है, वह भगवान् के गुण-धर्म ग्रहण कर लेता है और भगवान् स्वयं भक्त के रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं, क्योंकि वह तन्मय हो जाता है।

इसी आधार पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया। उन्होंने कहा कि मोक्ष नित्य नहीं है। लौह पिण्ड कभी अग्नि नहीं बना। अग्नि के गुण, धर्म उसमें आ गए इसलिए वह स्वयं अग्नि नहीं लौह पिण्ड ही रहता है। जब वह अग्नि से युक्त हो जाता है तब भी वह लौह पिण्ड ही रहता है। इसी रूप से जीव जीव ही रहता है, जब वह सच्चिदानन्द के भाव से अभिभूत हो जाता है तब भी जीवत्व उसका बना रहता है। उसके जीवत्व का नाश नहीं होता, इसलिए स्वामी दयानन्द ने कहा कि मोक्ष काल में भी जीव का व्यक्तित्व बना रहता है,

उसका नाश नहीं होता। इसी आधार पर उन्होंने त्रैतावाद की स्थापना की और कहा कि यह त्रैतावाद नित्य है। लौह पिण्ड का अग्नि के साथ तादात्म्य तब तक है जब तक अग्नि का प्रज्वलन है। हो सकता है कि जब कभी अग्नि का प्रज्वलन बन्द हो जाएगा तो लौह पिण्ड लौह पिण्ड के रूप में पुनः अलग हो जाएगा। इसी प्रकार से मुक्ति की सीमा है। जीव की मुक्ति नित्य नहीं होती। वह कुछ दिनों तक, कुछ वर्षों तक, कुछ कल्पों तक अधिक से अधिक ब्रह्मा की एक आयु पर्यन्त ही मुक्ति होती है। उसके बाद में मुक्ति नहीं होती, पुनः संसार में आना पड़ता है क्योंकि उनके सामने समस्या थी कि यदि सारे जीव ऐसे मुक्त हो जाएँगे फिर जीव कैसे कहाँ से आएँगे? संसार कैसे चलेगा? इस समस्या का समाधान कोई मिला नहीं इसलिए उन्होंने कहा कि जीवों की मुक्ति नित्य नहीं है, जैसा सनातन धर्मी मानते हैं। सनातन धर्मी यह मानते हैं कि जीवों की मुक्ति नित्य है। यह तो श्रुति कहती है—

**न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते।**

वह संसार में फिर क्यों आएगा? किस लिए आएगा? यदि यह कहो कि लौह पिण्ड अग्नि के साथ तादात्म्य तो कर लेता है लेकिन अग्नि नहीं होता तो लौह पिण्ड का गुण-धर्म भिन्न है और अग्नि का गुण-धर्म भिन्न है। क्या जीव का गुण-धर्म ईश्वर के गुण-धर्म से भिन्न है? ईश्वर का गुण-धर्म क्या है? सत्-चित्त और आनन्द। जीव का गुण-धर्म क्या है? दयानन्द कहते हैं कि सत्-चित्त है लेकिन आनन्द तो उसमें नहीं है। कहा भई! यह तो कोई तर्क की बात नहीं हुई। जहाँ सत् है, चित्त है, वहाँ आनन्द तो अपने आप आएगा। ब्रह्म की परिभाषा करते हुए 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहा गया है और अनन्त को ही आनन्द कहा गया है। 'भूमैव सुखं नाल्पम्।'

यह दार्शनिक विश्लेषण है। यह तो मैंने आप लोगों को इसलिए बता दिया कि जहाँ पर यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है कि परमात्मा के साथ तादात्म्य होने पर भक्त भगवद् रूप हो जाता है, वहाँ पर यह सिद्धान्त भी है कि जीव का अपना इन्डीविजूऐशन बना रहता है लेकिन उपनिषदें इसे स्वीकार नहीं करती, वेदान्त स्वीकार नहीं करता। वेद के मन्त्रों ने भी इसे पूर्णतया स्वीकार नहीं किया है। कुछ मन्त्रों में ऐसा आभास दिखाई देता है लेकिन वह है जीवित अवस्था की स्थिति का वर्णन। जीवित अवस्था में जब वह मानव आकृति में साधक है तब वह तन्मय हो गया और भगवान् के भाव को ग्रहण करके भगवतमय हो गया लेकिन जिस समय यह शरीर छूट जाएगा वहाँ जब केवल चैतन्य रह जाएगा तो

केवल चैतन्य को आप किस स्तर पर विभाजित कर सकेंगे और किस स्तर पर दो चैतन्य को खड़ा कर रखेंगे कि यह जीव तो छोटा चैतन्य है और ईश्वर बड़ा चैतन्य हो गया? चैतन्य दो नहीं हो सकता, चिदाभास नहीं हो सकता, चित्त की सत्ता दो हो नहीं सकती। वेदान्त में कहा गया है कि जो व्यक्ति रूप में चित्त सत्ता है, वह उस महाचैतन्य की ही अभिव्यक्ति है, उसी की ही एक किरण है, उसी की एक ज्योति है।

**नानक लीन भयो गोबिन्द संग, ज्यों पानी सन पानी ॥**

यह तो वेद का ही अनुवाद है—

**यथा नद्यः स्यन्दामानाः समुद्रे ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।**
**तथा विद्वान् नामरूपाद विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥**

*—मुण्डक० ३/२-८*

जैसे नदियाँ अपने नाम-रूप का विसर्जन करके समुद्र में लय होकर समुद्र हो जाती हैं, ऐसे ही जीव अपने नाम-रूप का विसर्जन कर परमात्मा में मिलकर परमात्मा हो जाता है, फिर उसको लौटकर नहीं आना पड़ता। भगवान् ने गीता में बताया है—

**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥**

*—गीता १५/६*

जहाँ जाकर पुनः नहीं आना होता, वह मेरा परमधाम है। यह जो सिद्धान्त है दर्शनशास्त्र का, इस सिद्धान्त को देखते हुए सनातन धर्मी कहता है कि नहीं एक पुनरावर्तनी मुक्ति भी होती है। उस पुनरावर्तनी मुक्ति को हमारे यहाँ ब्रह्म निर्वाण नहीं मानते निर्वाण मानते हैं। पुनरावर्तनी मुक्ति में जीव ब्रह्मलोक को जाता है। गीता के आठवें अध्याय में बताया गया है—

**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।**

*—गीता ८/१६*

ब्रह्मलोक तक गया हुआ प्राणी पुनः लौट कर आ जाता है। यही बात आचार्य शंकर ने कही कि वैदिक कर्मकाण्ड का जो सार है, उसका जो प्राप्तव्य है वह ब्रह्मलोक है इससे आगे नहीं है लेकिन वेदान्त ब्रह्मलोक तक जीव की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। ब्रह्मलोक को भी वह परमात्मा की एक अभिव्यक्ति मानता है। ब्रह्मलोक कोई नित्य लोक नहीं है वेदान्त की दृष्टि में। इसका निराकरण मुण्डकोपनिषद् में किया गया है। मुण्डकोपनिषद् में बताया गया है कि जो लोग अग्नि की उपासना करने वाले हैं, यज्ञादि साधन करने वाले हैं—वेद मन्त्रों के

अनुसार सिद्धान्त का निरूपण करने वाले हैं, वे सूर्य रश्मियों द्वारा आदरित होकर के, सम्मानित हो करके ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं लेकिन ब्रह्मलोक की उपलब्धि जीवन का लक्ष्य नहीं है। जीवन का लक्ष्य तो ब्रह्म की उपलब्धि है, ऐसा उसमें विवेचन किया गया है।

मैं आप लोगों को समझा रहा था कि जो परमात्मा के अनन्य चरणानुरागी भक्त हैं, जिनके जीवन की महत्ता अनन्त शास्त्रों में वर्णित की गई है, वो इसलिए महान् हैं कि 'तन्मयाः' वे परमात्मा के साथ एक हो गए हैं। परमात्मा से भिन्न उनका अस्तित्व नहीं रहा। परमात्मा से भिन्न उनकी सत्ता नहीं रही। जीवित काल में जब वो मनुष्य की आकृति में हैं तब उनकी स्थिति इस प्रकार से है जैसे लौह पिण्ड अग्नि के साथ तादात्म्य हो जाता है। इस स्थिति में केवल उनकी आत्मा ही परमात्मा के साथ तादात्म्य नहीं बल्कि शरीर भी परमात्मा के साथ अभिभूत हो चुका है। इस युग के महान् योगी अरविन्द इसी अवतारवाद की प्रक्रिया को जीवन में उतारने के लिए प्रयत्नशील रहे। उन्होंने कहा कि मेरी यह चाह है कि मैं चिद्घन को स्थूल शरीर तक उतारूँ, सारा शरीर चिन्मय हो जाए क्योंकि यह परमात्मा की अभिव्यक्ति है। हमारे यहाँ उपनिषद् विज्ञान में दो प्रकार की साधनाओं का विवेचन है-अवतरण और उत्थान। एक असैन्डिंग आर्डर है, जिसमें चेतना को शरीर के स्तर से उठा करके धीरे-धीरे ब्रह्म चक्र में ले जाया जाता है। ब्रह्म चक्र में ले जाकर फिर उसको अनन्त चैतन्य में लय किया जाता है। दूसरी साधना का नाम है डिसैन्डिंग आर्डर, जिसमें परमात्मा के साथ चित्त को लगाकर परमात्मा की शक्ति को धीरे-धीरे आनन्दमय कोष से विज्ञानमय कोष में, मनोमय कोष में, प्राणमय कोष में और फिर अन्नमय कोष तक लाया जाता है। परमात्मा की उस चिन्मयता को अन्नमय कोष में ला करके अन्नमय कोष को भी चिन्मय बना दिया जाता है। हमारे यहाँ पूर्णावतार उसे कहते हैं जिसका फिज़ीकल स्ट्रक्चर भी चिन्मय हो गया है। भगवान् राम के लिए वाल्मीकि ऋषि कहते हैं—

**चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥**

—रा० २/१२७-५

आपका जो यह शरीर है यह भी चिन्मय है लेकिन इसको सब नहीं जानते, केवल अधिकारी ही जानते हैं। यह विकार रहित है। मनुष्य के शरीर में तो विकार होता है। अर्थात् जिसके जीवन में चेतना का आनन्दमय कोष में उदय हो, वह जीव है। जब चेतना का अवतरण अन्नमय कोष से विज्ञानमयकोष में हो गया तो वह थोड़ा जागरुक जीव हो गया। इस स्थिति में वह जनसामान्य की अपेक्षा विशेष हो जाता

है। जब वह विज्ञानमय कोष से मनोमय कोष तक आ गया तो वह दिव्य पुरुष कहा जाता है। ऐसे को आप आचार्य, दार्शनिक अथवा तत्त्ववेता कहते हैं। उसका मनोमय कोष भी चिद्घन से अभिभूत हो गया। वह 'तन्मया: ' की स्थिति में पहुँच गया। इससे और आगे यदि प्राणमय कोष में चिद्घन पहुँच गया तो वह 'अंशावतार' हो जाता है। जब उसका अन्नमय कोष भी चिन्मय हो गया तो वह पूर्णावतार हो जाता है। ऐसे पूर्णावतार हमारे यहाँ अब तक दो ही माने जाते हैं—भगवान् राम और भगवान् कृष्ण, क्योंकि इनका शरीर चिन्मय था। यानी अन्नमय कोष तक चिद्घन व्यापक था। वहाँ पार्थिव शरीर नहीं रह गया था। पार्थिवता वहाँ समाप्त थी।

इसी साधना में अरविन्द लगे थे। उन्होंने कहा कि यदि राम अवतरित हो सकते हैं, कृष्ण अवतरित हो सकते हैं तो उस सर्वत्र व्याप्त चिद्घन को हम अन्नमय कोष तक क्यों नहीं उतार सकते। ऐसा चिन्तन करते हुए वे साधना में लगे पर उन्होंने उसमें सफलता नहीं पाई। शरीर छोड़ने के समय उन्होंने कहा कि हमारे शरीर को ऐसे रख देना, थोड़े दिनों बाद हम इसमें चेतना को अवतरित करेंगे लेकिन जब १८ दिनों बाद शरीर को देखा तो वह सड़-गल गया था। उनके शिष्यों ने उन्हें दफना दिया। वे चेतना को स्थूल स्तर तक उतार नहीं सके। भारत में ऐसे बहुत से सन्त हुए हैं जिन्होंने चेतना को स्थूल स्तर तक उतारा है। सन्त ज्ञानेश्वर का आपने नाम सुना होगा। वे अपनी चेतना को स्थूल तक ले आए थे। उनका सारा शरीर चिन्मय हो गया था और उस चिन्मय की अवस्था में ही उन्होंने जीवित समाधि ले ली थी। समाधिस्थ होने के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् उन्होंने अपने एक भक्त को दर्शन दिया कि "जहाँ मैं हूँ, मेरी समाधि के बगल में ही एक पीपल का वृक्ष उग रहा है। मेरी समाधि को खोल करके उस पीपल के वृक्ष को उखाड़ दो। हमारे ध्यान में विघ्न डाल रहा है।" उस भक्त ने लोगों से कहा लेकिन समाधि को कौन तोड़े। उसे तो वे भगवान् की तरह पूजते हैं। उन्होंने कहा कि नहीं हमें यह निर्देश हुआ है इसलिए हम खोल कर निकालेंगे। समाधि को तोड़ा गया। तोड़ने के बाद देखा गया कि वहाँ पीपल का वृक्ष उदय हो रहा था और उनका शरीर ज्यों का त्यों बिना विकृत हुए ध्यान की मुद्रा में स्थित था। सभी ने दर्शन किए, पीपल का पेड़ निकाला वहाँ से और समाधि को बन्द कर दिया। मैं आप लोगों को बता रहा था कि ऐसे बहुत से महापुरुष हुए हैं भारत में, जिन्होंने चिन्मयता को स्थूल स्तर पर ला करके अपने आप को चिन्मय बना लिया।

मीरा के विषय में आपने सुना होगा कि मीरा को लेने के लिए पुरोहित

गया। उदयपुर से महाराणा प्रताप को जब पता चला कि मीरा मेरी ताई है और मेरे ताए के अत्याचार से घर से निकाल दी गई थी। उन्होंने सबसे पहले यही काम किया कि उसको यहाँ लाना है। पुरोहित जब द्वारिका जी उन्हें लिवा लाने गया तो मीरा सदेह उस मूर्ति में लय हो गई। मीरा की केवल चूंदरी बची थी, जिसे पुजारी ने पकड़ लिया था। आज भी जो जाता है भगवान् के दर्शन करने तो मीरा की चूंदरी दिखाई जाती है। यही कथा है चैतन्य महाप्रभु के जीवन की। वह भी सशरीर जगन्नाथ के स्वरूप में लय हो गए थे। यही कथा है सन्त कबीर के जीवन की। जब उनके शरीर से पर्दा हटाया गया तो वहाँ फूल थे, अस्थिपंजर नहीं था। ऐसे बहुत से महापुरुष हो गए हैं जिन्होंने स्थूल स्तर पर चेतना को लाकर उसे भी चिन्मय बना दिया लेकिन सब उसको नहीं कर पाते। ऐसा किया जा सकता है क्योंकि अनेकों ने किया है। अनेकों का अनुभव है। मैं भी इसको बड़े विश्वास से कहता हूँ क्योंकि इस स्थिति में आकर भक्त भगवान् के साथ तन्मय हो जाता है। उस तन्मया के प्रति नारद जी कहते हैं—

**मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ।**

*—ना० भ० सू० ७१*

उसके पितरगण आनन्द में मग्न हो जाते हैं, देवता लोग नृत्य करने लगते हैं। ऐसे भक्त के लिए भगवान् का अवतरण भी होता है, भगवान् की छवि का साकार रूप में आविर्भाव भी होता है। वह चिन्मय सच्चिदानन्दघन परमात्मा निराकार से साकार विग्रह धारण करके धराधाम पर आकर के विभिन्न प्रकार की लीलाएँ भी किया करता है—

**सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥**

*—रा० १/१३-३५*

शाण्डिल्य ने अपने भक्ति सूत्र में भगवान् के अवतार के विषय में बताया है—

**मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्॥**

*—शाण्डिल्य भक्ति सूत्र २/१३-५*

करुणा ही उसमें हेतु होती है। करुणा किस पर होती है? भक्त के ऊपर। भक्त को प्रमोद प्रदान करने के लिए प्रभु का अवतरण होता है। उनके अवतरण के लिए किसी दूसरे प्रयोजन की आवश्यकता नहीं। भगवान् को यदि दुष्टों का वध करना हो तो उनके एक इशारे पर ही अनन्त ब्रह्माण्ड भस्म हो जाते हैं, उनको मारने के लिए आने की क्या जरूरत है। आप यदि कहें कि नहीं रावण को तो मारने के लिए राम आए। रावण तो भक्त था। जय-विजय रावण-कुम्भकरण बने,

शिवगण रावण-कुम्भकरण बने, भानुप्रताप और उसका भाई रावण-कुम्भकरण बने, जालन्धर रावण बना-ये सब परमात्मा के अनन्य चरणानुरागी थे। श्राप बस राक्षस योनि को प्राप्त हुए थे।

**उपजे जदपि पुलस्त्यकुल पावन अमल अनूप।**
**तदपि महीसुर श्राप बस भए सकल अघरूप॥**

—रा० १/१७६

श्रापग्रसित अपने भक्तों को विमुक्त करने के लिए भगवान् अवतार लिए। उनके अवतारों में भक्तों का भाव ही कारण होता है और कुछ कारण नहीं होता इसलिए शाण्डिल्य मुनि कहते हैं—करुणा ही इसमें कारण है। मैं आपको बता रहा था—

**मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति॥**

—ना०भ०सू० ७१

जब ऐसा भक्त इस पृथ्वी पर अवतरित होता है तो उसके पितर आनन्दमगन हो जाते हैं। नृत्यन्ति देवता-देवता लोग नृत्य करने लगते हैं सनाथा चेयं भूर्भवति, उन भक्तों के पृथ्वी पर आविर्भूत होने से यह पृथ्वी सनाथा हो जाती है। ऐसे भक्तों के लिए भगवान् स्वयं आते हैं। भगवान् की अनन्त सत्ता को अपने सीमित रूप में अभिव्यक्त करने की वह सामर्थ्य रखते हैं। ऐसा भक्त एक नहीं अनेक कुलों को तार देता है। देवता लोग, पितर लोग प्रसन्न होकर परमात्मा से कहते हैं—मेरे कुल में एक वैष्णव उत्पन्न हुआ है, अब वह मेरा उद्धार करेगा। इसका जन्म लेने मात्र से मेरा उद्धार हो जाएगा।

आजकल तो वैज्ञानिक बता रहे हैं कि किसी भी प्रकार के संस्कार जो बनते हैं वे २१ पीढ़ियों तक चलते हैं। एक बार एक सज्जन बात कर रहे थे। मैंने कहा कि 'आपको पता है कि २१ पीढ़ियों तक रोग के जीवाणु चलते हैं?' 'हाँ जी, जानते हैं।' हम कहा कि 'भले आदमी रोग के जीवाणु जा सकते हैं, योग के परमाणु नहीं जा सकते?' क्यों नहीं जा सकते? उनसे वे कमजोर होते हैं क्या? यदि रोग के परमाणु २१ पीढ़ियों तक जाते हैं तो योग के तो इक्कीस से ज्यादा पीढ़ियों तक जाएँगे क्योंकि वे ज्यादा प्रबल होते हैं। रोग के प्रति तो कभी सद्‌भावना नहीं हुई किसी की, इसलिए उनके टिकने में दुविधा भी हो सकती है, संशय भी हो सकता है लेकिन योग के प्रति तो सदैव सद्‌भावना बनी रहती है इसलिए उनके टिकने में कोई संदेह और दुविधा नहीं है। योग के परमाणु भी आनुवंशिक परम्परा से चला करते हैं, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं है। जिस कुल में कोई भगवद् भक्त उत्पन्न होता है, उस कुल के पितर लोग आनन्द निमग्न होते

हैं। वे जहाँ भी जिस किसी भी स्वरूप में तथा जिस किसी भी स्थान पर रहते हैं, उस भक्त की कृपा से, उस भक्त की करुणा से, उस भक्त की भक्ति से, भगवद् कृपा के पात्र बन जाते हैं और उनका उद्धार हो जाता है, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं है इसलिए—

**मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति॥**

देवता लोग इसलिए नृत्य करते हैं कि भक्त के लिए भगवान् का आविर्भाव होगा और भगवान् से दिव्य शक्तियों का विकास होगा। दिव्य शक्तियों की पुष्टि और आसुरी शक्तियाँ नष्ट होंगी, देवताओं को प्रसन्नता प्राप्त होगी, दिव्य गुणों की प्रतिष्ठा होगी इसलिए पृथ्वी भी अपने आपको सनाथा पाती है क्योंकि वह जो निर्गुण निराकार निरीह निरंजन परमात्मा है, वह सदैव त्रिपादरूप में रहता है—

**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।**

वेद कहता है कि वह भक्त की कृपा से ही एक पाद पृथ्वी पर भी विभिन्न रूपों में अवतरित होकर के क्रीड़ाएँ किया करता है इसलिए पृथ्वी भी सनाथा हो जाती है। आगे पूछा गया कि इस प्रकार की भक्ति का कौन पात्र हो सकता है? हमारे यहाँ भारत में बहुत बड़ा दुर्भाग्य रहा। आचार्यों की मैं बात नहीं कहता। आचार्य जितने भी हुए हैं, सबने लोक कल्याण की बात कही है लेकिन बाद में सम्प्रदायों में दोष आ गया है। सम्प्रदायों में दोष यहाँ तक आ गया कि आचार्य शंकर के सम्प्रदाय में यह संस्कार बना कि केवल ब्राह्मण की मुक्ति होती है। यदि क्षत्रिय को कभी मुक्ति मिलेगी तो ब्राह्मण बनकर ही मिलेगी। चाहे एक दिन के लिए किसी ब्राह्मण के यहाँ पैदा हो जाए लेकिन क्षत्रिय बनकर उसे मुक्ति नहीं मिलेगी। वैश्य को भी जब मुक्ति मिलेगी तो वैश्य क्षत्रिय बनेगा, बाद में ब्राह्मण बनेगा तब मुक्ति का अधिकारी होगा। शूद्र के लिए मुक्ति ही नहीं जब तक वह शूद्र से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय तथा क्षत्रिय से ब्राह्मण न बने। यह अनर्थकारी संस्कार है। रामानुज सम्प्रदाय में कहा गया है कि केवल ब्राह्मण को ही नहीं, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों को ही मुक्ति मिलती है क्योंकि जनकादि क्षत्रिय थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों की मुक्ति होती है लेकिन शूद्र की मुक्ति कहाँ होगी।

भारत में केवल एक महापुरुष हुए जिन्होंने घोषणा की कि मानव मात्र ही नहीं प्राणी मात्र की भी मुक्ति हो सकती है। जानते हो उनका नाम क्या था? उनका नाम था संत आचार्य रामानन्द। एक ही वे महापुरुष थे जिन्होंने घोषणा की—

**जाति पाति पूछे न कोय, हरि को भजे सो हरि का होय।**

केवल जुबान से नहीं कहा, प्रचार ही नहीं किया बल्कि अपने शिष्यों में हरेक वर्ग के व्यक्ति को दीक्षित करके उसी प्रकार की सिद्धावस्था को पहुँचाया। छोटी से छोटी जाति के व्यक्ति को उठा करके साधन द्वारा उस परम तत्त्व की अनुभूति करवाई और उसे उस सिद्धावस्था में पहुँचा करके प्रतिष्ठित किया और आगे जिनके शिष्य कबीर, रविदास, सेना, धन्ना तथा पीपा हुए। जिनकी शिष्याएँ दो स्त्रियाँ–सुरसरी और पद्मावती थीं क्योंकि इन महापुरुषों ने तो यह कह दिया था कि स्त्रियों के लिए मुक्ति नहीं है। स्त्रियों की मुक्ति केवल एक रास्ते से हो सकती है यदि वो पति की भक्ति करती रहें। जब पति मुक्त होगा तब उसके साथ उसकी मुक्ति हो सकती है, स्वतन्त्र उसकी मुक्ति नहीं होगी। उस महापुरुष ने कहा यह सब गलत धारणा है। परमात्मा की उपासना का अधिकार सब को है। परमात्मा की प्राप्ति, मुक्ति तथा मोक्ष मानव मात्र के लिए है। वहाँ जाति–पाँति का कोई भेद नहीं है। भगवान् रामानन्दाचार्य ने इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की।

ऐसी बात नहीं है कि उनसे पहले ऐसा नहीं था। भगवान् वेदव्यास ने उसकी घोषणा की है। गीता में भगवान् ने कहा है—

**स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥**

*—गीता ९/३२*

स्त्री, वैश्य तथा शूद्रादि सभी परम गति को प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ तक उन्होंने कहा—

**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।**
**साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥**

*—गीता ९/३०*

"घोर से घोर दुराचारी, पापात्मा, चाण्डाल जो है, वह भी यदि मेरी शरण में आ जाए तो वह भी परम गति को प्राप्त कर लेता है"। केवल गीता की बात नहीं उपनिषदों की बात, शास्त्रों की बात, भागवत आदि पुराणों की बात, व्याध आदि तत्त्ववेत्ताओं की कथाएँ जो महाभारत आदि इतिहास में थीं, आचार्यों की बातों के साथ वे मध्यकाल में सारी लुप्त हो गईं लेकिन भगवान् रामानन्दाचार्य ने अपने दिव्य विचारों से सारे देश में महान् आन्दोलन की प्रक्रिया जागृत की जिसमें सभी वर्गों के लोगों को परम कल्याण की प्राप्ति का मार्गदर्शन किया। मैं आप लोगों को बता रहा था कि आगे भक्ति का प्रश्न आया है। भक्ति कौन कर सकता है? ऊँचे कुल में पैदा हुआ हो, अच्छे संस्कार मिले हों? न, न। नारद जी कहते हैं—

**नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः ॥**

—*ना०भ०सू० ७२*

भगवान् की भक्ति में जाति का भेद नहीं है, विद्या का भेद नहीं है, कुल का भेद नहीं है, धन का भेद नहीं है तथा क्रिया का भेद नहीं है। भगवान् की भक्ति में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रिया का कहीं स्थान नहीं है। एक दिन मैंने आपको वेदव्यास जी का एक श्लोक सुनाया था—

**भक्तया तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिं प्रियो माधवः।**

माधव को केवल भक्ति प्रिय है। उनको गुणों से कुछ लेना देना नहीं। किस जाति में कौन पैदा हुआ है, किस कुल में कौन पैदा हुआ है, कितना धनी है, कितना गुणवान है तथा कौन सा कर्म कर रहा है, ये सब संसार की बातें हैं। भगवान् तो संसार का पिता है, वह संसार का स्रोत है। संसार तो उसकी दृष्टि में है ही नहीं। भगवान् की दृष्टि में संसार नहीं मनुष्य की दृष्टि में संसार है। भगवान् की दृष्टि में तो केवल भगवान् है—

**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।**
**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥**
**एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।**
**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥**

—*गीता ७/७,६*

"मैं स्वयं इस जगत् रूप में प्रकट होता हूँ, स्वयं अपने आपको समेट लेता हूँ।" एक जगह गोस्वामी जी ने लिखा है कि सूर्य से कोई पूछे कि अन्धकार को तुम कैसे दूर करते हो? सूर्य क्या बताएगा? सूर्य ने कभी अन्धकार का दर्शन किया है? कभी नहीं। सूर्य को क्या पता कि अन्धकार क्या होता है लेकिन हम सूर्य को कहते हैं कि आप तमारि हैं। तमारि माने अन्धकार का शत्रु। हमारी दृष्टि में सूर्य तमारि है लेकिन सूर्य की दृष्टि में सूर्य तमारि नहीं है क्योंकि सूर्य ने कभी अन्धकार को देखा नहीं है। इसी तरह हमारी दृष्टि में संसार है लेकिन भगवान् की दृष्टि में भगवान् ही भगवान् है, उस परमात्मा के सिवा तो कुछ है ही नहीं—

**पुरुषएवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।**
**उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥**

—*पुरुष सूक्त २*

जो था, जो है तथा जो होगा, वह उस परमात्मा के सिवाय कुछ भी नहीं है इसलिए

परमात्मा की उपासना में यावद् जीव पूर्णाधिकार रखता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में गीध को भी भगवान् का भक्त बताया है, कौए को भी भगवान् का भक्त बताया है। पक्षियों में इनसे निकृष्ट और कौन होगा?

**गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जागी॥**

—रा० ३/३३-२

कौए को भी—

**सपदि होहि पच्छी चण्डाला ॥**

भुशुण्डि जैसा कोई भक्त ही नहीं हुआ दूसरा। जहाँ पर पशुओं में भक्ति, पक्षियों में भक्ति, कीट-पतंगों में भक्ति है वहाँ पर मनुष्यों में भी भक्ति का अवतरण हो जाएगा, इसमें तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है, इसलिए गोस्वामी जी ने भगवान् राम के मुख से यह बात कहलाई। आप लोगों को शायद पता होगा तुलसीदास जी भगवान् रामानन्द के शिष्य के शिष्य थे। ये उसी परम्परा में से थे। भारत में यह जो मध्यकाल की परम्परा है, सनातन धर्म की प्रतिष्ठा है, यह उन्हीं महापुरुषों की देन है। तुलसीदास जी ने—

**पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।**
**सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥**

—रा०७/८७ क

भगवान् के मुख से कहलाया है—"पुरुष हो, नपुंसक हो, स्त्री हो, चर जीव हो, अचर जीव हो, किसी प्रकार का जीव हो सर्वभावापन्न होकर के, कपट का त्याग करके मेरा भजन करता है, वह मुझे प्रिय है।" भगवान् कहते हैं—

**सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सबते अधिक मनुज मोहि भाए॥**

—रा० ७/८६-४

सारा जगत् मेरा उत्पन्न किया हुआ है, इसलिए सबसे मेरा प्यार है। अपनी कृति से किसको प्यार नहीं होगा? अपनी अभिव्यक्ति से किसे प्यार नहीं होगा? अपने अंग पर किसे प्यार नहीं होता? रामानुजाचार्य जी ने कहा है कि यह संसार परमात्मा का स्वरूप है, परमात्मा स्वरूपी है। जैसे अपने स्वरूप से सब प्यार करते हैं, अपने स्वरूप की सब सम्भाल करते हैं, जैसे आपका स्वरूप आपसे अभिन्न अपना अस्तित्व रखता है, इसी रूप से सारा संसार परमात्मा का स्वरूप होने के नाते परमात्मा से अभिन्न सम्बन्ध रखता है। परमात्मा समस्त रूप से प्यार करता है। आपको अपने पाँव का अंगूठा उतना ही प्रिय है जितनी कि चेहरे पर रहने वाली नाक। दर्द यदि नाक पर होगी तो ज्यादा और यदि अंगूठे पर होगी तो

कम होगी, ऐसा तो नहीं। प्रिय तो आपको सारे अंग हैं लेकिन जहाँ नाक की बात है वहाँ नाक रहेगी, जहाँ अंगूठे की बात है वहाँ अंगूठा रहेगा। इसी रूप से परमात्मा का प्रत्येक अंग परमात्मा को प्रिय है। ये सारे जीव परमात्मा के अंश हैं, परमात्मा सबका अंशी है। ये परमात्मा के रूप हैं परमात्मा सबका रूपी है। ये परमात्मा के शरीर हैं, परमात्मा सबका शरीरी है। यह सिद्धान्त प्रस्थापित किया रामानन्दाचार्य जी ने, इसको विशिष्टाद्वैत कहते हैं, लेकिन इसको विशिष्टाद्वैत कहने की जरूरत नहीं; इसको अद्वैत कहना चाहिए। अद्वैत माने परमात्मा के सिवा जब और रूप कोई है नहीं तो वहाँ रूप और रूपी का भेद कैसे होगा? रूप-रूपी का भेद तो हमारे आप में हो सकता है क्योंकि शरीर पंच भौतिक है, आत्मा हमारी चिन्मय है। जहाँ शरीर भी चिन्मय है, आत्मा भी चिन्मय है, वहाँ रूप रूपी का भेद कैसे होगा? भगवान् का नाम, रूप, लीला और धाम सब चिन्मय हैं। वहाँ कोई भी अदिव्य नहीं है, कोई भी अचिन्मय नहीं है, इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं—''**चिदानंदमय देह तुम्हारी।**'' और नारद जी के मत से—

**नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधन क्रियादिभेदः।**

—ना० भ० सू० ७२

परमात्मा की भक्ति में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन क्रिया आदि का भेद नहीं है।

आप क्या काम करते हैं, इससे कोई मतलब नहीं। सदना कसाई माँस बेचता हुआ भी भगवान् का प्रिय हो सकता है, दादू दुनिया का काम करता हुआ भी भगवान् का प्रिय हो सकता है, रविदास जूता गाँठता हुआ भी भगवान् का प्रिय हो सकता है। इतना ही नहीं महाभारत के अन्त में एक कथा आती है कि युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। राजसूय यज्ञ में एक नेवला आया जिसका आधा शरीर स्वर्णमय था, आधा शरीर सामान्य था। जहाँ भोजन करके लोग हाथ धो रहे थे वहाँ वह लोटने लगा। लोगों ने देखा कि यह किस प्रकार का नेवला है जिसका आधा शरीर स्वर्ण का है और आधा सामान्य है। वह क्यों यहाँ पानी में लोट रहा है? लोगों ने पूछा भई! तुम इस विचित्र शरीर वाले क्यों हो, नेवला ने कहा कि एक बार किसी महापुरुष ने यज्ञ किया था। उस यज्ञ में जिन संतों-ऋषियों ने हाथ धोए, उस जल में लोटकर मेरा आधा शरीर सोने का हो गया। मुझे यह बताया गया कि जब धर्मराज युधिष्ठिर यज्ञ करेंगे, उसके बाद मेरा यह आधा शरीर भी स्वर्णमय हो जाएगा। मैं बार-२ इस जल में लोट रहा हूँ परन्तु मेरा शरीर स्वर्णमय नहीं हुआ, इसका अभिप्राय कि यह यज्ञ सम्पूर्ण नहीं हुआ। इस यज्ञ में शायद किसी महापुरुष ने प्रसाद ग्रहण नहीं किया। सभी हैरान रहे। युधिष्ठिर भी वहाँ

पहुँच गए। बात क्या है? भगवान् कृष्ण भी खड़े मुस्करा रहे थे। लोगों ने भगवान् से प्रार्थना की कि भगवन् यह नेवला क्या कह रहा है? कहा कि बिल्कुल ठीक कह रहा है। पूछा कि तुम्हारा आधा शरीर किस यज्ञ में स्वर्ण का हुआ था?

नेवला ने कहा कि यह तो रन्तिदेव ने यज्ञ किया था आधा पाव सत्तू का, उससे मेरा आधा शरीर स्वर्ण का हो गया था। धर्मराज युधिष्ठिर ने इतनी सम्पत्ति खर्च करके राजसूय यज्ञ किया लेकिन उस एक पाव सत्तू के यज्ञ की बराबरी नहीं कर सका। धर्मराज ने कहा कि भगवन् ऐसा कौन है जिसके पदार्पण से हमारा यज्ञ सफल हो सकता है? भगवान् ने कहा कि ऐसा मेरा भक्त है। क्या नाम है उसका। उसका नाम है वाल्मीकि। कहाँ रहता है वह? काशी में। यदि काशी का वह वाल्मीकि भक्त आ जाए तो तुम्हारा यज्ञ सफल हो सकता है। है कौन वह? जाति का चाण्डाल है। है वह हमारा अनन्य भक्त। जब तक वह नहीं आता तुम्हारा यज्ञ सफल नहीं हो सकता। यह एक समस्या थी कि उस स्वपच भक्त को यहाँ तक कौन लाएगा। भीम को यह डयूटी मिली कि तुम जाओ और जाकर ले आओ। भीम इन्द्रप्रस्थ से काशी गए और उस भक्त को ले आए। उस भक्त के लिए भोजन बनाया द्रौपदी ने, द्रौपदी ने स्वयं भोजन परोसा। भक्त जब भोजन करने बैठा तो उसने अनेक प्रकार के पकवान मिलाकर एक किया और एक करके भगवान् को प्रार्थना किया और खाने लगा। यह देख कर द्रौपदी को आशंका हुई, आशंका क्या मोह हुआ कि आखिर तो यह चाण्डाल ही है। हमने इतनी मेहनत से इतनी प्रकार के भोजन बनाए और यह उठाकर सबको इकट्ठा कर खाने लगा। वहाँ एक विजय शंख था, जिसको बजना चाहिए था लेकिन बजा नहीं। पाण्डवों ने पूछा "भगवन्! इस भक्त के भोजन करने पर भी हमारा यज्ञ पूर्ण नहीं हुआ।" भगवान् ने कहा कि नहीं, इसमें गलती द्रौपदी की है। द्रौपदी ने पूछा कि भगवन्! इसमें मेरा क्या दोष है? कहा जिस समय हमारा भक्त वाल्मीकि भोजन कर रहा था, उस समय तुम्हारे दिमाग में क्या बात आई? द्रौपदी ने कहा कि भगवन्! गलती तो जरूर हो गई मेरे से। मेरे दिमाग में यह बात आई कि आखिर तो यह शूद्र जाति का व्यक्ति है। इसको क्या पता कि मैंने किस प्रकार से इतनी मेहनत करके इसके लिए भोजन बनाया है, इसने एक में मिलाकर खाना शुरु कर दिया। किसी पदार्थ का स्वाद इसको पता ही नही चला। भगवान् ने कहा कि तुम्हें आशंका करने की बजाए उससे पूछ लेना चाहिए था। तुम भक्त से पूछो, भक्त तुम्हें उत्तर देंगे। द्रौपदी ने प्रश्न किया। उस भक्त ने क्या उत्तर दिया जानते हो? देवी! हम भोजन नहीं करते, हम प्रभु का प्रसाद ग्रहण करते हैं। जो हमारे पात्र में

आ गया अब उसमें से किसी प्रसाद को हम पहले लें तो दूसरे प्रसाद का अपमान होगा। इसलिए हमारे लिए कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो प्रथम गाह्य हो और बाद में न हो। हम सबको एक करके मिलाकर प्रसाद ग्रहण करते हैं। उसकी भावना को देखकर सभी लोग नतमस्तक हो गए। उस वाल्मीकि के भोजन के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ सम्पन्न हुआ। महाभारत में उसी की कहानी है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि यदि जाति के उन्नति से या उच्च जाति के नाते कोई महान् बनता है, भक्त बनता है या प्रिय बनता है तो उसमें बड़े-२ ऋषियों ने भोजन किया था, उस श्वपच जाति के वाल्मीकि को भोजन करने की क्या जरूरत थी? यज्ञ पूर्ण हो जाता, लेकिन ऐसा नहीं है। भगवान् के विधान में तो भगवान् के लिए अनन्यता ही एकमात्र कारण है। जाति, विद्या, कुल, धन, क्रिया आदि का भेद नहीं है।

कोई कैसा भी हो यदि अनन्य भाव से भगवान् की भक्ति करता है तो भगवान् का प्रिय है। यह भागवत धर्म की शिक्षा ही उपनिषदों का प्रयोजन है। भागवत धर्म की शिक्षा ही गीता का प्रयोजन है। भागवत धर्म की शिक्षा ही रामायण का प्रयोजन है। भागवत धर्म की शिक्षा ही श्रीमद्भागवत धर्म का प्रयोजन है। इस भागवत धर्म की शिक्षा में जाति-पाँति का कोई स्थान नहीं है केवल भगवान् की भक्ति का ही स्थान है। आगे के सूत्र में देवर्षि नारद बता रहे हैं—

**यंतस्तदीयाः।** —*ना० भ० सू० ७३*

भगवान् के भक्त भगवान् के होते हैं। उनका गोत्र भगवान् का गोत्र होता है—

**अति ही अयाने उपखानो नहि बूझैं लोग,**
**साह ही के गोतु गोतु होत हैं गुलामको॥**

—*कवितावली ७/१०७*

जो भगवान् का गोत्र है, वही उनके भक्त का गोत्र है, इसकी व्याख्या कल करेंगे।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## २१

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! भक्ति सूत्र के इकहतर सूत्रों का संक्षिप्त विवेचन आप लोगों को बताया जा चुका है। देवर्षि नारद कह रहे हैं—

**मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ।**

—ना० भ० सू० ७१

जब किसी भागवत् का इस पृथ्वी पर जन्म होता है तो उसके पितर लोग प्रसन्न हो जाते हैं, देवता लोग नृत्य करने लगते हैं, पृथ्वी धन्य हो जाती है, सनाथा हो जाती है क्योंकि पितरों को यह विश्वास हो जाता है कि उनके कुल में एक वैष्णव उत्पन्न हुआ है, वह सबका उद्धार करेगा। ऐसी अनुभूति के साथ पितर लोग प्रसन्न हो जाते हैं और देवता लोग नृत्य करने लगते हैं कि इस भागवत के नाते ही भगवान् की दिव्य शक्ति का प्रकाश होगा, दैवी गुणों की अभिवृद्धि होगी। पृथ्वी अपने आप को सनाथा मानती है कि प्रभु की दिव्य शक्ति का अवतरण होगा और उससे वह कृतकृत्य होगी। इस प्रकार के भक्तों के लिए किसी जाति विशेष की महत्ता नहीं है। किसी भी जाति में वे जन्म ले सकते हैं। ऊँच-नीच की भावना से रहित होकर अपने भक्तों को समान रूप से प्यार करते हैं। रामायण में तुलसीदास जी ने लिखा है—

**जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥**

—रा० २/१३१-५

जिसके हृदय में जाति-पाँति, कुल-धर्म और बड़प्पन का कोई अभिमान नहीं है, धन, बल, परिवार, गुण और चतुरता, इन सबका त्याग करके जो केवल भगवान्

के चरणों में समर्पित रहता है।

**सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई॥**

—रा० २/१३१-६

महर्षि वाल्मीकि जी कह रहे हैं कि हे रघुनाथ जी! आप उन्हीं के हृदय में निवास करें। भगवान् राम ने स्वयं शबरी को आश्वासन देते हुए कहा कि मेरी दृष्टि में किसी जाति की, गुण की, धन और विद्या की कोई महिमा नहीं है। मेरे हृदय में यदि मह्हिमा है तो केवल विशुद्ध प्रेम की, वह प्रेम तुम्हारे पास है इसलिए मैं तुम्हें पूछता हुआ यहाँ आया हूँ। नारद जी कहते हैं—

**नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः ॥**

—ना०भ०सू० ७२

भगवान् की भक्ति में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि का भेद नहीं है। शबरी एक निम्न शबर जाति की स्त्री थी इसलिए उसे शबरी कहते हैं। उसकी भक्ति की महत्ता इतनी थी कि यदि उसके चरित्र को आप थोड़ा सा सुनें तो आपको हैरानी होगी। शबर जाति में एक कन्या पैदा हुई। वह कन्या पूर्व जन्म में क्या थी, इसकी एक अलग कहानी है।

एक राजा थे। उनकी एक कन्या थी। उस राजकन्या की जो सखी थी, वह ब्राह्मण कन्या थी। ब्राह्मण कन्या नित्य प्रति उसके साथ खेलने आती थी। एक दिन वह नहीं आई तो राजकन्या सारा दिन उदास रही। दूसरे दिन जब ब्राह्मण कन्या आई तो उसने कहा कि राजकुमारी! मैं तुम्हें बताने आई हूँ कि मैं कुछ दिन तुम्हारे साथ खेलने यहाँ नहीं आ सकती। क्यों, क्या बात है? उसने कहा कि हमारे यहाँ हमारे आचार्य आए हुए हैं इसलिए उनका सत्सङ्ग हुआ करता है। मैं सत्सङ्ग छोड़ कर आ नहीं सकती। राजकुमारी ने कहा कि तुम्हारे आचार्य को क्या मैं भी देखने चल सकती हूँ, उन्हें सुन सकती हूँ? बोली हाँ, चल तो सकती हो लेकिन पहले तुम्हें राजगृह से आज्ञा लेनी होगी। राजकुमारी ने पहले माँ से कहा लेकिन उसने कहा कि नहीं बेटी! राजघरों की लड़कियाँ बाहर नहीं जाती और वह स्थान तुम्हारे लिए नहीं है। वे तो ब्राह्मण लोग हैं। उनका तों काम ही है सत्सङ्ग करना, वेदशास्त्र पढ़ना। तुम राजकुमारी हो, तुम्हें इससे क्या लेना देना। उसको बहुत दुःख हुआ, उसने अपने पिता से कहा परन्तु राजा ने भी यही उत्तर दिया। उस लड़की को बड़ा दुःख हुआ। वह सोचने लगी कि यदि आज वह किसी छोटे स्तर के परिवार में होती तो उसे भी यह सौभाग्य मिलता। वह भी किसी ऋषि के पास बैठती, उनके दर्शन करती तथा उनके विचार सुनती क्योंकि

उसकी सहेली ने उसे जो कुछ बताया था अपने कुलगुरु के विषय में, बातें सुन करके उसके हृदय में एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी। अन्त में उसने निश्चय कर लिया कि ऐसे जीवन के अपेक्षा तो हमारे लिए मृत्यु ही श्रेष्ठ है, ऐसा निश्चय करके राजकुमारी ने उस संस्कार के साथ आत्महत्या कर ली। आत्महत्या के पाप के कारण राजकुमारी का जन्म निम्न जाति शबर में हुआ। उसमें वे संस्कार तो थे ही। भील जाति में उसे कौन से अच्छे संस्कार मिलने वाले थे। चारों तरफ का वातावरण दूसरा ही था। उसके खान-पान में बड़ी विचित्रता थी। घर में सभी मांस खाते थे और मद्यपान करते थे लेकिन उसकी ऐसी रुचि नहीं थी।

एक दिन उसने देखा कि उसके घर में बहुत सी भेढ़ें, बक़रे तथा मृग इकट्ठे किए जा रहे थे। उसने पूछा अपनी माँ से कि इतने पशु किस लिए इकट्ठे किए जा रहे हैं? माँ ने बताया कि तुम्हारा विवाह होने जा रहा है। उसने कहा कि मेरा विवाह इन पशुओं के साथ होगा? पशुओं से विवाह नहीं होगा, ये पशु तुम्हारे विवाह में भोजन के काम आएँगे। भोजन में काम आएँगे? बोले, हाँ! उसका हृदय काँप गया कि विवाह मेरा होना है और उस विवाह में इतने पशुओं का वध हो जाएगा! धिक्कार है ऐसे विवाह को? निश्चय किया कि नहीं मैं यह अनर्थ नहीं होने दूँगी अपने लिए। उस समय उसकी आयु सोलह वर्ष थी। वह भील कन्या आधी रात को उठी और उठ करके अपना निवास छोड़ जंगल में चल पड़ी। धीरे-२ रात में वह जंगल का बहुत सा हिस्सा पार कर गई। सवेरा हुआ तो उसके घर वाले उसे ढूंढने लगे। कहीं पता नहीं लगा। वह उस जंगल को पार करके दण्डकारण्य से पम्पा सरोवर पहुँच गई दूसरे जंगल में। जिस जंगल में वह पहुँची वहाँ ऋषि लोग रहते थे, उसे पुरानी स्मृति याद आ गई। वह भील जाति में पैदा हुई है, ऋषियों की सेवा कैसे करे? सत्सङ्ग उसे कैसे मिले? उसके दिमाग में बात आई, उसने निश्चय किया कि कोई बात नहीं सेवा का कोई रास्ता वह ढूंढ़ निकालेगी। जाकर उसने देखा कि एक पम्पासरोवर था। प्रातःकाल ऋषि लोग चार बजे उठते और पम्पासरोवर में स्नान करने के लिए आते। उसने निश्चय किया कि ये चारों रास्ते जो ऋषियों के आने के हैं, इनमें बहुत से कंकड़-पत्थर होते हैं, इनको वह साफ किया करेगी। चारों रास्ते जो सरोवर को आते थे, वह उनको साफ किया करती थी। ऋषि लोग आते स्नान करने, देखते कि बड़ा साफ रास्ता है। पता नहीं कौन साफ कर जाता है? उसने सोचा कि और सेवा वह क्या करे, यह तो दो घण्टे का काम है! खाने पीने की तो उसे चिन्ता थी नहीं। वह भील जाति की थी, कन्द मूल-फल बहुत होते थे जंगल में, वह लेकर खा लेती थी और

किसी पेड़ के नीचे पड़ी रहती थी। अब उसने देखा कि ऋषि लोग लकड़ी तोड़ते हैं और समिधा तोड़ कर अपनी कुटिया में ले जाते हैं और हवन करते हैं। उसने सोचा कि यह काम तो वह कर सकती है। समिधा तोड़ करके ऋषियों की कुटिया में पहुँचाना, यह दिन भर का काम है। दिन भर वह लकड़ी तोड़ती और रात्रि में जब सब ऋषि सो जाते तो वह बारह बजे रात गट्ठर बाँधती और सभी ऋषियों की कुटिया में पहुँचा आती। सुबह लोग देखते कि लकड़ी पड़ी हुई है। उनके लिए विचित्र सी बात थी, रास्ता साफ होता, लकड़ी पड़ी होती। अन्य ऋषियों ने इतना ध्यान नहीं दिया लेकिन वहाँ के जो मुख्य ऋषि थे, उनका नाम था मतङ्ग ऋषि। उन्होंने अपने शिष्यों से पूछा कि भाई! यह रास्ता कौन साफ करता है और लकड़ी कौन रख कर जाता है? कहा कि गुरुदेव हम लोगों को कुछ मालूम नहीं है। उन्होंने कहा कि तुम लोग रखवाली करो रात में और उस चोर को पकड़ो जो यह काम करता है। ऋषि के शिष्य बैठ कर प्रतीक्षा करने लगे। आधी रात में वह बाला लकड़ी का बोझ लेकर आ गई। ज्यों ही उसने वह बोझ रखा उन शिष्यों ने कहा कि वहीं खड़ी रह, देवी! तुम कौन हो? जब यह सुना तो काँप गई कि पता नहीं ऋषि उसे कैसा दण्ड देंगे। वह रोने लगी कि भगवन्! मैं एक दरिद्र शबर कन्या हूँ और भावानुसार तुच्छ सेवा करने की कोशिश करती हूँ। उसका कोई अपराध नहीं है, उसे क्षमा किया जाए। ऋषि कुमारों ने कहा कि देवी! यह तुम्हारा अपराध है या सेवा, इससे हमें कुछ लेना देना नहीं है, हमें तो गुरु की आज्ञा मिली है कि तुम्हें पकड़ करके गुरु के सामने ले चलें इसलिए अब तुम हमारे साथ चलो। उसने कहा कि भगवन्! हम तुम्हारे आश्रम में प्रवेश नहीं कर सकती क्योंकि हम शबर जाति की कन्या हैं। आप हमें स्पर्श न करें। उन्होंने कहा कि हम स्पर्श नहीं करेंगे, हम तो जाकर गुरु जी को बता देंगे।

शिष्यों ने जाकर मतङ्ग ऋषि से कहा कि भगवन् एक शबर जाति की कन्या है जो नित्यप्रति यह कार्य करती है। लकड़ी रख जाती है और रास्ता साफ कर देती है। जब मतङ्ग ऋषि ने यह सुना तो उनके हृदय में बड़ी भावना जागृत हुई। उन्होंने कहा कि उस कन्या को ले आओ मेरे सामने। देखें तो कौन है? उन्होंने कहा कि देवी! तुम्हें ऋषि बुला रहे हैं। वह बड़ी डरती हुई आश्रम में गई। ऋषि मतङ्ग ने जब देखा तो पूछा—"बेटी! तुम यह सब यहाँ आकर कैसे करती हो?" उस लड़की ने अपनी सारी कहानी सुना दी कि मैं अमुक भील की लड़की हूँ। मेरे पिता ने मेरे विवाह के लिए बहुत से बकरे, मृग और भेड़ें इकट्ठे किए थे। मैंने सोचा कि इन सभी की हत्या होगी मेरे कारण इसलिए मैं अर्धरात्रि में घर

छोड़कर भाग आई। मतङ्ग ऋषि ने पूछा कि कहाँ की रहने वाली हो? कहा कि मैं तो बहुत दूर की रहने वाली हूँ, ऋषियों की सेवा करने की मेरी चाह है इसलिए भगवन् मैं यहाँ आई हूँ। "यहाँ कहाँ रहती है तू, बेटी?" वृक्ष की छाया के नीचे रहती हूँ और कन्द-मूल खा लेती हूँ। उन्होंने कहा कि नहीं, आज से तुम आश्रम में रहोगी। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि ऋषि ने उसकी आंतरिक भावना को देख करके उसको दीक्षित किया। राम मन्त्र की उसे दीक्षा दी। दीक्षित करके उसी आश्रम में रहने की उसके लिए व्यवस्था कर दी। कहा कि तुम अब आराम से यहाँ रहो और जो सेवा करती हो करती रहो। खाने-पीने की सारी व्यवस्था हमारे यहाँ से हो जाएगी।

जब ऋषि मतङ्ग ने यह किया तो यह बात फैल गई सारे ऋषि आश्रमों में कि ऋषि मतङ्ग ने अपने आश्रम में एक शबर की कन्या को स्थान दे दिया। शबर अछूत की कन्या को बैठा लिया आश्रम में? ऋषियों ने कहा कि यह महान् अनर्थ हो गया। अब तो वह पतित हो गए। अन्य ऋषियों ने उनका त्याग कर दिया। मतङ्ग ऋषि को कोई अन्तर नहीं पड़ा। शबरी रोते हुए कहने लगी कि भगवन्! मेरे कारण ऋषि आपका त्याग कर रहे हैं इसलिए मुझे आज्ञा दें कि मैं यहाँ से चली जाऊँ। उन्होंने कहा कि नहीं पुत्री! तुम यहाँ रहो, तुम्हारे जाने की कोई जरूरत नहीं है। एक समय आएगा जब ये सब ऋषि पश्चात्ताप करेंगे। तुम्हारे यहाँ भगवान् स्वयं पधारेंगे और तुम्हें कृतकृत्य करेंगे। अब उसका रोज का काम झाड़ू लगाना और सफाई करना था। एक दिन की बात है कि शबरी चली जा रही थी और एक ब्राह्मण स्नान करके पम्पा सरोवर से आ रहे थे। शबरी की छाया पड़ गई उन पर। छाया का स्पर्श हो जाने पर ब्राह्मण को गुस्सा आ गया और वे गालियाँ देने लगे। अरे कहा कि दुष्टा! तूने मुझे भी मतङ्ग समझ रखा है? एक को तो भ्रष्ट किया तूने, मुझे भी भ्रष्ट करना चाहती है? पतिता! हट जा यहाँ से। अब उन्होंने सोचा कि इसकी छाया का स्पर्श हो गया है इसलिए पुनः जाकर स्नान करूँ। यह नियम था कि यदि कभी शबर जाति या नीच जाति के किसी व्यक्ति की छाया का स्पर्श हो जाए तो स्नान करने से शुद्धि होती है। तुलसीदास जी ने लिखा है—

**लोक बेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥**

—रा० २/१९४-३

छाँह माने छाया, छाया यदि छू जाए तब भी 'लेइ असीचा' माने स्नान करना चाहिए। इतनी अधम जाति में पैदा हुई थी वह कि ऋषि ने वहाँ से लौट कर पम्पा सरोवर में स्नान किया। स्नान करने का परिणाम यह हुआ कि उस भक्ता के

अपमान से वह इतना पतित हो गया था कि उसके स्नान करते ही सारे पम्पा सरोवर का जल रक्तमय हो गया और उसमें कीड़े पड़ गए। उसी सरोवर के किनारे ऋषि लोग रहते थे, उन्हें तो जल की बहुत जरूरत थी। जब वह जल भ्रष्ट हो गया तो अन्य ऋषि लोग वहाँ से चल दिए। अब उसके दिमाग में आया कि यह इतनी पतिता है कि उसकी छाया का प्रायश्चित करने के लिए जब उसने स्नान किया तब यह सरोवर रक्तमय हो गया। उसने यह निश्चय कर लिया कि यह सही में पतित है। उसे यह पता ही नहीं चला कि भक्त के अपमान का यह परिणाम है। वहाँ से अन्य ऋषि तो चले गए, मतङ्ग ऋषि वहाँ रहे। थोड़े दिन बाद मतङ्ग ऋषि ने कहा कि बेटी! अब मैं जाने की तैयारी कर रहा हूँ। वह रोने लगी कि गुरुदेव हम भी आपके साथ जाने की तैयारी करेंगी। उन्होंने कहा कि नहीं तुम्हें यहाँ रहना है। भगवान् इस समय चित्रकूट में विराजमान हैं। कुछ दिन बाद वे वहाँ से दण्डकारण्य आएँगे और दण्डकारण्य से तुम्हारे यहाँ पधारेंगे इसलिए तुम उनकी प्रतीक्षा करो, मैं जा रहा हूँ। इतना कह करके उन्होंने अपने शरीर का त्याग कर दिया। गुरु जी चले गए और शबरी वहीं बैठी थी। भगवान् राम जब वहाँ पर आते हैं तो शबरी का स्थान पूछते हैं। जो ऋषि मिलता है, जो मुनि मिलता है, उससे प्रभु यही पूछते हैं कि यहाँ पर शबरी कहाँ रहती है? किसी ऋषि की कुटिया में नहीं गए, सीधा शबरी के यहाँ आए। ऋषियों को जब पता चला कि भगवान् तो शबरी के यहाँ पहुँच गए इसलिए वे इकट्ठा होकर आए। ऋषियों ने कहा कि भगवन्! शबरी का कल्याण तो हुआ ही, इसके अपराध से सरोवर का सारा जल अपवित्र हो गया है, आप कृपा करके अपना चरण स्पर्श कराइए जिससे यह तालाब पवित्र हो जाए। भगवान् ने कहा कि मेरे चरण स्पर्श से यह तालाब पवित्र नहीं होगा। कहा कि ऋषियों! जिसके अपराध से यह तालाब अपवित्र हुआ है, उसी की कृपा से यह तालाब शुद्ध हो सकता है। जिस ब्राह्मण ने इस भक्ता का अपराध किया है, यदि वही ब्राह्मण इसके चरणों को धो करके इसमें डाल दे या इससे प्रार्थना करे और शबरी अपने चरण से इस तालाब को स्पर्श कर दे तो यह जल पवित्र हो सकता है। यह बात सुनी तो ऋषि एक दूसरे का मुँह देखने लगे। वह ब्राह्मण जिसने शबरी का अपमान किया था, वह आ करके प्रार्थना किया और उनके कहने से शबरी ने पुनः उस सरोवर में अपने पाँव स्पर्श किए तो तालाब का जल पुनः शुद्ध हो करके निर्मल हो गया।

यह कथा जो मैं आपको बता रहा था कि भगवान् के दरबार में कहीं भी

नीच-ऊँच के लिए स्थान नहीं है। वहाँ भक्ति ही मूल कारण है। वह शबरी आज भी हमारे इतिहास की महान् भक्ता है।

**सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ ।**
**नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ ॥**

*—रा० १/२४*

भगवान् ने उस शबरी को माँ का स्थान दिया और अपने हाथ से उसका सारा कृत्य किया। शबरी ने तो भगवान् के सामने शरीर छोड़ दिया और बाद में माँ का जैसे श्राद्ध करते हैं वैसे भगवान् राम ने शबरी का श्राद्ध अपने हाथ से किया। जैसे माँ को तर्पण देते हैं वैसे शबरी को तर्पण अपने हाथ से दिया। उसके समान और कोई भाग्यशाली कौन हो सकता है दुनिया में! भगवान् को किसी जाति-पाँति से कोई मतलब नहीं है। ऊँच-नीच से कोई मतलब नहीं है। भगवान् को तो भक्ति ही प्रिय है। जो उनका हो गया है, उनको समर्पित हो गया है, प्रभु उसके हैं और वह प्रभु का है, यह सिद्धान्त है रामायण में। भगवान् ने स्वयं कहा है—

**पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ ।**
**सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ॥**

*—रा० ७/८७*

"पुरुष हो, नारी हो, नपुंसक हो अथवा कोई भी प्राणी हो जो कपट त्याग करके मेरा सर्वभाव से भजन करता है, वही मेरे को सबसे अधिक प्रिय है"। सर्वभाव माने सभी भाव—

**गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥**

*—रा० ३/१६-१०*

सर्व भाव से जो मेरी आराधना करता है, वही मुझे प्रिय है, भगवान् कहते हैं। भगवान् के यहाँ जाति के लिए कोई स्थान नहीं है, विद्या के लिए कोई स्थान नहीं है। भगवान् कहते हैं कि कोई बड़ा विद्वान् क्यों न हो, कोई बड़ा रूपवान् क्यों न हो, कोई बड़ा धनवान् अथवा अच्छे कर्म करने वाला क्यों न हो, इससे मेरा कोई मतलब नहीं है। तुलसीदास जी ने अपनी दोहावली में लिखा है—

**तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैनि दिन राम ।**
**ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम ॥**

*—वैराग्य संदीपनी ३८*

भक्त यदि चाण्डाल भी है तो भी वह श्रेष्ठ है उस ब्राह्मण से जिस ब्राह्मण की

जुबान से भगवान् का नाम नहीं निकलता। भगवान् कृष्ण ने वर्ण व्यवस्था के विषय में साफ शब्दों में कहा है कि—

**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**

*—गीता अ० ४/१३*

हम गुण और कर्मानुसार वर्ण की व्यवस्था मानते हैं। जन्मजात हम किसी का अधिकार स्वीकार नहीं करते। यही बात बुद्ध ने कही। बुद्ध ने कभी वर्णव्यबस्था के खिलाफ कुछ नहीं कहा। उसने कहा कि ब्राह्मण वह है जो सदाचारी है, त्यागी है, जो दूसरे के दुःख में हाथ बटाता है। क्षत्रिय वह है जो शूरवीर है तथा दूसरे की रक्षा करता है। वैश्य वह है जो प्रयत्न करके धन कमाता है और लोगों के उपकार में समर्पित करता है। जो गऊ पालन करता है, लोगों को घी दूध पिलाता है, व्यवसाय करता है, कृषि करता है, उत्पादन करता है, लोगों को सुख पहुँचाता है, इसलिए हम ऊँचे वर्गों के समर्थक हैं लेकिन गुणकर्मानुसार।

मैं आपको बता रहा था कि भगवान् वेदव्यास के समय से यह आन्दोलन था। हमें लगता है कि यह आन्दोलन इससे पहले भी था क्योंकि भागवद् धर्म की स्थापना तो ऋषि नारायण द्वारा की गई है। उनके नाम पर बद्री नारायण है। बद्रीनारायण में नर और नारायण, ये दो धर्म के यहाँ पुत्र पैदा हुए थे। उनसे यह भागवत धर्म का प्रवाह चला है। भागवत धर्म की प्रतिष्ठा आगे चल करके वेदव्यास जी ने और भगवान् विष्णु ने की और वहीं से जाति पाँति के खिलाफ आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। यह आन्दोलन भगवान् कृष्ण के समय में था, बुद्ध के समय में था और भगवान् महावीर के समय में था। उसके बाद कई वैष्णवाचार्य हुए, उन्होंने कई आन्दोलन किए। इस विषय में रामानुज इसमें अग्रगण्य थे लेकिन दुर्भाग्य से रामानुज के बाद फिर यह जाति-पाँति शुरू हो गई। आगे चलकर संतकाल में सबसे महान् इसके आन्दोलनकर्त्ता हुए भगवान् रामानन्दाचार्य। उन्होंने हरेक वर्ग के व्यक्ति को दीक्षा दी। हरेक वर्ग के व्यक्ति को सिद्ध बनाया। आपको यह जानकर हैरानी होगी कि यदि आप अयोध्या में जाएँ तो वहाँ आपको हरेक जाति के भगवान् का मन्दिर मिलेगा। हरेक जाति अपने भगवान् की पूजा करती है। यह नहीं कि उनके मन्दिर में सब नहीं जाते। सब अपने-अपने भगवान् की पूजा करते हैं। रामानन्दाचार्य ने कहा—

**जाति पाँति पूछे न कोए। हरि को भजे सो हरि का होए॥**

उन मन्दिरों में उसी जाति के लोग पुजारी हैं। हरेक सन्त जो उस मन्दिर में जाते हैं, वहाँ प्रसाद लेते हैं, चरणामृत लेते हैं और चले जाते हैं। कोई भेद-भाव नहीं

है वहाँ। यह नहीं कि ये सारे के सारे आन्दोलन बिल्कुल सफल नहीं हुए। सफल तो बहुत हुए लेकिन अब भी वह रोग ज्यों का त्यों चल रहा है, इसमें पूर्णतया सफलता नहीं मिली। यह दृष्टिकोण जड़ नहीं पकड़ पाया कि भगवान् के दरबार में जाति पाति के लिए कोई स्थान नहीं है। उसमें एक कारण और भी था। उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में वर्ण व्यवस्था बड़ी प्रबल थी। दक्षिण भारत से ही सारे आचार्य आए उत्तर में। आचार्य शंकर केरल के थे, रामानुज मद्रास के थे, माध्वाचार्य कर्नाटक के थे, निम्बार्काचार्य आंध्र के थे, वल्लभाचार्य तैलंगाना के थे। ये पाँचो दक्षिण भारत के थे, इनमें से कोई उत्तर भारत का नहीं था। दक्षिण भारत से जो आन्दोलन चला, वह जाति-पाँति को लेकर चला क्योंकि वहाँ ब्राह्मण अपने आपको हमेशा श्रेष्ठ मानतें रहे हैं। वही संस्कार इधर भी आ गया। बाद में उत्तर भारत से दो महापुरुष हुए। पहले हुए आचार्य रामानन्दाचार्य। इनका जन्म प्रयाग में हुआ था। काशी में उन्होंने अपना सारा जीवन इसी कार्य के लिए लगाया। ये कबीर, रविदास इत्यादि सन्तों के गुरु थे। दूसरे थे चैतन्य महाप्रभु जो गौड़ प्रदेश के थे, इन दोनों ने अपना सम्प्रदाय तो चलाया लेकिन इनका सम्प्रदाय उन्हीं सम्प्रदायों की शाखा थी। रामानुज सम्प्रदाय से ही निकले थे रामानन्दाचार्य और माधव सम्प्रदाय से निकले थे चैतन्य महाप्रभु। इन दोनों ने जाति-पाँति के विरुद्ध आन्दोलन चलाया क्योंकि इन सम्प्रदायों में जाति-पाँति की बहुत प्रतिष्ठा थी।

मैं आपको बता रहा था कि भक्ति शास्त्र में, भक्ति मार्ग में, भागवत धर्म में कहीं इसके लिए स्थान नहीं था। वैदिक धर्म में इसके लिए स्थान ऋत्वजों के नाते था। यदि कर्म काण्ड करना है तो वहाँ आपको पण्डितों की जरूरत होगी। भक्ति में पण्डितों की जरूरत नहीं है। यदि आपको भजन करना है तो पण्डित की क्या जरूरत है? यज्ञादि में ब्राह्मण की जरूरत पड़ती थी इसलिए उसका अलग से नाम पड़ गया ब्राह्मण धर्म। ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित किए जाने वाले धर्म का नाम ही पड़ गया ब्राह्मण धर्म। उसमें उनकी प्रतिष्ठा थी, बाद में जब भागवत धर्म आया तो उसमें उनकी जरूरत नहीं थी। भगवान् से प्रेम करना है, उनकी पूजा करनी है तो डायरैक्ट तुम भगवान् की पूजा करो। तुम्हारे और भगवान् के बीच में किसी मध्यस्थ की जरूरत नहीं है, ऐसा यह सिद्धान्त भागवत धर्म का निकला। गुरु भगवत स्वरूप होने के नाते वहाँ किसी भी प्रकार के भेद के लिए स्थान नहीं है। गुरु के शिष्य चाहे किसी भी वर्ग के हों, सब बराबर हैं। रामानन्द के लिए जैसे कबीर प्रिय है वैसे सुरसुरानन्द प्रिय हैं, वैसे नरहरि प्रिय हैं जिसके शिष्य तुलसी

थे, वैसे उनके लिए रविदास प्रिय हैं। उनके लिए कोई अन्तर नहीं थे। सभी उनके शिष्य थे। सभी उनके प्रिय थे। इसलिए भागवत धर्म की प्रतिष्ठा हुई। मैं आप लोगों को बता रहा था कि यहाँ पर देवर्षि नारद भी इस बात को स्वीकार करते हैं भक्ति में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि का भेद नहीं है। यह भागवत धर्म का सिद्धान्त है। इसमें किसी जाति की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। भगवान् की जो भक्ति करता है, वही भगवान् के लिए प्रिय है। वही दुनिया में महान् है। तुलसीदास जी ने लिखा है—

**भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥**
**भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥**

—रा० ७/८६-९,१०

भगवान् राम स्वयं कहते हैं कि भक्ति-हीन तो ब्रह्मा भी सारे जीवों के समान हमें प्रिय है लेकिन भक्ति युक्त तो नीच से नीच प्राणी भी मुझे प्राण के समान प्रिय है इसलिए उसमें भक्ति की ही महिमा गाई है—

**सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥**
**जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥**

—रा० १/२९१-१,२

वह शुभ कर्म धर्म जरि जाए जहाँ राम के प्रेम की प्रधानता नहीं होगी इसलिए भगवद् भक्ति में जाति, विद्या, रंग, रूप, कुल, धन आदि का कोई भेद नहीं है। गरीब है कोई बात नहीं है। भगवान् को सुदामा का चावल जितना प्रिय था उतना शायद किसी का मोदक प्रिय नहीं इसलिए—

**नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः ॥**

तुलसीदास जी ने अपनी विनय-पत्रिका में लिखा है भगवान् राम जहाँ भी जाते हैं—

**घर गुरगृह प्रिय सदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई।**
**तब तहँ कहि सबरीके फलनि की रुचि माधुरी न पाई॥**

—वि०प० १६४/४

चौदह वर्ष वनवास के बाद भगवान् जहाँ जाते, जहाँ कोई उन्हें निमन्त्रित करता और वे भोजन करने बैठते और जो पूछता क्यों भगवन्! 'भोजन कैसा बना है?' कहते कि भोजन तो अच्छा बना है लेकिन जैसी शबरी के फल में मिठास थी, वो मधुरता नहीं है। कहाँ-कहाँ उन्होंने ऐसा कहा? 'घर' माता कौशल्या से कहा, 'गुरु गृह' गुरु के घर में कहा, 'प्रिय सदन' मित्रों के घर में कहा, 'सासुरे' ससुराल

में जनक जी ने सब बुलाया तो वहाँ भी उन्होंने कहा कि जो स्वाद शबरी के फल में था वो स्वाद भोजन में यहाँ आया नहीं।

मैं आपको बता रहा था भगवान् को जाति से कोई मतलब नहीं है, विद्या से कोई मतलब नहीं है। तुम भगवान् से ज्यादा विद्वान्, उनसे ज्यादा रूपवान् तथा कर्मवान् तो नहीं बनोगे? जब उनसे अधिक कुछ बन ही नहीं सकते तो भगवान् किस नाते तुम से प्रेम करेंगे? हाँ, भगवान् को प्रेम प्रिय है। यदि तुम अपने आपको भगवान् को समर्पित करते हो तो भगवान् तुम्हारे अपने हो जाते हैं। एक पद में मैंने संकेत किया है—

**हैं भक्त समर्पण क्या करते, भगवान् समर्पित होते हैं।**

भक्त को समर्पण करने का क्या है? जब भक्त भगवान् का हो जाता है तब भगवान् ही समर्पित हो जाते हैं। जो कुछ है सब भगवान् का ही है। उसके पास अपना क्या है समर्पित करने के लिए? आगे के सूत्र में कहा है—

**यतस्तदीयाः॥** —ना०भ०सू० ७३

जो भगवान् के भक्त हैं वे भगवान् के हैं इसलिए भगवान् उनको समर्पित हो जाते हैं। जब भगवान् अपना सर्वस्व उनको दे देते हैं फिर क्या पूछना।

पुराण में एक कथा आती है कि भगवान् कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते हुए सदैव उनके प्रति कृतज्ञ होकर के व्यवहार करते थे। ब्रह्मदेव ने उनसे प्रश्न किया कि भगवन्! सबसे श्रेष्ठ तत्त्व तो मुक्ति है। वह तो आपने पूतना को जो स्तन पर विष लगाकर आपको मारने के लिए आई थी, उसको दे दी। भगवान् ने पूतना का स्तन पिया इसलिए भगवान् ने उसे माँ की गति दे दी। उसे मुक्ति दे दी। देवताओं ने पूछा कि भगवन्! अमूल्य मुक्ति तो आपने पूतना को दे दी और ये गोपियाँ जो आपको इतना प्यार करती हैं, इनको देने के लिए क्या है आपके पास? भगवान् ने कहा कि इन्हें देने के लिए तो मेरे पास कुछ नहीं है। इनका तो मैं दास बना इनके पीछे-पीछे घूमता हूँ, इनको क्या दे सकता हूँ? आगे-आगे गऊएँ चलती हैं पीछे-पीछे ग्वाल-बाल चलते हैं और इन सबके पीछे भगवान् बंसी बजाते हुए आते हैं। देवर्षि नारद जी ने पूछा भगवन्! आप इनके पीछे-पीछे क्यों चलते हो? इनके आगे-आगे क्यों नहीं चलते? उन्होंने कहा कि नारद मैं इनके पीछे इसलिए चलता हूँ कि गऊओं, गोपियों और ग्वालों के चरणों से लगी हुई धूल जो उड़ती है, वह मेरे मस्तक पर पड़ती है। इससे मैं अपने आप को तृप्त मानता हूँ कि ये मेरे परम प्रेम भक्त हैं। भक्त के चरणों की लगी हुई धूल को स्पर्श करके भगवान् भी स्वयं को कृतार्थ मानते हैं। अब आप सोचिए भक्त समर्पित

होते हैं या भगवान् समर्पित होते हैं। भक्त के पास समर्पण करने के लिए क्या है? शरीर भी भगवान् का है, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सब भगवान् का दिया हुआ है। उसके पास अपना तो कुछ भी नहीं है इसलिए—

**हैं भक्त समर्पण क्या करते, भगवान् समर्पित होते हैं।**

यह बिल्कुल सत्य है इसलिए नारद जी ने कहा—भगवान् के भक्त भगवान् के हैं और भगवान् भक्त के हैं। अब यहाँ पर उन्होंने कुछ निर्देश दिए हैं भक्त के लिए। भक्ति मार्ग पर चलने वालों के लिए पहला निर्देश है—

**वादो नावलम्ब्यः॥** —*ना० भ० सू० ७४*

भक्त को चाहिए कि वह वाद-विवाद में न पड़े। जैसे-भक्ति सही है या गलत है, भगवान् हुए कि नहीं हुए, भगवान् आए कि नहीं आए? इससे क्या लेना-देना। जो कहता है कि भगवान् नहीं हुआ तो कहो कि अच्छा है कि नहीं हुआ भाई। जो जैसा मानता है उसको वैसा मानने दो। यदि वाद-विवाद में पड़ेगा तो क्या होगा? आगे उन्होंने कहा—

**बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च॥**

—*ना० भ० सू० ७५*

वाद-विवाद में पड़ने से एक तो समय खराब होता है और परिणाम भी कुछ नहीं निकलता। एक कहता है भगवान् है दूसरा कहता है कि नहीं है, क्या परिणाम निकलेगा? भगवान् कोई वस्तु तो है नहीं कि तुम उसके सामने रख दोगे कि यह देखो भगवान् है। कोई कहता है ज्ञान श्रेष्ठ है, कोई कहता है कि भक्ति श्रेष्ठ है, इसमें तुम क्या निर्णय करोगे? क्या श्रेष्ठ है, कौन जानता है? जो करेगा वही तो बताएगा।

कुछ वर्ष पूर्व की यह घटना है। आर्य समाज की एक आर्य प्रतिनिधि सभा थी। उसके प्रेसीडेंट थे स्वामी सत्यानन्द। वे बहुत बड़े विद्वान् थे लेकिन उनका कार्य था सनातन धर्म का खण्डन। एक दिन लुधियाना की केसर गंज मण्डी में उनका व्याख्यान था। हज़ारों लोग वहाँ इकट्ठे हुए थे। उस दिन उन्होंने व्याख्यान में यही कहा कि राम-नाम कहने से कुछ नहीं होता। यह अवतार पाखण्ड है, नाम जप पाखण्ड है, भक्ति पाखण्ड है, इस पर उन्होंने व्याख्यान दिया। बड़ी-लम्बी चौड़ी व्याख्या की और लोग तालियाँ बजाते रहे। एक गृहस्थ सन्त थे। वे बड़े पहुँचे हुए अनुभवी सन्त थे। लुधियाना में सराफां बाजार में रहते थे। उनसे जाकर किसी ने कहा कि आज तो सत्यानन्द ने बड़ी बुरी तरह से अवतार, नाम जप और भक्ति का खण्डन किया है, कोई सदय हृदय सुन नहीं सकता। उन्होंने कहा कि

अच्छा, कोई बात नहीं। भगत जी चले जा रहे थे और उधर से स्वामी सत्यानन्द जी आ रहे थे। सत्यानन्द जी रहने वाले भी लुधियाना के ही थे। पैदा हुए थे क्षत्रियों के चोपड़ा जाति में। पहले जैनी बने और बाद में आर्यसमाजी बने। जब वो खण्डन-मण्डन करके आ रहे थे तो सैकड़ों लोग उनके पीछे चल रहे थे। इतने में रास्ते में भगत सुदामा मिल गए। किसी ने कहा वो सत्यानन्द जा रहे हैं। वे जानते थे उन्हें। उन्होंने दूर से ही कहा कि ज़रा खड़ा रह। मेरी बात सुन। वे खड़े हो गए। कहा-क्या बात है, भगत जी? पूछा, 'तूने कभी राम-नाम कहा है?' बोले-'न', कहा कि तूने जब राम-राम कहा ही नहीं, तुम्हें क्या पता कि राम-राम कहने से क्या होता है। अरे भले आदमी! पहले तू राम नाम कह करके देख। बड़ा वेद पढ़ा है, बड़ा शास्त्र पढ़ा है। तुम्हें ईश्वर का पता है कुछ? नहीं। कहा कि ये दुनिया वाले जो ताली मारते हैं, तेरा व्याख्यान सुन करके, इनसे तेरा कल्याण होगा? इनसे तेरा कुछ नहीं बनने वाला है। इनसे तेरी वाह-वाह हो जाएगी। तेरी कीर्ति हो जाएगी। ये सौ पचास आदमी तेरे पीछे घूम लेंगे लेकिन परिणाम तो तुम्हें भोगना पड़ेगा या ये भोग लेंगे तुम्हारे हिस्से का। स्वामी सत्यानन्द को इतना भान ही नहीं था कि ऐसा भी कोई उनके सामने खड़ा होकर के बोल सकता है। उन्होंने कहा कि पहले तुम ईश्वर को समझो। जब तक तुम्हें ईश्वर की अनुभूति न हो तब तक ये ग्रन्थ पढ़ कर तुम ईश्वर की व्याख्या न देना। वे इतना कह करके चुप हो गए और चल दिए।

अब सत्यानन्द के दिमाग में यह बात आ गई कि सही में हमने सारे वेद शास्त्र तो पढ़े लेकिन भगवान् के विषय में हमें सही में पता नहीं है। आए, जहाँ सारे ठहरे हुए थे, आकर के सो गए। नींद नहीं आई। आधी रात को उठे और उठ करके उस भक्त के घर गए, दरवाजा खटखटाया। भक्त अपने भजन में मग्न थे। बाहर निकल कर देखा-कौन? 'भिक्षुक' बाहर खड़े सत्यानन्द ने कहा। क्या बात है? भगवन्! हमें रास्ता बताइए। सही में हमने वेद-शास्त्र पढ़े लेकिन हमें कुछ पता नहीं है कि ईश्वर क्या है। उन्होंने कहा रास्ता ऐसे नहीं बताया जाता। हम गृहस्थ हैं, तुम संन्यासी हो, तुम्हें हम क्या रास्ता बताएँ? किसी सद्गुरु की तलाश करो, वह आपको रास्ता बताएगा। कहा कि नहीं हमको तो आपसे ही रास्ता जानना है। उन्होंने कहा कि यह कैसे हो सकता है, मैं गृहस्थ हूँ, तुम संन्यासी हो। स्वामी सत्यानन्द ने कहा कि भिक्षा तो आप दे सकते हो? हाँ, भिक्षा तो दे सकता हूँ। दूसरे दिन उसके यहाँ सबेरे भिक्षा लेने गए तो उन सन्त ने 'रा' और 'म' दो अक्षर लिख करके उनकी झोली में डाल दिया। उन्होंने देखा तो कहा कि गुरुदेव

इसको खाएँ कैसे? इसका साधन बताइए। उन्होंने कहा कि साधन बताएँगे। उन सन्त ने उन्हें साधन बताया राम-नाम के अनुसंधान का। उन्होंने सब व्याख्यान छोड़ दिया और साधना में लग गए। दो वर्ष तक उस राम नाम का उन्होंने अनुसंधान किया। बाद में उस सन्त ने कहा कि तुम किसी पहाड़ पर चले जाओ क्योंकि आखिरी साधना ३००० फुट से ऊपर में ही जाकर की जाती है; यह इसका नियम है। वे जाकर शिमला में रहे, वहाँ पर उन्होंने राम तत्त्व की अनुभूति की और अनुभूति के पश्चात् जब वे आए तो उन्होंने सब छोड़ दिया। आर्यसमाज को नमस्कार किया और वही 'रा' और 'म' जो उनके गुरु ने दिया था, उसी की उपासना में लग गए। बाद में सारी जिन्दगी उसी के प्रचार में लगाया। वे आर्यसमाज के प्रैसिडैन्ट थे इसलिए आर्यसमाज वाले सब इकट्ठा हो गए। उन्होंने कहा कि यह क्या कर रहे हो तुम? स्वामी सत्यानन्द ने कहा कि जो कुछ करना है, वही कर रहा हूँ। अरे कहा कि तुम आर्यसमाज को छोड़ करके राम नाम का प्रचार करने लगे? लुधियाना के बगल में बुद्ढा नाला बहता था। उन्होंने कहा कि जिसको गंगाजल पीने को मिल जाए वह इस बुद्ढे नाले का पानी क्यों पीयेगा? उन्होंने यह कह करके उत्तर दिया और आजीवन राम-नाम का ही प्रचार किया। उनकी संस्था उनका जो सम्प्रदाय चला उसको लोग 'राम शरणम्' के नाम से जानते हैं।

मैं आपको यह बता रहा था कि एक सैकेण्ड में सत्यानन्द का जीवन बदल गया। इसी रूप से दामोदर पाद सातवालेकर आर्यसमाज के हैड थे और गुरुकुल के आचार्य थे। आर्यसमाज ने पाँच विद्वानों की कमेटी बनाई यह खोज करने के लिए कि स्वामी दयानन्द ने वेद पर जो भाष्य किया है, वह कहाँ तक उचित है और कहाँ तक अनुचित है। उन पाँचों विद्वानों के ये प्रैसिडैन्ट थे। इन्होंने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि यह वेद भाष्य सर्वथा गलत और सर्वथा असंगत है परन्तु आर्यसमाजी कब मानने वाले थे। उनके लिए तो एक प्रकार से स्वामी दयानन्द परमात्मा है। कमेटी ने कहा कि यह रिपोर्ट वापिस लो, परन्तु उन्होंने कहा कि हम रिपोर्ट वापिस नहीं लेते बल्कि त्याग पत्र देते हैं। त्याग पत्र देकर उन्होने एक संस्था बनाई जिसके माध्यम से उन्होंने वेद का अर्थ करके फिर उसका प्रचार किया। बहुत बड़ा काम किया सातवालेकर ने। उन्होंने चारों वेदों पर, उपनिषदों पर, महाभारत और रामायण पर भाष्य किया। गीता के ऊपर इतना बड़ा भाष्य लिखा है कि अभी तक उनके भाष्य के बराबर कोई भाष्य प्रकाश में नहीं आया। वेद मन्त्रों से प्रमाणित किया है कि कृष्ण कैसे परमात्मा हैं, विराट् रूप क्या है।

आर्यसमाज के लोग जो खण्डन करते हैं, एक-एक का उन्होंने वेदमन्त्र के द्वारा विश्लेषण किया है। उन्होंने कहा कि इसमें वेद के सिद्धान्त के सिवाय कुछ भी नहीं है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि जो विद्वान् है, जो तत्त्वज्ञ है, जिन्होंने साधना की है, उनको वाद-विवाद से कोई लाभ नहीं होता। लाभ किसमें है? साधना में। स्वयं साधना करो। जिस साधना को तुमने स्वयं नहीं किया, उस साधना के विषय में तुम दूसरे को क्या कह सकते हो? कैसे कह सकते हो? करने के पश्चात् ही तुम कह सकते हो कि इसको करने से क्या होता है। भक्ति मार्ग में एक बात समझाई गई है कि तुम्हें वाद-विवाद करने की कोई जरूरत नहीं, तुम क्रिया करो, साधना करो, उससे तुम्हें सत्य की अनुभूति होगी। वाद-विवाद में क्यों नहीं पड़ना चाहिए, इसके लिए कहा—

**बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च॥**

—ना०भ०सू० ७५

दो बातें होती हैं वाद-विवाद में पड़ने से। एक तो समय की कोई सीमा नहीं रहती और 'अनियतत्वाच्च' नियत परिणाम भी नहीं निकलता क्योंकि दोनों अपनी बात कहते जाएँगे। वहाँ कुछ लाभ नहीं होगा। समय की हानि, शक्ति की हानि, श्रम की हानि, श्वास की हानि और इन सब के साथ अपने भाव की हानि क्योंकि यदि दूसरे ने कोई अपशब्द कह दिया तो आपने स्वीकार तो नहीं किया लेकिन चुभता तो रहता है जिससे दुःख होता है इसलिए 'वादोनावलम्ब्यः' हरेक भक्त के लिए यह संदेश है कि वाद-विवाद में मत पड़ो। जिसके साथ तुम वाद-विवाद करोगे वह तुम्हारी बात मान ही जाएगा, ऐसा नहीं। क्यों मानेगा वह? वह यदि मानने वाला होता तो वाद-विवाद क्यों करता वह? समझदार को समझाना अलग बात है लेकिन जो वाद करने पर तुल जाए उसको कौन समझा सकता है? दुनिया में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो उसको समझा दे, जो कहता है कि मैं समझ चुका हूँ। हाँ, जिज्ञासु को समझाया जा सकता है।

मैं भारत के उत्तर प्रदेश में हापुड़ मण्डी में था। वहाँ सत्संग चल रहा था। मैं उसमें कुछ ऐसे विचार दे रहा था, हमारी मान्यता थी कि बुद्धि प्रमाण ही श्रेष्ठतम प्रमाण है। उसमें सनातनी भी आते थे और आर्यसमाजी भी आते थे। दोनों बिगड़ कर खड़े हो गए कि वेद प्रमाण है या बुद्धि प्रमाण है? मैंने कहा कि बुद्धि प्रमाण है। आर्य समाजियों ने कहा कि आपने वेद की निन्दा कर दी। सनातनियों ने कहा कि बुद्धि प्रमाण कैसे होगी, यह भी वेद की निन्दा हो गई। वे दोनों आए।

उन्होंने निश्चय किया कि शास्त्रार्थ होगा। उन दिनों शास्त्रार्थ करने की प्रवृत्ति भी थी। बड़ा मजमा इकट्ठा हो गया कि बावरा जी ने चैलेंज किया है, शास्त्रार्थ होगा आज। दोनों वर्ग के पण्डित आए। इधर आर्य समाज के विद्वान् उधर सनातनियों के विद्वान् और मैं तथा मेरे साथ मेरे दो शिष्य थे योगानन्द और शास्त्री जी। किस विषय पर शास्त्रार्थ होगा? उन्होंने कहा कि इस विषय का निर्णय होगा कि बुद्धि प्रमाण है या वेद प्रमाण।

मैंने पहले सनातनियों से पूछा कि आप बुद्धि को मानते हैं या वेद को प्रमाण मानते हैं? उन्होंने कहा कि हम वेद को प्रमाण मानते हैं। मैंने उनके सामने ईशोपनिषद् का एक मन्त्र रखा। हमने कहा कि इस मन्त्र का आप अर्थ करेंगे? कहा—हाँ, करेंगे। उन्होंने उस मन्त्र का अर्थ किया। मैंने आर्यसमाजियों के विद्वान् से पूछा कि यह जो अर्थ इन्होंने किया, यह ठीक है? कहा कि न, यह बिल्कुल गलत अर्थ है। हमने कहा कि तुम अपना अर्थ करो। उसने अर्थ किया। जो सनातनी ने अर्थ किया वह तो वह था जो शंकराचार्य जी ने किया है और जो आर्यसमाजियों ने किया वह था जो दयानन्द ने अर्थ किया है। मैंने उनसे कहा कि तुम दोनों का अर्थ एक ही मन्त्र पर भिन्न-२ है। तुम दोनों की मान्यताएँ भिन्न-२ हैं। अब मन्त्र से कहो कि यह निर्णय दे कि तुम दोनों में से किसका अर्थ सही है। उन्होंने कहा कि ऐसे कैसे हो सकता है? मैंने कहा कि क्यों? निर्णय कौन देगा? कहा कि निर्णय तो कोई मध्यस्थ ही देगा। वह मध्यस्थ कैसे निर्णय देगा? मध्यस्थ अपनी बुद्धि से निर्णय देगा। तुमने अपनी बुद्धि की बात कह दी, उन्होंने अपनी बुद्धि की बात कह दी। इनकी बुद्धि आचार्य शंकर की अनुयायी है और तुम्हारी बुद्धि दयानन्द की अनुयायी है। तीसरा जो मध्यस्थ आएगा वह अपनी बुद्धि के अनुसार निर्णय देगा। यदि कहा शब्द, शब्द तो दोनों ठीक कह रहे हो। तुम भी शब्द का अर्थ कर रहे हो, ये भी शब्द का अर्थ कर रहे हैं। इसमें प्रमाण क्या हुआ? वेद मन्त्र प्रमाण है या बुद्धि प्रमाण? अब जनता सब तालियाँ बजाने लगी कि नहीं, बुद्धि ही प्रमाण है। जिसकी बुद्धि जितनी समझ पाई हैं उसके अनुसार ही उसने अर्थ किया है। तुमने अर्थ किया, इन्होंने अर्थ किया, अब एक अर्थ मैं करता हूँ इसका। मैंने उसका अर्थ बताया। हम कहा कि कोई विद्वान् इसका खण्डन करदे कि इसका गलत अर्थ है। गलत कैसे होगा? शब्द का जो अर्थ होगा, वही मैं बता रहा हूँ। शब्द तुम्हारे अर्थ को भी पुष्ट करता है, इनके अर्थ को भी पुष्ट करता है और मेरे अर्थ को भी पुष्ट करता है। मैं अपने अर्थ की पुष्टि में वेद के अनेकों उदाहरण दे सकता हूँ कि इन-२ मन्त्रों में यह कहा है।

शंकराचार्य ने अपने अर्थ की पुष्टि में पुराणों का प्रमाण दिया है और दयानन्द ने अपने अर्थ की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया। यह कहा है कि इसका यह अर्थ है। जिसको जैसी बुद्धि है उसका वैसा अर्थ निकलता है। ग्रन्थ तो वहीं पड़ा हुआ है। ग्रन्थ तो कुछ नहीं बोलने वाला। प्रमाण क्या है? अब सब चुप हो गए। मन्त्र तो व्याख्या करेगा नहीं। कोई भी विद्वान् जब मन्त्र की व्याख्या करेगा तो अपनी बुद्धि के अनुसार व्याख्या करेगा। मन्त्र प्रमाण नहीं है बुद्धि प्रमाण है उसकी अपने लिए। उसकी बुद्धि अब तुम्हारे लिए प्रमाण है कि नहीं, यह अलग बात रही। उसी मन्त्र की व्याख्या तुम अपनी बुद्धि के अनुसार करोगे और कहोगे कि यह मन्त्र की व्याख्या है लेकिन कर रहे हो अपनी समझ की व्याख्या।

मैं जो आपको नारद भक्ति सूत्र पढ़ा रहा हूँ अपनी समझ के अनुसार पढ़ा रहा हूँ। सूत्र का तो शब्दार्थ होता है। वह शब्दार्थ तो दो अक्षर में बता सकता हूँ, घण्टा भर एक सूत्र पर व्याख्यान देने की क्या जरूरत है? यह तो हमारी व्याख्या है। हमारी जगह कोई दूसरा आएगा, वह अपनी व्याख्या देगा। नारद भक्ति सूत्र के ऊपर और भी बहुत सी व्याख्याएँ हैं, उन्हें पढ़िए आप। मेरी व्याख्या भी सुनें, मेल नहीं खाएगी एक-दूसरे से। वो कुछ और बता रहें हैं, हम कुछ और बता रहे हैं। ग्रन्थ वही है। ग्रन्थ तो मीडिया होता है, दिशा दर्शक होता है तथा इन्डिकेटर होता है। उसकी व्याख्या करने वाला अपनी बुद्धि अनुसार और अपनी अनुभूति अनुसार व्याख्या करता है इसलिए विवाद में पड़ने का कोई लाभ नहीं होता। विवाद में एक तो समय नष्ट होता है और दूसरा निर्णय नहीं होता इसलिए नारद जी ने कहा कि वाद में कभी नहीं पड़ना चाहिए।

**बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च॥**

*—ना०भ०सू० ७५*

'अनियतत्वाच्च' माने इसमें कोई नियत सिद्धान्त नहीं होता क्योंकि सब अपनी-२ बात कहते हैं इसलिए वाद में नहीं पड़ना चाहिए।

**भक्ति शास्त्राणि मननीयानी तदुद्बोधककर्माण्यपि च करणीयानि॥**

*—ना०भ०सू० ७६*

तीसरा उन्होंने कहा है कि जो भक्त हैं उनको चाहिए कि वे केवल भक्ति शास्त्र का ही अध्ययन करें। दुनिया में अनेक प्रकार के शास्त्र हैं, सारे शास्त्र तुम्हारे लिए नहीं हैं। एक सज्जन को मैं समझा रहा था कि यदि तुम्हें नदी पार जाना हो तो नदी के किनारे जब जाओगे वहाँ पचासों नावें खड़ी मिलेंगी। प्रत्येक नाव उस पार ले जाएगी लेकिन तुम पचासों नावों पर तो नहीं बैठ सकते, तुम्हारे

लिए तो उनमें से कोई एक नाव होगी जो उस पार ले जाएगी। इसी प्रकार से दुनिया में अनेकों रास्ते हैं लेकिन तुम्हारे लिए एक है। तुम सारे रास्तों से नहीं जा सकते। उसमें से कोई एक रास्ता अपना लो। यदि तुम्हें सबसे सरल रास्ता चाहिए जिसमें बहुत योग्यता की आवश्यकता नहीं केवल भाव की प्रधानता है तो भक्ति है। नारद जी कह रहे हैं कि भक्त को चाहिए जो भक्ति सम्बन्धी शास्त्र हैं उन्हीं का मनन करे, उन्हीं का श्रवण करे और उनके विरोधी जो शास्त्र हों उनको कभी न पढ़े। यदि पढ़ेगा तो कच्ची बुद्धि होती है, लुढ़क जाता है बेचारा। आजकल आप देखोगे कि लोग बहुत सी किताबें पढ़ते-२ भ्रम में पड़ जाते हैं। भगवान् ने अर्जुन से भी कहा—

**श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।**
**समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥**

*—गीता २/५३*

बहुत सी बातें सुन करके तेरी बुद्धि भ्रम में पड़ गई है, यदि सभी का त्याग करके तू समाधि द्वारा अपनी बुद्धि को अचल कर लेगा तब तू योगी बनेगा—

**यदा ते मोह कलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।**
**तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥**

*—गीता अ० २/५२*

जब तुम्हारी बुद्धि मोह रूपी दलदल को पार कर लेगी तो जो तुमने सुना है और जो सुनना चाहता है, उससे निर्वेद हो जाएगा, तुम्हें इच्छा ही नहीं रहेगी सुनने की। बहुत सी बातें सुनने से बहुत सी किताबें पढ़ने से अकल नहीं आती। जिस रास्ते पर चलना है, उससे सम्बन्धित शास्त्र का पहले अध्ययन करो। जब तुम अपने मार्ग में अनुभव कर लो फिर उसके बाद में सारी पुस्तकें पढ़ लो, फिर विचलित नहीं हो सकते क्योंकि तुम्हें अनुभव हो गया है कि यह सही रास्ता है। इसके पश्चात् दूसरे को जानने के लिए, उसको समझने के लिए उसने क्या लिखा है, वह भी पढ़ो। जब तक तुम अपने मार्ग में सही रास्ते पर नहीं चले, दृढ़ नहीं हुए, अभी कच्चे हो, तब यदि तूने भक्ति की बात भी पढ़ी, कर्म की भी पढ़ी, योग की भी पढ़ी, स्वर्ग की भी पढ़ी, नरक की भी पढ़ी तो एक जगह टिक नहीं सकोगे। जहाँ पढ़ोगे वहीं लटकते चले जाओगे। धक्के खाते रहोगे और जिन्दगी बर्बाद हो जाएगी। तुलसीदास जी ने लिखा है—

**डासत ही गइ बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ! नींद भरि सोयो॥**

*—वि०प० २४५/४*

बिस्तर लगाते–२ ही रात्रि बीत गई लेकिन नींद भर सोने को नहीं मिला, यही गति होती है। इसलिए—

**भक्तिशास्त्राणि मननीयानी तदुद्‌बोधककर्माण्यपि च करणीयानि॥**

—ना० भ० सू० ७६

भक्ति शास्त्र का ही मनन करना चाहिए और जो भक्ति के उद्‌बोधक कर्म हैं, उन्हीं कर्मों को करना चाहिए। दुनिया के सारे कर्म तुम्हारे जिम्मे नहीं हैं। जो भक्ति में सहयोगी कर्म हैं, भगवान् की प्रियता में जो सहायक कर्म हैं, भगवान् के प्रेम की वृद्धि में जो सहायक कर्म हैं उन्हीं कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। उससे अतिरिक्त कर्मों में तुम्हारी रुचि नहीं होनी चाहिए।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## २२

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! देवर्षि नारद प्रणीत भक्ति दर्शन में वर्णित आप लोगों को अब तक ७५ सूत्रों की व्याख्या सुना चुके हैं। इन सूत्रों में देवर्षि नारद ने भक्ति का स्वरूप, उसका प्रयोजन, उसका आश्रय, उसका लक्ष्य और उसकी विधि का विवेचन किया है और कुछ इन्सट्रक्शनस हैं भक्त के लिए, वो समझा रहे हैं। सबसे पहले उन्होंने बताया—

**वादो नावलम्ब्यः॥** —*ना०भ०सू० ७४*

भक्त को विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। क्यों नहीं पड़ना चाहिए? इसके लिए आगे समझा रहे हैं—

**बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च॥** —*ना०भ०सू० ७५*

वाद-विवाद में एक तो समय बहुत बर्बाद हो जाता है और दूसरा कोई सही रिज़ल्ट भी नहीं निकलता। आगे उन्होंने समझाया—

**भक्तिशास्त्राणि मननीयानी, तदुद्बोधककर्माण्यपि च करणीयानि॥**

—*ना०भ०सू० ७६*

भक्त को चाहिए कि भक्ति शास्त्रों का ही मनन, चिन्तन और श्रवण करे। भक्ति भाव जागृत करने वाली जो क्रियाएँ हैं, उनको ही उसे करना चाहिए तथा जिन क्रियाओं से भक्ति भाव जागृत नहीं होता, उन क्रियाओं को छोड़ देना चाहिए। यहाँ तक कि वैदिक विधियों में भी जो भगवान् के प्रति भाव जागृत करने में उपयोगी नहीं हैं, उनका भी त्याग कर देना चाहिए इसलिए उन्होंने कहा है— 'वेदानपि संन्यस्यति।' वेद का भी त्याग कर देता है। भक्त की स्थिति का वर्णन

करते हुए कहा—भक्ति को जागृत करने वाले कर्मों को ही करना चाहिए। वेद में भी इसी प्रकार के ही निर्देश हैं। हम एक मन्त्र पढ़ते हैं, ऋषि प्रार्थना करता है भगवान् से—

**ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।**

हे प्रभो! हम अपने कानों से कल्याणप्रद शब्दों को ही सुनें और आपकी उपासना करते हुए हम इन आँखों से कल्याणमय दृश्य ही देखें और इसके साथ—

**स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥**

*—प्रश्नोपनिषद*

हम पुष्ट अङ्गों से सदैव आपको संतुष्ट करने वाले कर्मों का ही अनुष्ठान करें, हमें उतनी ही आयु दीजिए जो आपकी सेवा में लग जाए क्योंकि—

**दिन वही दिन है रात वही रात है, जो तेरी याद में गुजर जाए।**

जो प्रभु के स्मरण में बीतता है वही सही में दिन है और वही सही में रात है। एक शे'र में मैंने कहा है—

**वो चन्द लम्हे जो बिताए याद में तेरी ।**
**फकत वो जिंदगी के हैं बाकी कयामत के ॥**

उतने क्षण जो तेरी याद में बीते हैं, उन्हीं की गणना है। वे ही जिन्दगी के क्षण हैं बाकि सब मृत्यु के हैं। काम भी वही करे जिससे भगवान् को भक्ति का उद्बोधन हो। अपने जीवन का प्रतिपल निरीक्षण करता रहे व्यक्ति। किन कामों से भगवद्-भाव की जागृति हो रही है और किन कामों से हम भगवत् भाव से विमुख हो रहे हैं, इसको यदि देखता रहे तो मनुष्य कभी गलत मार्ग पर नहीं जा सकता। यह निरीक्षण आप स्वयं कर सकते हैं। शास्त्र ने केवल इतना निर्देश दे दिया है—

**तदुद्द्बोधककर्माण्यपि च करणीयानि॥**

भक्ति को जागृत करने वाले कर्मों का अनुष्ठान करते रहना चाहिए। आप देख सकते हैं कि कौन से कर्म अपने में भक्ति का जागरण कर रहे हैं। यह कोई कानून नहीं कि इसी प्रकार के कर्म भक्ति का जागरण करेंगे जैसे कहा गया कि भगवद् कीर्तन करो, इससे भक्ति जागृत होगी। भगवद् कीर्तन आप भक्ति को जागृत करने के लिए भी कर सकते हैं, दुनिया को तमाशा दिखाने के लिए भी कर सकते हैं और नाटक करने के लिए भी कर सकते हैं। आप स्वयं के प्रति ईमानदार होकर देखें और जो कर्म आप में भगवान् के प्रति आस्था, श्रद्धा और भक्ति का उदय करें और जो कर्म भगवद् प्रेम में बाधक हों, उन कर्मों का त्याग कर दें। भारतीय दर्शन मनुष्य को यह समझाता है कि सारा विश्व भगवत् स्वरूप है। इसमें कोई भी ऐसा

अङ्ग नहीं है, जो भगवान् से रहित हो। भारत में एक महापुरुष हुए हैं, उनका नाम था मधुसूदन सरस्वती। आज से कुछ सौ वर्ष पूर्व उन्होंने लिखा है—

**जगदेव हरि हरिरेव जगत जगतो हरितो नहिं भिन्न तनु।**
**इति अस्य मति परमार्थ गति स नरो भवसागरमुत्तरति॥**

यह जगत् हरि का स्वरूप है और हरि स्वयं जगत् रूप में प्रकट हुए हैं। हरि और जगत् में किंचित मात्र भी भेद नहीं है, ऐसी जिनकी मति है, वे ही परमार्थ के रास्ते पर चल रहे हैं। वही व्यक्ति अंत में परमात्मा को प्राप्त करेगा। वही संसार सागर से पार होगा। उसके लिए कुछ भी त्याज्य नहीं होगा। उसके लिए सब कुछ पूज्य होगा। उस समय आपकी कोई भी क्रिया ऐसी नहीं होगी जो भगवद्भाव को जागृत न करे। खैर, यह तो सिद्धावस्था की बात है जब आप कण-२ में भगवान् को अनुभव कर रहे हैं। इससे पूर्व भी यदि आपके अन्तःकरण में भगवद् भाव की प्रतिष्ठा है तो आपको क्या करना चाहिए, यह बात अर्जुन ने भगवान् से पूछी थी—

**केषु-केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥**

*—गीता १०/१७*

"हे भगवन्! अभी मेरी ऐसी स्थिति नहीं है कि मैं कण-२ में आपको देखूँ इसलिए मैं आपका किन-२ भावों से ध्यान करूँ?" भगवान् ने कहा कि तू जड़ में तो मुझे देख नहीं सकता, चेतन में ही देख सकता है। जितना चेतन है चींटी से लेकर इन्द्र तक, यह सब मेरा स्वरूप है—

**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।**

*—गीता १०/२०*

"समस्त प्राणियों की देह में स्थित जो आत्मा है, वह मैं हूँ, ऐसा तू देख।" यदि ऐसा नहीं देखा जाता फिर? भगवान् ने कहा फिर तू मेरी विभूतियों को देख। जहाँ कुछ विशिष्ट है, उसको तू मेरा स्वरूप जान। भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है। यह विभूतियों का वर्णन केवल गीता में ही है, ऐसी बात नहीं है वेदों में भी ऋषि भगवान् की विभूतियों का वर्णन कर रहे हैं। जो कुछ दुनिया में विशिष्ट है, वह भगवान् की विभूति है। अब उनके उस भाव से जब चिन्तन करोगे तो भगवद् प्रेम का आविर्भाव होगा। उसी भाव से जब तुम कर्म करोगे तो वे कर्म तुम्हारे भगवद् प्रेम की जागृति में कारण बन जाएँगे। साधक की अवस्था अलग है, सिद्ध की अवस्था अलग है। साधक की अवस्था में सर्वरूप में भगवान् को अनुभव करना मुश्किल है, यह तो सिद्धावस्था की बात है। सारे तो सिद्ध नहीं बन जाते। भगवान् ने कहा है—

**मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।**

जो धर्मात्मा मनुष्य हैं, उनमें हज़ारों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है।

**यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥**

*—गीता ७/३*

उन यत्न करने वाले सिद्धों में कोई तत्त्वतः मुझे जान पाता है। जिसने ऐसा अनुभव कर लिया है—

**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥**

*—गीता ७/१९*

कण-२ में भगवान् हैं 'स महात्मा सुदुर्लभः', भगवान् स्वयं कहते हैं कि ऐसा महात्मा संसार में दुर्लभ नहीं, सुदुर्लभ है। जब भगवान् की दृष्टि में भी ऐसा महात्मा बड़ा दुर्लभ है तो अपन कैसे कह सकते हैं कि सब ऐसे हो जाएँगे। यदि सर्वरूपों में भगवान् को नहीं देख सकते तो विशिष्ट रूपों में भगवान् की अनुभूति करो। यहीं से शुरू करने के लिए ही बताया गया है—

**तदुद्बोधक कर्माण्यपि च करणीयानि ॥**

भगवद् उद्बोधक कर्मों को करो। इन कर्मों को करने से तुम व्यर्थ के कर्मो से बच जाओगे। चित्त भगवद् भाव से उद्भूत रहेगा क्योंकि जो कुछ करोगे वह भगवद् भाव से करोगे। जैसे एक नारी ब्याह करके पति गृह में जाती है, वहाँ वह जो कुछ करती है, वह पति की भावना से ही करती है। घर में जब जाती है तो सबकी सेवा करती है। सास, ससुर, ननद, देवर, जेठ तथा अन्य रिश्तेदारों की सेवा करती है। ससुराल के पशुओं की सम्भाल करती है, पक्षियों की देखभाल करती है तथा खेती की सम्भाल करती है लेकिन यह सब किसके नाते कर रही है? पति के नाते कर रही है। पति का उसका कैसा सम्बन्ध है? स्वीकृत सम्बन्ध है, सहज नहीं।

हमारे आपके जीवन के दो प्रकार के सम्बन्ध हैं-एक सहज सम्बन्ध है और दूसरा स्वीकृत सम्बन्ध। स्वीकृत सम्बन्ध माने स्वीकार किया हुआ सम्बन्ध जैसे मित्र और पत्नी। सहज सम्बन्ध माने जो जन्म के साथ पैदा हुआ हो जैसे भाई-बहन, भाई-भाई का, माता-पिता का सम्बन्ध। स्वीकृत सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि सहज सम्बन्ध से भी आगे बढ़ जाता है। आगे कैसे बढ़ता है यह देखिए आप। आपकी बहन है और आपकी पत्नी है। बहन की जब तक शादी नहीं होती तब तक घर की सारी चीज़ों को मेरी-२ कहती रहती है। जहाँ उसकी शादी हो गई और शादी के बाद जहाँ ससुराल गई, अब जब आएगी तो सारे घर

की चीज़ों को मेरी नहीं कहेगी। उसको पता है कि यह मेरी नहीं हैं। आपकी पत्नी जो आएगी, वह मेरी कहेगी क्योंकि उसका वह अधिकार हो गया। सहज सम्बन्ध में भी अपनापन नहीं रहा लेकिन स्वीकृत सम्बन्ध सत्त्वाधिकार में बदल गया। एक बात और समझ लो कि जितना निर्माण है, वह सब स्वीकृत सम्बन्ध में चलता है। जितनी रक्षा है, वह सहज सम्बन्ध में चलती रहती है। आपकी रक्षा और शक्ति की वृद्धि माँ ने, बहिन ने, पिता ने और भाई ने की है। नारी का सम्बन्ध आपकी शक्ति के क्षरण में है। यदि आप शक्ति का नाश करने के लिए तैयार नहीं हैं तो आप नारी को अपना नहीं बना सकते, यही सृष्टि का विकास है क्योंकि—

**भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥**

*—गीता ८/३*

जो प्राणियों के अव्यक्त भाव को व्यक्त करता है, उस विसर्ग को कर्म कहते हैं। वहाँ से कर्म का क्षेत्र प्रारम्भ होता है और वहीं से निर्माण का क्षेत्र प्रारम्भ हो जाता है, यह इसमें दृष्टि है।

वैदिक दृष्टि है समर्पण की और बौद्ध सम्प्रदाय की दृष्टि है विनाश की। वैदिक दृष्टि इसे समर्पण स्वीकार करती है, यज्ञ मानती है और उसका कहना है कि बिना समर्पण के निर्माण नहीं होता, बिना समर्पण के नवीनता का सृजन नहीं होता। शक्ति का समर्पण करके ही आप सृजन करते हैं अन्यथा नहीं कर पाते। दूसरी तरफ निवृत्ति मार्गी ये कहते हैं कि जहाँ से स्वीकृत सम्बन्ध स्वीकार किया है वहीं से तुम अपने आप को नष्ट करने के लिए आगे बढ़े हो। स्वाभाविक है कि बीज जब तक धूल में न मिल जाए, अपने अस्तित्व को खोने के लिए तैयार न हो जाए तब तक उसमें से अकुंर नहीं निकलेगा और वह वृक्ष रूप में परिणत नहीं होगा। जब वृक्ष रूप में परिणत हो गया तब बीज का पता लगावे, कहीं मिलेगा वह? वृक्ष क्या है? वही बीज। बीज ही वृक्ष रूप में परिणत हुआ है, यह सत्कार्यवाद का सिद्धान्त है।

उपनिषद् में एक बड़ी सुन्दर व्यवस्था दी गई है। कहा कि मनुष्य मरना नहीं चाहता। वह अमर होना चाहता है। शरीर को तो अमर रूप में रख नहीं सकता क्योंकि शरीर नाशवान् है फिर शरीर के सत्त्व को निकालता है। शरीर का सत्त्व क्या है? वीर्य। शरीर के सत्त्व को निकाल करके नारी के माध्यम से स्वयं को पुनः वह पैदा करता है। किस रूप में? पुत्र के रूप में, पुत्री के रूप में। यह वही पैदा हुआ है, वही आगे पैदा होगा। इस प्रकार वह अपने आप को नित्य बनाए रखता है। ऋषि कहता है कि नित्यता की अनुभूति तुम अपने इसी जीवन

में कर सकते हो। तुम्हारे इसी शरीर से सत्त्व निकल कर तुम्हारे इसी जीवन में पुत्र रूप में तुम्हारे सामने है। आगे भी इसी प्रकार परम्परा चलती रहेगी। तुम्हारे जीवन का सत्त्व चलता रहेगा। तुम भी अपने पूर्वजों का सत्त्व हो। हमारे यहाँ उपनिषदों में समझाया गया कि जीवन की नित्यता इसी प्रकार से प्रवाहित होकर आ रही है, इसलिए हमारे यहाँ—

**आत्मा वै जायते पुत्रः।**

आत्मा ही पुत्र रूप में प्रकट होता है, ऐसे सिद्धान्त की प्रस्थापना की गई है। महाभारत में शकुन्तला और दुष्यन्त के चरित्र के सम्बन्ध में कहानी है। जब शकुन्तला को दुष्यन्त अस्वीकार कर देता है कि मैं तुम्हें नहीं पहचानता तो उस समय शकुन्तला उसे फटकारती हुई कहती है कि तुम्हें पता नहीं है, तुम मुझे न पहचानो लेकिन अपनी आत्मा को तो पहचानो। पुरुष जब अपनी आत्मा को साकार रूप में देखना चाहता है तो किसी न किसी नारी के माध्यम से, किसी नारी में अपने को खोता है, समर्पित करता है, स्थापित करता है और समर्पण के पश्चात् पुनः वही आत्मा पुत्र रूप में प्रकट हुआ करती है इसलिए पुत्र उसकी आत्मा हुआ करती है। शकुन्तला कहती है कि यदि तुम अपनी आत्मा को नहीं पहचानते तो तुम्हारे जैसा कृतघ्न दुनिया में और कौन होगा?

कहने का अभिप्राय कि यह जो जीवन का नित्य प्रवाह है, इस प्रकार से यदि आप अनुभव करोगे तो आपको पता चलेगा कि सही में सर्वरूप में जो कुछ है, वह नित्य सत्ता सर्वरूप में प्रवाहित हो रही है। इस प्रवाह को देखते हुए यदि मनन करेंगे, चिन्तन करेंगे तो आपको लगेगा कि एक भगवत्-सेवा के सिवा कोई कार्य हो ही नहीं रहा। एक नित्य की उपासना के सिवा कोई कार्य नहीं हो रहा। इस प्रकार की जब भावना जागृत हो तब इसके लिए गहन चिन्तन की जरूरत होती है। भगवत् भाव में जो उपयोगी हो उन्हीं कार्यों को करने की प्रवृत्ति यहाँ बताई गई है।

दूसरा दृष्टिकोण है मनुष्य के ह्रास का, वह कहता है कि जो तुम्हारी जीवनी शक्ति प्रवाहित होकर क्षरण को प्राप्त हो रही है या नारी के माध्यम से सन्तान रूप में प्रकट हो गई है, आगे हो सकता है, उस आत्मा का हनन हो जाए तो तुम उसी सत्ता को ऐसिमीलेट करके उस शक्ति को खींच करके ब्रह्मचक्र में ले आओ। वहाँ प्रतिष्ठित करके तुम परमात्मा का दर्शन करो। वहीं मोक्ष पा जाओगे। तुम इतने चक्कर में क्यों पड़ते हो। यह दूसरा रास्ता है।

भक्ति मार्ग में बताया गया है कि सब भगवद् स्वरूप हैं—भगवद् भाव से युक्त होकर जो कुछ कर्म करोगे उससे भक्ति का जागरण होगा। जो कर्म भगवद् भाव से रहित होकर किए जाते हैं उससे तो संसार का उदय होता है। संसार का जागरण न होकर भगवद् भाव का जागरण हो, उसके लिए भाव ही बदलना है। संसार की भावना हटाकर भगवान् की भावना को प्रतिष्ठित करना है। भगवान् की अनुभूति में भाव ही मूल कारण है, ऐसा भक्तों ने बताया है। यहाँ बताया गया कि भगवद् भाव को उद्बोधन करने वाले कर्मों का अनुष्ठान करने से तुम्हें भक्ति की उपलब्धि हो जाएगी और नित्य प्रेम की प्राप्ति हो जाएगी। आगे के सूत्र में कहते हैं—

**सुखःदुखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम्॥**

—ना०भ०सू० ७७

यहाँ 'सुखःदुखेच्छालाभ' जो कह दिया, वे सारे द्वन्द्वों के प्रतीक हैं। सुख-दुःखेच्छालाभ आदि जो द्वन्द्व हैं 'त्यक्ते' माने इन सभी का त्याग करके, 'काले प्रतीक्ष्यमाणे' यह सोचते हुए कि पता नहीं कब मौत आ जाए—

**सिभरन करिए राम को काल गहै हैं केस।**
**न जाने कब मारिहैं क्या घर क्या परदेस॥**

कौन जानता है कब मारदे, कुछ पता नहीं इसलिए 'काले प्रतीक्ष्यमाणे' काल की प्रतीक्षा करते हुए 'क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम्' आधा क्षण भी व्यर्थ में मत बिताओ, उसका सदुपयोग करो। 'व्यर्थं न नेयम्' माने भगवान् की भावना से रहित होकर आधा क्षण भी मत बिताओ—

**क्षणभंगुर जीवन की कलिका कल प्रात को जाने खिलीं न खिलीं।**
**मलयाचल की शुचि सीतल मंद सुगन्ध समीर मिली न मिली॥**
**कलि काल कुठार लिए फिरता तन नम्र से चोट झिली न झिली।**
**जपले हरि नाम अरे रसना फिर अन्त समय में हिली न हिली॥**
**रसने रस राम के नाम का ले, फिर यह तन तेरा हुआ न हुआ।**
**छुटके मिलेंगे इस जीवन में, फिर प्रेम का घेरा हुआ न हुआ॥**
**हवा श्वास है श्वास का आसरा क्या, फिर श्वास का फेरा हुआ न हुआ।**
**अभी रैन असीम बनी अपनी, कल जाने सवेरा हुआ न हुआ॥**

कौन जानता है कि कल सवेरा हो ही जाएगा? है किसी को पता? एक कवि ने बड़ी सुन्दर कविता लिखी है और उसी का एक हिन्दी के कवि ने अनुवाद किया

तो उसने एक रूपक बताया और कहा कि एक भंवरा उठा। तालाब में कमल खिला हुआ था। कमल के सौन्दर्य को देख कर उड़ करके गया और उस पर बैठ गया। उसके रस का पान कर रहा था और मधु इकट्ठा कर रहा था। इतने में सायंकाल हो गया। भंवरा कमल के पत्ते में बन्द हो गया। यदि वह चाहता तो कमल की पंखुड़ियों को तोड़कर बाहर निकल सकता था क्योंकि भंवरा तो लकड़ी को छेद देता है लेकिन वह निकला नहीं। वो कोमल पंखुड़ियों को तोड़ना नहीं चाहता। वह सोचने लगा कि रात भर मैं इसमें रह गया हूँ, थोड़ा और रस इकट्ठा कर लूँ। उसकी कल्पना करते हुए कवि लिखता है—

**पकंज कोष में छिपयो करत्यो अपने मन की मनसूबा।**
**होइहैं प्रभात उगेंगे दिवाकर ले मकरन्द चलऊँ घर खूबा॥**

वह सोचता है कि कल प्रातः होगी, सूर्य उदय होगा, रात भर में जितना मधु इकट्ठा करेंगे, सब लेकर चलेंगे यानी बहुत दिनों तक मधु का पान करेंगे लेकिन कवि कहता है कि—

**बेनी सो बीचहिं आई बनयो नहीं जानत काल को ख्याल अजूबा।**
**नलिनी मृगराज ने खाई लियो रहिगो मन को मन ही मनसूबा॥**

इतने में उस तालाब में हाथी आया, उसने सूंड लपेटी, उसमें ज़ितने कमल आए उनको उठा कर अपने मुंह में डाला और भंवरा उस कमल की पंखुड़ियों में बंधा बंधाया हाथी के पेट में चला गया। वह कहता है कि उसका मनसूबा केवल उसके मन में ही रह गया। यह केवल भंवरे की कहानी नहीं है, हम सब की यही कहानी है। रोज़ उठते हैं तो योजना बनाते हैं कि इसको यह कर लेंगे, इतना यह कर लेंगे—

**असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।**
**ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥**

*—गीता १६/१४*

इसको कर लिया है और वह बाकी रह गया है, इस शत्रु को जीत लिया है और वह शत्रु बाकी रह गया है। दो दिन की बात है, इतने में काल रूपी हाथी आता है और इन पंखुड़ियों को साथ लपेट करके अपने पेट में डाल लेता है। पता ही नहीं चलता कि कब क्या विचार रहे थे और क्या हो गया है। यहाँ पर देवर्षि नारद कहते हैं कि तुम सुख-दुःख, इच्छा-लाभ आदि का त्याग करके काल की प्रतीक्षा करते रहो, पता नहीं कब आ जाए। नारायण स्वामी ने एक जगह लिखा है—

**दो बातों को भूल मत जब लगि घट में प्राण।**
**नारायण इक मौत को दूजे श्री भगवान्॥**

यदि दोनों सामने रहें तो कभी कोई पाप नहीं हो सकता, अन्याय नहीं हो सकता। अन्याय कौन करेगा? यदि यह पता चले कि अपनी भी मौत आएगी तो क्या कोई दूसरे की मौत में कारण बनेगा? नहीं। कोई अन्याय कर सकता है? नहीं कर सकता, लेकिन हम भूल जाते हैं। वे कहते हैं—

**काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम्॥**

काल की प्रतीक्षा करते हुए एक क्षण भी व्यर्थ में मत जाने दो। उसका सावधान होकर सदुपयोग करो। आचार्य चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि यदि तुम्हें कभी पाप कर्म करना हो तो सोचो की बड़ी लम्बी आयु है, फिर कर लेंगे। आज नहीं फिर सही, आज ही कौन मुहूर्त निकला है। यदि धर्म का कार्य करना हो तो यह समझ लो कि काल अब सिर पर सवार है। जल्दी से जल्दी उसे कर लो, पता नहीं कब श्वास निकल जाए। यह तो चाणक्य ने लिखा है लेकिन अपने लोगों की थिंकिंग क्या है? बिल्कुल इसके उलट। कोई धर्म की बात होगी तो कहेंगे ''अरे, अभी कौन बूढ़े हो रहे हैं, कर लेंगे'' लेकिन यदि पाप कर्म करना होगा तो उसमें कोई विलम्ब नहीं होगा। यह तो करना ही था। क्या करें? स्वामी जी! आप नहीं जानते आप गृहस्थ तो हैं नहीं। यह जो सोचने का ढंग है यह बिल्कुल उलटा है। शास्त्र विपरीत हमारी थिंकिंग, शास्त्र विपरीत हमारे आचरण हैं, शास्त्र विपरीत हमारे विचार हैं, इसलिए हम दुःखी हैं, नहीं तो दुःख के लिए तो संसार में स्थान नहीं है। गम्भीरता से देखा जाए कि यदि सच्चिदानन्द ही इस जगत् का मूल कारण है तो इसमें दुःख कहाँ से आ गया? दुःख के लिए स्थान ही नहीं है। दुःख तो हमारी अज्ञानता में है। संसार दुःख रूप नहीं है।

एक बात शायद मैं पहले भी आप लोगों को कहा हूँ। भारत के जीवन विधान में दो प्रकार की धारणाएँ हमें पुराने काल में मिलती हैं। एक दृष्टि में संसार दुःख रूप और दूसरी दृष्टि में संसार आनन्द स्वरूप है। यह आनन्द स्वरूप धारणा वैदिक धारणा है—जगत् आनन्द का स्रोत है, आनन्द से ही उत्पन्न हुआ है, आनन्द में ही प्रतिष्ठित है, आनन्द में ही विलीन होता है। संसार दुःखमय ही बना रहता है और दुःख में ही इसका लय होता है, यह अवैदिक विचारधारा है। ये वैदिक और अवैदिक दोनों ही विचारधाराएँ बहुत पुरानी हैं। कुछ लोग कहते हैं कि ये दुःख से प्रारम्भ हुईं लेकिन मैं ऐसा नहीं मानता। बुद्ध से पहले भी इस प्रकार की विचारधाराएँ थीं। अवैदिक विचारधारा बुद्ध से ही प्रारम्भ हुई है, ऐसी

बात नहीं। बुद्ध ने ही संसार को दुःख रूप नहीं कहा, बुद्ध से पहले भी संसार को दुःख रूप में देखने वाले लोग थे। वैदिक विचाराधारा में दो प्रकार की विचारधाराएँ हैं—

**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति।**
**आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।**

*—तैत्तिरीय० ३/६*

ये वेद के मन्त्र हैं। इसका अर्थ है कि यह सारी सृष्टि आनन्द से पैदा होती है, आनन्द में ही रहती है तथा अन्त में आनन्द में ही लीन हो जाती है इसलिए आनन्द ही ब्रह्म है। उस आनन्द ब्रह्म को जो जान जाता है, वह सदा के लिए निर्भय हो जाता है। जो यह मानेगा कि जगत् आनन्द से पैदा हुआ है, आनन्दमय है, वह जगत् में जीने की चाह करेगा। वह जीवन को देखेगा, मृत्यु को नहीं देखेगा। मृत्यु आती है कि नहीं आती, इससे उसका कोई मतलब नहीं। मृत्यु को एक परिवर्तन का क्रम मानेगा जैसे भगवान् गीता में बताते हैं—

**देहिऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।**
**तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥**

*—गीता २/१३*

जैसे कुमार, यौवन जरा अवस्था है, वैसे देहान्तर प्राप्ति है, कौन वहाँ पर हम अन्त होते हैं। मृत्यु आ गई तो क्या हो गया? यह शरीर गया तो हम दूसरा शरीर ले लिए। यह तो व्हीकल बदलना है। वैदिक विज्ञान ने मृत्यु को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया क्योंकि उसमें जीवन की नित्यता की सीख है। अवैदिक सिद्धान्त में मृत्यु को बहुत महत्त्व दिया गया है—'अरे तुम जाओगे। क्यों दुनिया भर के प्रपञ्च इकट्ठा कर रहे हो?' ये दोनों अलग-२ दृष्टिकोण हैं। वैदिक विज्ञान में केवल यह बताया गया है कि मृत्यु के पश्चात् जिस पर तुम्हारा सत्त्व है, उस पर नहीं रहेगा। तुम नहीं रहोगे, ऐसा नहीं कहा इसलिए तुम जीवन में रस का अनुभव तो करो, आसक्ति न करो—

**मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ।**

गीध मत बनो, सोचो, यह धन किसका है? इस पर सत्त्वाधिकार मत करो प्रयोगाधिकार करो। प्रयोगाधिकार में कोई बन्धन नहीं है। बन्धन कहाँ है? सत्त्वाधिकार में। सत्त्वाधिकार की बजाए प्रयोगाधिकार श्रेष्ठ है। इसी रूप से यहाँ पर बताया गया है—

**काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपिं व्यर्थं न नेयम्॥**

—ना०भ०सू० ७७

काल की प्रतीक्षा करो। काल आ रहा है तो आने दो, तैयार रहो उसके लिए लेकिन एक क्षण भी व्यर्थ में न जाए। यह नहीं कि जब मरना ही है तो करना क्या। प्रत्येक क्षण भगवान् के भजन में लगा रहना चाहिए। क्षण का दुरुपयोग मत करो। दुःख जो एक महीना बाद में आने वाला है तो अभी एक महीना व्यर्थ क्यों करो। आने वाले दुःख की चिन्ता में वर्तमान के सुख का क्यों नाश करते हो तुम? मृत्यु आएगी, तो आने दो, अभी तो नहीं आई। मृत्यु आएगी इसलिए आज से ही सब करना छोड़ दो? अरे, क्या करना, मर तो जाना ही है–यह आलस्य है, प्रमाद है, नपुंसकता है, जड़ता है और अज्ञानता है, दूसरे शब्दों में मूर्खता है। जब आप कोई गाड़ी खरीदते हैं तो क्या आप सोचते हैं कि दस वर्ष पश्चात् इसे खत्म ही हो जाना है तो क्या करना है चलाकर? नहीं, जब तक है खूब चलाओ इसे, एक दिन तो खत्म हो ही जानी है। अरे, नहीं चलाओगे तब भी तो इंजन खराब होगा इसलिए जब तक है खूब चलाओ। इसी बात को यहाँ कहते हैं—काल की प्रतीक्षा करते हुए एक क्षण भी व्यर्थ में मत खोओ। प्रत्येक क्षण का सावधानी के साथ सदुपयोग करते रहो। आगे साधक के लिए कुछ और नियम बताते हुए नारद जी कहते हैं—

**अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि॥**

—ना०भ०सू० ७८

अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि आचरणीय सदाचारों का भली-भाँति पालन करना चाहिए। देश, जाति, काल, परिस्थिति किसी की कोई महत्ता नहीं है। चाहे कोई किसी देश का रहने वाला हो, किसी काल का रहने वाला हो, किसी भी परिस्थिति का रहने वाला हो सबको 'परिपालनीयानि' माने सम्पूर्ण सतर्कता के साथ इसका पालन करना चाहिए। गीता में भी भगवान् ने बताया है कि—

**अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।**
**दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीराचापलम् ॥**

—गीता १६/२

इनका सात्त्विक विचार वाले लोग पालन करते हैं। पतंजलि ने इसके लिए बताया है—

**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।**

—यो०सू० २/३०

**शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।**

—यो०सू० २/३२

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह-ये पाँच यम कहे जाते हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान-ये पाँच नियम कहे जाते हैं। पाँच यम को व्रत कहते हैं। पाँच नियमों को महाव्रत कहते हैं। इन दसों का पालन करना अनिवार्य बताया गया है। सभी महापुरुषों ने इसकी महत्ता को स्वीकार किया है इसलिए इसे सारभौम महाव्रत कहते हैं। इसी बात को यहाँ बताया गया हैकि अहिंसा, सत्य, शौच, दया तथा आस्तिक भाव से युक्त जो चरित्र है वह सदैव ही अनुकरणीय है। 'परिपालनीयानि' 'अभितः परितः पालनीयानि' माने सर्व प्रकार से पालन करना चाहिए। भक्त के जीवन में हिंसा, असत्य, चोरी तथा परिग्रह के लिए स्थान नहीं है। भक्ति और ये दोनों साथ-२ नहीं रह सकते। यदि आप भक्ति करते हैं तो इसके लिए स्थान नहीं है। जो इसमें लगा हुआ है वह भक्त नहीं बन सकता। भगवान् स्वयं कहते हैं—

**सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ सन्तोष सदाई॥**

—रा० ७/४६-२

यही भक्त का लक्षण है। भक्ति तथा असंतोष का, भक्ति तथा उच्छृंखलता का, भक्ति तथा असंयम का, भक्ति तथा अज्ञान का और भक्ति तथा नास्तिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए शौच (बाहर-भीतर की पवित्रता), संतोष (जो परिश्रम से मिला उसमें संतुष्टि), तप, संयम, स्वाध्याय (स्वयं का अध्ययन, शास्त्र का अध्ययन), ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना) तथा इसके साथ दया और आस्तिक भाव-ये सब हमेशा सेवनीय हैं, कभी भी इनका त्याग नहीं करना चाहिए। नारद जी का कथन है कि इनका त्याग करके कोई भक्ति नहीं कर सकता। आगे के सूत्र में कहा है—

**सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः ॥**

—ना०भ०सू० ७९

सर्वदा माने—

**जागत रामहि, सोवत रामहि, बोलत रामहि बान पड़ी है।**
**स्वास उस्वास जथा जल पीवत, रैन दिना यह टेक धरी है॥**
**उठत बैठत गान करे पुनि जेवत हू बिसरे न घरी है।**
**यों हरिदास कहै रसना रस राम का नाम तमाम परी है॥**

तुलसीदास जी लिखते हैं—

**सियराम-सरूपु अगाध अनूप बिलोचन-मीननको जलु है।**
**श्रुति राम कथा, मुख राम को नामु, हिएँ पुनि रामहिको थलु है॥**
**मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति रामसों, रामहि कों बलु है।**
**सबकी न कहै, तुलसी के मतें इतने जग जीवन को फलू है॥**

*—कवितावली ७/३७*

**नैन वही जो लखे हरि को, अरु बैन वही हरि नाम उचारे।**
**श्रवण वही जो सुने हरि के गुण, दान वही भव पार उतारे॥**
**नाम वही जग छाए रहे सब, सरनाम वही हरि में तन गारे।**
**ध्यान वही जो लगे निसिबासर, ग्यान वही जो विवेक विचारे॥**

कबीर जी लिखते हैं—

**सुमिरन सो मन लाइए ज्यों सुरभी सुत माहीं ।**
**कह कबीर चारिहु चरत क्षण हूँ बिसरति नाहीं ॥**

यहाँ 'सर्वदा सर्वभावेन' सर्वदा काल के लिए और सर्वभाव परिस्थिति के लिए है। दुनिया में जितने भाव हैं सारे भावों को भगवान् के साथ जोड़ दो, वह सर्वभाव हो जाएगा। तुलसीदास जी लिखते हैं—

**राम हैं मातु, पिता, गुरु, बंधु, औ संगी, सखा, सुतु, स्वामि, स्नेही।**
**रामकी सौंह, भरोसो है राम को, राम रँग्यो, रुचि राच्यो न केही॥**
**जीअत रामु, मुएँ पुनि रामु, सदा रघुनाथहि की गति जेही।**
**सोई जिऐ जग में, 'तुलसी' नतु डोलत और मुए धरि देही॥**

*—कवितावली ७/३६*

वो कहते हैं कि मेरे विचार से जो राममय हो गया है, वही संसार में जी रहा है, बाकी लोग तो मुर्दे के समान संसार में घूम रहे हैं। उनके जीने और मरने से संसार में कोई प्रयोजन हल नहीं हो रहा। इसलिए 'सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः'॥ माने पूर्णरूप से निश्चिन्त होकर के भगवान् का भजन करना चाहिए। भय से वा प्रलोभन से भगवान् का भजन करना भक्ति नहीं है लेकिन यह भक्ति में सहायक हो जाता है। आर्त भय से भगवान् को पुकारता है और अर्थार्थी प्रलोभन से भगवान् को पुकारता है। यह यथार्थतया भक्ति नहीं है, भक्ति में कारण जरूर बन जाता है, लेकिन जहाँ भक्ति है वहाँ तो पूर्णरूप से निश्चिन्त होकर के 'भगवानेव भजनीयः' केवल भगवान् की ही सेवा और भजन करना चाहिए। सर्वभाव से भगवान् की सेवा करने का अभिप्राय यह नहीं है कि

जो काम कर रहे हो उसे छोड़ दो बल्कि जो काम कर रहे हो उसे भगवद्भाव से करो।

चेता नाम का एक चमार था। वह जूता गांठता था। जूता गांठते हुए भगवान् का सुमिरन किया करता था। वहीं एक पण्डित रहता था जो बड़ा विद्वान् था। पण्डित ने कहा—"भई चेता, आज कार्तिक की पूर्णिमा है, सभी लोग गंगा स्नान करने चल रहे हैं, तुम भी चलो।" उसने कहा कि पण्डित जी! मेरे पास इतनी फुर्सत कहाँ है? मेरे पास अपने भगवान् की सेवा से फुर्सत नहीं। वह सोचता था कि जो मैं जूता बना रहा हूँ, इसको हमारे भगवान् पहनते हैं। उसे लगता था कि भगवान् ही सर्वरूप में हैं। जूता गांठने में उसे लगता था कि वह भगवान् की सेवा कर रहा है और उसके बदले में जो पैसे मिलते थे वह सोचता था कि भगवान् ने प्रसाद दिया है। यह भाव था उसका। उसने कहा पण्डित जी! मेरे पास समय नहीं है कि मैं गंगिया माँ के यहाँ जाऊँ। मेरी तरफ से आप जाकर डुबकी लगा देना और माँ से कहना कि चेता के लिए कोई प्रसाद दे दो। कोई प्रसाद दे तो आप ले आना। कहा कि ठीक है।

पण्डित जी को लगा कि यह बड़ा भक्त बना है। पण्डित जी जब गए तो गंगा जी में स्नान किया और चेता याद आ गया। एक डुबकी उन्होंने उसके नाम की भी लगाई। उन्हें याद आ गया कि चेता ने कहा था कि गंगा माँ जो प्रसाद दे उसे ले आना। उन्होंने कहा कि "भगवती! एक चेता भगत है, उसने कहा था कि मेरे नाम की एक डुबकी लगाना और कोई प्रसाद गंगा माँ दे तो उसे ले आना। माँ! कोई प्रसाद हो तो दे दो।" इतना कहते ही एक लहर आई गंगा से और उस लहर में दो सोने के कंगन आ गए पण्डित जी के पास। पण्डित जी ने कहा कि ये तो सोने के कंगन हैं। उन्होंने उठा लिए और कहा कि यह तो शायद गंगा जी चेता को प्रसाद दिया है। वे सोने के कंगन बहुत ही अमूल्य थे। उसके मन में आया कि कौन चेता यहाँ देख रहा है कि गंगा जी ने प्रसाद दिया है या नहीं। क्या चेता को ही देगी माँ, मुझे भी तो दे सकती है। अब पण्डित जी के मन में खोट आई कि कंगन चेता को देना नहीं। वे लेकर चले आए, जब आए तो कंगन को ले जाकर बेच दिया, चेता को नहीं दिया। चेता ने जब पण्डित जी को देखा तो उससे पूछा—"क्यों पण्डित जी! मेरी डुबकी लगाई थी?" उसने कहा कि हाँ लगाई। गंगिया माँ ने प्रसाद दिया? कहा कि कुछ नहीं दिया। चेता ने कहा कि चलो जैसी माँ की इच्छा। पण्डित जी कंगन बेच कर पैसे प्राप्त कर लिए।

उधर सुनार ने देखा कि यह तो बड़ा अमूल्य कंगन हैं, इसमें तो अमूल्य

हीरे लगे हुए हैं, इसको खरीदने वाला यहाँ कौन है? इसको किसके पास ले जाऊँ? उसने ले जाकर राज दरबार में रानी को दिखाया क्योंकि रानी ही खरीद सकती है। रानी ने देखा, उसे तो अपने हाथ में डाल लिया और कहा कि ऐसे ही तुम दो कंगन मेरे लिए और बनाकर ले आओ। रानी की यह बात सुनकर सुनार घबराया। उसने कहा कि रानी साहिबा! मैं यह कंगन तो बनाया नहीं। कहा कि जहाँ से तुम्हें ये मिलें हों, वहीं से दो कंगन और ले आओ। उसने कहा कि मैं कोशिश करूँगा। अब वह सुनार आया पण्डित जी के पास पूछते हुए कि पण्डित जी! आफत आ गई आपके कंगन बेचकर तो! पूछा कि उस कंगन का क्या हुआ? कहा कि वो तो रानी साहिबा ने ले लिया और दो कंगन उसके साथ का और मांगा है। आप वैसे दो कंगन और लाइए नहीं तो मेरी जान तो खतरे में है, आपकी जान भी जाएगी। उसने कहा कि मेरे पास कंगन कहाँ हैं? मुझे जो कंगन मिले थे, मैंने आपको दे दिए। कहाँ से मिले थे? अब वह क्या बतावे कि कहाँ से मिले थे। अब मुसीबत आ गई पण्डित जी पर। सुनार ने कहा कि हम तो साफ कह देंगे। रानी ने फिर आर्डर निकाला ऐसे कंगन हमारे पास आने चाहिए। तुम जितना पैसा चाहो मेरे से ले लो। अब सुनार जब कंगन नहीं देकर गया तो राज दरबार में बुलाया गया। राजा ने कहा—"भई, जिस प्रकार के तुम दो कंगन लाकर दिए, कहाँ से लाया ऐसे कंगन? और लाकर दो।" सुनार ने कहा कि हजूर! मेरे पास तो पण्डित जी ने बेचा था मैं लाकर आपको दे दिया। पण्डित जी बुलाए गए दरबार में। पण्डित जी! वो कंगन कहाँ से आए थे? जैसे कंगन वो थे वैसे कंगन और चाहिए? पण्डित जी ने कहा कि साहिब! सत्य बात तो यह है कि हमें तो वे कंगन गंगा मईया ने प्रसाद दिया था। राजा ने कहा कि प्रसाद दिया था, असम्भव। अरे आज दिन तक दुनिया में कोई ऐसा हुआ है जिसे गंगा मईया ने प्रसाद दिया हो? यह झूठी बात है, ऐसा नहीं हो सकता। पण्डित जी ने कहा कि नहीं ऐसा हुआ है। यदि ऐसा हुआ है तो तुम गंगा जी से जाकर मांगो, वह तुम्हें और प्रसाद दे दें। पण्डित जी को लगा कि अब क्या होगा? पण्डित जी ने कहा सत्य बात तो यह है कि गंगा जी ने हमें प्रसाद नहीं दिया था। कहा कि फिर? यह प्रसाद चेता के नाम पर मिला था।

चेता को राज दरबार में बुलाया गया। चेता ने कहा कि मेरे पास समय नहीं है राजा-महाराजा के पास जाने के लिए। मैं तो अपने प्रभु की सेवा कर रहा हूँ और सेवा करूँगा। चेता राज दरबार में नहीं गया। पण्डित आ करके उसकी वन्दना करने लगे, "भाई! देख बात यह है कि गंगा मईया ने प्रसाद दिया था, वह

प्रसाद मैंने लालच बस तुम्हें न देकर बेच दिया। अब राज दरबार तक बात पहुँच गई है। चेता! मेरी जिन्दगी का सवाल है।'' चेता ने कहा कि पण्डित जी! जिसको कंगन लेने की गर्ज होगी वह मेरे पास आएगा, आप क्यों चिंता करते हैं। आपको लालच आ गई, यह मुझे पता है, माँ ने मेरे लिए प्रसाद दिया था, यह भी मुझे पता है, आपने मुझे नहीं दिया, यह भी मुझे पता है। जिसको कंगन लेना होगा, वह मेरे पास आएगा। मेरे पास फुर्सत कहाँ कंगन लेने जाने की। रानी को कंगन लेना था रानी स्वयं आई वहाँ पर। चेता से कहने लगी कि मेरे लिए ऐसे दो कंगन और मंगा दो। आप गंगा जी चलो और गंगा जी से प्रार्थना करो। उसने कहा कि मेरे पास गंगा जी जाने की फुर्सत कहाँ है। हाँ, आपको कितने कंगन चाहिए ऐसे? उसके लिए मैं गंगा मईया से कह सकता हूँ। उनकी जीवनी में आता है कि रानी ने उससे प्रार्थना की कि हमें दो कंगन और ऐसे चाहिए। जिस कठौती में वह चमड़ा भिगोता था, उसी कठौती में उसने हाथ डाला और कहा—''गंगिया! रानी माँ को कंगन चाहिए। जैसे वहाँ दो कंगन दिया था, ऐसे दो कंगन और दे दे तू।'' उसने हाथ डालकर उसमें से कंगन के गुच्छे निकाले। उसने कहा कि रानी माँ! जैसे वे कंगन हैं, उसके समान का जो हो वह ले लो। वे बड़े हैरान हुए कि इसमें कंगन कहाँ से आए? राजा ने सोचा शायद यहाँ चोरी से कंगन लाकर रखा हो, देखा तो वहाँ चमड़े का पानी था और कुछ नहीं था। आप लोगों ने शायद कहावत सुनी होगी—

**अपना मन चंगा तो कठौती में गंगा ।**

यह चेता चमार की बात है। कंगन सहित रानी उसके चरणों में गिरी। चेता भारत के प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। जब कबीर आदि हुए हैं उस समय यह संत हुए। मैं आप लोगों को बता रहा था कि जो सर्वभाव से प्रभु का ही भजन करता है, प्रभु उसी को प्यार करते हैं। उसके सिवा और कोई प्रभु का प्यारा नहीं है इसलिए—

**सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः ॥**

—ना०भ०सू० ७९

सदा सभी भाव से निश्चिन्त होकर भगवान् का भजन करो। जो कुछ कर्म करते हो भगवद् भाव से करो, इसी में तुम्हारा कल्याण है। इसके पश्चात् नारद जी ने एक बात और कही—

**स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान्॥**

—ना०भ०सू० ८०

यदि तुम भगवान् की सेवा करोगे तो शीघ्र ही भगवान् तुम्हारे सामने प्रकट होंगे

और तुम्हें अपने आपको अनुभव करायेंगे। यह न सोचो कि यह कल्पना की बात है। नारद जी कहते हैं—उसका कीर्तन भजन करने से वह शीघ्र ही भक्त के सामने प्रकट हो जाता है और—

**यमेवैष वृणुते तेन लभ्य**
**स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंस्वाम्॥**

*—कठ० १/२-२३*

अपने भक्तों को अपना अनुभव करा देता है। यह केवल नारद जी ही नहीं कह रहे हैं, वेद में भी यही बात कही गई है कि वह जिसको वरण करता है उसी को प्राप्त होता है और उसी के सामने वह परमात्मा अपने आपको प्रकट कर देता है। अब इसकी बात आपको कल बताएँगे।

**हरि ॐ तत्सत्।**

# २३

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना!

**भक्तिशास्त्राणि मननीयानि, तदुद्बोधककर्माण्यपि च करणीयानि॥**

*—ना० भ० सू० ७६*

भक्त को भक्ति शास्त्र से सम्बन्धित विचार ही सुनने चाहिए, भक्ति शास्त्र का ही मनन करना चाहिए और उसके उद्बोधक जो कर्म हैं, उन्हीं का अनुष्ठान करना चाहिए।

**सुखःदुखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम्॥**

*—ना० भ० सू० ७७*

सुख-दुःख, इच्छा-लाभ आदि जो द्वन्द्व हैं, इनका त्याग करके काल की प्रतीक्षा करते हुए एक क्षण को भी व्यर्थ में नहीं गवाना चाहिए।

**अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादि चारित्र्याणि परिपालनीयानि ॥**

*—ना० भ० सू० ७८*

अहिंसा, सत्य—ये दो महाव्रत अर्थात् यम के अंग हैं और शौच तथा आस्तिक्य, ये दोनों व्रत अर्थात् नियम के अंग हैं। इसके साथ दया को जोड़ दिया गया है। अपने जीवन के दैनिक विधान में यम और नियम को स्थान देना चाहिए और साथ में दया-भाव की भी प्रतिष्ठा करनी चाहिए। आखिर में बताया—

**सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः ॥**

*—ना० भ० सू० ७९*

सर्वदा सर्वभाव से निश्चिन्त हो करके केवल भगवान् का ही भजन करना चाहिए। भजन माने सेवा। भगवद् भाव से युक्त हो करके सतत सर्वरूप में प्रकट सर्वेश्वर की सेवा करनी चाहिए, यह सिद्धान्त नारद जी ने अपने भक्ति सूत्र में बताया। गीता के बारहवें अध्याय को भक्तियोग कहते हैं। उसमें भगवान् ने भक्तियोग के अनेक प्रकार के साधनों का विवेचन किया है। अर्जुन ने यह प्रश्न किया है कि "प्रभो! जो आपके सगुण साकार रूप की उपासना करते हैं वा जो सगुण निराकार में मन को लगाते हैं, इन दोनों योगियों में से कौन सा योगी श्रेष्ठ है?" इसके विषय में भगवान् ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है—

**मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।**
**श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥**

*—गीता १२/२*

भगवान् ने कहा है जो मेरे में मन को लगाते हैं तथा श्रद्धा से युक्त हुए मुझ सगुण रूप परमेश्वर को भजते हैं, वे मेरे मत से योगियों में श्रेष्ठ हैं। ग्यारहवें अध्याय में भगवान् ने जिस विराट् स्वरूप का दर्शन करवाया उसी के लिए कहा कि यह मेरा सही स्वरूप है। जहाँ पर स्वरूप की उपासना की बात है वहाँ पर भगवान् ने विराट् स्वरूप की उपासना की बात कही है। दूसरी बात उन्होंने यह भी समझाई कि जो अनन्य भाव से मेरी भक्ति करते हैं वो मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। अनन्य भाव के विषय में पहले भी मैं आप लोगों को कई बार बता चुका हूँ कि जिसकी दृष्टि में परमात्मा के सिवा अन्य किसी का अस्तित्व नहीं, वो अनन्य भाव युक्त भक्त है। भगवान् की उपासना में तीन प्रकार के दृष्टिकोण गीता में हमें पढ़ने को मिलते हैं। एक भगवान् की विभूति की उपासना करने वाले जैसे—राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा आदि जो भगवान् की विभूतियाँ हैं उनकी उपासना करने वाले। एक भगवान् के विराट् रूप की उपासना करने वाले और एक निर्गुण, निराकार, निरीह, निरंजन अक्षर ब्रह्म की उपासना करने वाले। जो लोग भगवान् की विभूति की उपासना क़रते हैं, भगवान् कहते हैं कि वो भी भक्त हैं। जो अनन्य भाव से यानी जो ऐसा निश्चय करते हुए कि मैं अन्य और भगवान् अन्य नहीं है बल्कि भगवान् ही है मैं नहीं हूँ, इस प्रकार की भावना से युक्त होकर के भगवान् की उपासना करते हैं, वे सर्वरूप में प्रकट सर्वेश्वर की सेवा करते हैं। इन दोनों में-एक भगवान् में आसक्त है और दूसरा भगवान् के आश्रित हो करके भगवान् की उपासना कर रहा है। उनके लिए भगवान् ने कहा है—सर्वभूतहितेरताः। वह जो आश्रित हो करके अन्य भाव से भगवान् की उपासना करता है, वह भगवान् के नाते समस्त प्राणियों

के हित में रत है। वह यह समझता है कि सभी प्राणी भगवान् की सन्तान हैं, भगवान् सबका पिता है। यह अन्य भाव अर्थात् भगवान् से भिन्न की भावना है। अनन्य भाव में वह भगवान् से भिन्न की सत्ता स्वीकार नहीं करता। वह यह समझता है कि भगवान् ही सर्वरूप में प्रकट है।

**भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।**
**ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥**

—गीता ११/५४

अनन्य भक्ति वाले भक्त के द्वारा ही मैं जाना जाता हूँ और तत्त्वतः मुझ में वह प्रविष्ट हो जाता है। यह अनन्य भक्त की बात कही है जिसकी दृष्टि में भगवान् के सिवाय कोई अन्य है ही नहीं। ये दो प्रकार के भक्त हैं। तीसरे वो हैं जो न तो विभूति की उपासना करने वाले हैं अनन्य भाव से और न तो विराट् की उपासना करने वाले हैं, वो तो निर्गुण, निराकार, अक्षर ब्रह्म की उपासना करते हैं। ऐसे लोगों के लिए भगवान् ने कहा--

**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥**

—गीता १२/५

शरीरधारियों के लिए अव्यक्त में गति पाना बड़ा मुश्किल है, यह बड़ा कष्टसाध्य मार्ग है लेकिन—

**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।**

—गीता १२/४

"वो कष्टसाध्य मार्ग से भी मुझे ही प्राप्त करेंगे। जो मेरे भक्त हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त करेंगे। जो सर्वरूप में देखने वाले है वे भी मुझे ही प्राप्त करेंगे।" प्राप्तव्य तीनों का एक है, लेकिन रास्ते तीनों के अलग-अलग हैं। उसमें भगवान् ने बताया कि दो मार्ग तो सरल हैं लेकिन अव्यक्त में जो गति है, वह दुःखद बात है। यहाँ पर देवर्षि उसी बात को कह रहे हैं जिसे भगवान् ने अनन्य भक्ति कहा है।

**सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः॥**

—ना०भ०सू० ७९

सर्वदा सर्वभाव से निश्चिन्त हो करके केवल भगवान् का ही भजन करना चाहिए। यदि किसी बात की भक्त को चिन्ता है तो वह भक्त नहीं है। यह पाँच तत्त्वों का शरीर बना है। तुम एकान्त में बैठकर देखो कि इन पंच तत्त्वों को एक में तुम मिला सकते हो? ये सब एक दूसरे के विपरीत हैं। अग्नि और पानी को तुम एक जगह कर सकते हो? बड़ा विपरीत स्वभाव है एक दूसरे का। मिट्टी को पानी

में डालो तो वह घुल जाएगी। अग्नि को वायु का संयोग मिल जाए तो वह फैल जाएगा। यह सब कुछ देखते हुए कल्पना करो कि इन पाँचों तत्त्वों को मिला करके कितना सुन्दर शरीर बना दिया तुम्हारा। हैं ये एक दूसरे के बिल्कुल विरोधी। विचित्रता यह है कि ये एक दूसरे के जनक हैं। आकाश वायु का पिता है, अग्नि का पिता वायु है, जल का पिता अग्नि है और पृथ्वी का पिता जल है यानी ये एक दूसरे से उत्पन्न हुए हैं—

**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः।**
**वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी**

*—तैत्तिरीय० २/१*

यह क्रम ही इस प्रकार है। कार्य-कारण सम्बन्ध होते हुए भी विपरीत गुण स्वभाव वाले हैं। तुम सोचो तो सही—

**जड़ पंच मिलै जेहिं देह करी, करनी लखु धौं धरनीधरकी।**
**जनकी कहु, क्यों करिहै न सँभार, जो सार करै सचराचरकी॥**

अरे जो सारी दुनिया की संभाल कर रहा है, वह क्या अपने भक्त की संभार नहीं करेगा?

**तुलसी! कहु राम समान को आन है, सेवकि जासु रमा घरकी।**

*—कवितावली ७/१७*

भला प्रभु से महान् दुनिया में कौन है? अरे जिसके पास थोड़ा सा धन हो गया, तुम उसकी गुलामी करते हो, उसे तुम भगवान् समझ कर पूजते हो। तुम उसे बाबू साहिब, महाराजा, सरकार न जाने क्या-क्या उपाधि दे देते हो जिससे कि तुम्हें दो पैसा मिल जाए। अरे, भला वो तुम्हें क्या देगा? वह लक्ष्मी, जिसकी अंश मात्र कृपा से लोग लक्ष्मीवान् बन जाते हैं, वह लक्ष्मी जिसकी दासी है, जिसके चरण दबाती है, उस परमात्मा से बड़ करके दुनिया में और कौन हो सकता है?

**जगमें गति जाहि जगत्पतिकी परवाह है ताहि कहा नरकी॥**

ऐसे जगत्पति का जिसको आसरा हो उसे दुनिया में मनुष्य की क्या परवाह है, यह है भक्त की भावना। इसलिए वे कह रहे हैं 'निश्चिन्तितैः' बिल्कुल निश्चिन्त होकर के भगवान् का भजन करे। दुनिया के लोग यदि तुम्हारी सेवा में कुछ देते हैं तो वे तो स्वयं को धन्य करते हैं। यही तो सृष्टि का क्रम है और यही शास्त्र का उपदेश है। यदि तुम मनुष्य की चिन्ता करने लगे फिर तुम भगवान् के दास नहीं होंगे, फिर तुम अर्थ के दास होगे, मान के दास होंगे, वासनाओं के दास बन जाओगे। भगवान् का दास तो अखण्ड अनन्त में सदैव निरत रहता है। तुलसीदास

बड़े ही निर्द्वन्द्व वृत्ति के संत थे। एक बार तुलसीदास जी से किसी ने कुछ कहा तो उन्होंने एक पद में बड़ा कठोर शब्द कहा—

**धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूतु कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।**
**काहूकी बेटीसों बेटा न ब्याहब, काहूकी जाति बिगार न सोऊ॥**

कोई धूत कह दे, कोई अवधूत कह दे, राजपूत कह दे, जुलाहा कह दो, जो कहना हो कहो, मैं किसी की लड़की के साथ अपने लड़के की सगाई तो करने वाला नहीं और न तो किसी की जाति बिगाड़ने वाला हूँ—

**तुलसी सरनाम गुलामु है रामको, जाको रुचै से कहै कछु ओऊ।**
**मांगि कै खैबो, मसीतको सोइबो, लैबोको एकु न दैबेको दोऊ॥**

*—कवि० ७/१०६*

तुलसीदास जी कहते है कि मैं तो दुनिया में प्रसिद्ध हूँ कि मैं राम का गुलाम हूँ। मेरा नाम तो जन्मते ही राम बोला पड़ा हुआ है जिसको जो-जो रुचे सो कहो। माँग करके खाता हूँ, मसीत में सोता हूँ। लेना किसी से कुछ नहीं है लेकिन देने को मेरे पास दो हैं रा और म। ऐसे जो निर्द्वन्द्व सन्त होते हैं जिनको किसी से कुछ लेना-देना नहीं है, उन्हें किसी से लगाव लपेट नहीं होता क्योंकि वे बिल्कुल निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त होते हैं। यहाँ पर नारद जी इसी बात को समझा रहे हैं—

**सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः ॥**

*—ना०भ०सू० ७९*

सर्वदा सर्वभाव से निश्चिन्त हो करके भगवान् का ही भजन करना चाहिए, इसके सिवा उसके लिए कुछ करणीय नहीं है। यदि कुछ करणीय है तो भगवान् का भजन, भगवत् चिन्तन और भगवान् की भक्ति। अब यहाँ एक प्रश्न हो सकता है, क्या ऐसे लोगों से समाज का, संसार का कोई कल्याण होता है? बोले हाँ। समाज का कल्याण ऐसे लोग ही कर सकते हैं। यदि ऐसे लोग दुनिया में न हों तो सारा समाज नरक बन जाए। यदि दुनिया में सभी स्वार्थी हों, सभी खुदगर्ज़ हों, सभी चापलूस हों, सभी द्वन्द्व ग्रस्त हों तो यह दुनिया रहने के काबिल ही न होगी। ऐसे निर्द्वन्द्व लोग ही समाज को सही दिशा देते हैं। उनके वाईबरेशन्स के द्वारा समाज पवित्र होता रहता है। प्रत्येक जीवित प्राणी से दो प्रकार की क्रिया होती रहती है- ग्रहण और त्याग। जो लहर ऐसे संतों के शरीर में से निकल रही है, वह अपने आप जगत् को पवित्रं कर रही हैं। यदि कोई संत व्याख्यान नहीं देते तो आप जाकर घण्टे दो घण्टे उन्हें देखो। वह तुम्हारे लिए अमृत का काम करेगा। तुम्हारे लिए इतना लाभदायक होगा जितना लाभदायक दुनिया का और कोई पदार्थ नहीं

है। दुनिया की वस्तु तुम्हें शान्ति नहीं दे सकती, दुनिया की वस्तु तुम्हें शक्ति नहीं दे सकती लेकिन ऐसे निर्द्वन्द्व निश्चल सन्त के पास बैठने से तुम्हें शान्ति और शक्ति दोनों ही प्राप्त होंगे। तुम्हारे चित्त के मल धुलेंगे केवल संग करने से। तुलसीदास जी ने तो यहाँ तक लिखा है—

**जेहि दरस-परस-समागमादिक पापरासि नसाइये॥**

*—वि०प० १३६/१०*

पाप राशि है क्या? दूषित संस्कार। वे दूषित संस्कार अच्छे संस्कारों के प्रभाव से मिट जाते हैं।

ऐसे संत के निकट बैठने में ही लाभ है। यदि वे एक्टिव हो जाए तो उससे और लोग भी लाभ लेते हैं। कुछ लोग विचारों से लाभ लेते हैं, कुछ लोग उनके क्रिया-कलाप से लाभ ले लेते हैं, कुछ लोग उनकी प्रेरणा से लाभ लेते हैं। यदि वे कुछ न भी करें तो इनसे लाभ है। संत के दो लक्ष्ण हैं—निःस्पृह्य और असंगता। जहाँ पर निःस्पृह्यता है वहीं पर शान्ति है, स्थिरता है। स्पृहा माने चाह। जहाँ कोई चाह नहीं, वहीं पर स्थिरता होती है। कबीर जी कहते हैं—

**चाह गई चिन्ता मिटी मनवा बेपरवाह ।**
**जाको कछु न चाहिए वह शाहन को शाह ॥**

वे तो शाहों के शाह हैं। ऐसे निःस्पृह संतों द्वारा समाज का कल्याण होता है। जो यह सोचता है कि हम तो समाज का उत्थान करने के लिए कुछ करेंगे, वो समाज का कुछ नहीं कर पाते क्योंकि जहाँ पर अहं का प्रभुत्व है वहाँ पर समाज हित कहाँ से होगा? वो तो समाज हित की आड़ में अपने अहं की पुष्टि कर रहा है। समाज कल्याण किया नहीं जाता समाज कल्याण होता है। लोकहित किया नहीं जाता लोकहित होता है। जहाँ यह सोचता है कि मैं समाज कल्याण करने जा रहा हूँ, वहाँ तो द्वन्द्व बैठा हुआ, वहाँ वो समाज कल्याण कैसे कर सकता है? जहाँ पर अभी दूसरा तुम्हारी दृष्टि में है, तुम अलग हो वह अलग है, यह भगवान् है जिसके नाते तुम कर रहे हो। जहाँ त्रैत मुंह खोले तुम्हारे सामने बैठा हुआ है, वहाँ तुम कौन सा उपकार करोगे? दूसरे के भले के आड़ में अपने अहं को पुष्ट जरूर करोगे। वो अहं की पुष्टि तुम्हारे पतन में कारण होगी। वह दूसरे को कौन रास्ता दिखाएगी इसलिए संतों ने कहा कि परोपकार किया नहीं जाता परोपकार होता है। जिसकी दृष्टि में पर नहीं रहा, वह जो कुछ कर रहा है अपनी आत्मा के लिए कर रहा है लेकिन उसकी आत्मा इतनी छोटी सी नहीं है, एक शरीर में बंधी हुई नहीं है। विश्व की आत्मा उसकी आत्मा होती है। तुलसीदास जी ने रामायण के प्रारम्भ

में क्या लिखा?

**स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥**

—रा० १/१

कहा कि मैं तो अपने अन्तःकरण को सुख देने के लिए रघुनाथ की गाथा को भाषा में आबद्ध कर रहा हूँ। यदि तुलसी ने अपने सुख के लिए किया था तो आज दुनिया कैसे सुख पा रही है उससे? इसलिए कि तुलसी का अहं जो था वह विश्व का अहं था, तुलसी का इन्डीवीजूएशन तो विश्व में लय था इसलिए उन्होंने कहा—

**जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।**

—रा० १/७

ऐसे संत के द्वारा सारी पृथ्वी पवित्र हो जाती है। ऐसे संत यदि न भी कुछ करें तो भी उनके द्वारा मनुष्यता का उपकार होता है। केवल मनुष्यता का ही नहीं ऐसे संत के द्वारा कीट, पतंग, पशु, पक्षी का भी उत्थान होता है। उस वाईबरेशन में रहने पर जितने जीव जन्तु हैं सभी विकास की तरफ अग्रसर हो रहे हैं। ऐसे महापुरुष पृथ्वी के लिए वरदान हैं, मनुष्यता के लिए वरदान हैं और प्राणीमात्र के लिए वरदान हैं इसलिए नारद जी का कथन है कि तुम वैसें ही बनने की कोशिश करो। सदा सभी भाव से निश्चिन्त होकर भगवान् का ही भजन करना चाहिए। आगे उन्होंने प्रतिज्ञा करके कहा है—

**स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ॥**

—ना०भ०सू० ८०

वह स्तुतिमान हो करके तुरन्त ही तुम्हारे सामने प्रकट हो जाएगा और तुम्हें कृतकृत्य कर देगा। यह वेद का, शास्त्र का, गीता का, रामायण का सिद्धान्त है जो यहाँ पर नारद जी कह रहे हैं कि जो भगवद् भाव से युक्त हो करके उनका चिन्तन करता है, भगवान् उसके सामने स्वयं प्रकट हो जाता है और प्रकट हो करके उसको अपने आप का अनुभव करा देता है। यह केवल कल्पना नहीं संतों का अनुभव है। कुछ लोग जब कह देते हैं कि किसने देखा भगवान् को? बड़ा तरस आता है। कौन बतावे कि किसने देखा भगवान् को? वो जिस स्तर पर हैं, उसी स्तर की बात करेंगे। उनकी दृष्टि में भगवान् केवल कल्पना की एक मूर्ति है, किसी ने उसे देखा नहीं। उनकी दृष्टि में भगवान् सातवें आकाश पर रहता है और इस धरती पर रहने वाला जीव तो उसे देख ही नहीं सकता। इसमें उनकी अज्ञानता और अनभिज्ञता ही कारण है और कोई कारण नहीं है। ऐसे अनेकों संत हैं जिन्होंने

भगवद्-साक्षात्कार किया है। उन्होंने ही नहीं किया, मेरी राय है कि प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में वह क्षमता है परन्तु यह इस पर अवलम्बित है कि वह उसके लिए कितना लालायित है, उसके लिए कितना उत्सुक है, उसके लिए कितना बलिदान करने के लिए तैयार है। अधिकांश लोग आपको ऐसे मिलेंगे जो भगवान् को देखने, सुनने और जानने के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार नहीं हैं। वो यही कहेंगे कि आप यदि भगवान् हमें दिखा दो तो मैं मान जाऊँ। अरे भले आदमी! तुम्हारे मान जाने या न मान जाने से कोई अन्तर नहीं पड़ता है भगवान् के होने में या भक्त की स्थिति में। भगवान् श्रद्धा से देखा जा सकता है, भक्ति से देखा जा सकता है, दिव्य चक्षु से देखा जा सकता है। यही भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि जिन आँखों में संसार बसा हो, उन आँखों में भगवान् कैसे आएगा? तुलसीदास जी कहते हैं—

**हरि निरमल, मलग्रसित हृदय, असमंजस मोहिं जनावत।**
**जेहि सर काक कंक बक सूकर, क्यों मराल तहँ आवत॥**

*—वि०प० १८५/३*

प्रभु बड़े निर्मल हैं और मेरा हृदय मल से भरा हुआ है। भला जिस तालाब में कऊए, बकुले और सूअर लौटते हों, उस तालाब में कभी हंस आता है? यह मैं आपको बता रहा था कि भगवान् अवश्य ही प्रकट हो करके भक्त के सामने दर्शन देते हैं। भक्त भगवान् को प्रत्यक्ष करता है, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है—

**ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥**

*—गीता ११/५४*

भगवान् कहते हैं कि वह जानता है, देखता है और मेरे में प्रवेश भी कर जाता है इसलिए यह केवल कल्पना की बात नहीं है। हज़ारों देख रहे हैं और हज़ारों देखेंगे लेकिन इतना जरूर है कि सभी में क्षमता होते हुए भी सभी नहीं देख सकते। भगवान् कहते हैं—

**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।**
**यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥**

*— गीता ७/३*

हज़ारों में से कोई एक यत्न करता है। यत्न करने वालों में से कोई एक सिद्ध होता है और उन सिद्धों में से भी कोई एक मुझे जानता है। है तो कठिन लेकिन असम्भव नहीं है। तुलसीदास जी कहते हैं—

**लहत सकृत, चहत सकल, जुग-जुग जगमगति ॥**

*—गीतावली २/८२-२*

चाहते सभी हैं लेकिन प्राप्त करता है कोई-कोई, इसलिए यहाँ पर नारद जी कह रहे हैं—

**स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान्॥**

*—ना०भ०सू० ८०*

भगवान् कीर्तिमान हो करके यानी प्रेम पूर्वक सुमिरन किए जाने पर शीघ्र ही भक्तों के सामने प्रकट हो जातें हैं और उनको अपनी अनुभूति करा देते हैं। यह नारद जी का वचन है। यह सभी शास्त्रों का सार है। इससे आगे मोहर लगाते हुए कहा—

**त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ॥**

*—ना०भ०सू० ८१*

यह त्रिकाल सत्य है कि भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही श्रेष्ठ है क्योंकि यहाँ 'कीर्त्यमान' शब्द भक्ति के लिए है। यह कायिक, वाचिक और मानसिक सत्य है कि भक्ति से श्रेष्ठ और दुनिया में कोई साधन नहीं है। यहाँ पर जिस प्रकार की भक्ति की बात नारद जी कर रहे हैं, वह भक्ति ज्ञान, वैराग्य से युक्त है, वह भक्ति भेद रहित है और वह परा भक्ति है। वह साधना भक्ति भी है और साध्या भक्ति भी है। उसमें गौणी भक्ति के साथ परा भक्ति का विवेचन है। उस विवेचन के साथ उन्होंने समझाया है कि भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही श्रेष्ठ है। अब भक्ति के कितने भेद हैं, इसके लिए नारद जी समझा रहे हैं कि यह एक होते हुए भी ग्यारह प्रकार की है—

**गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणशक्तिदास्या-सक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्म निवेदना-सक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति॥**

*—ना०भ०सू० ८२*

इस सूत्रानुसार वह प्रेमरूपा भक्ति एक होते हुए भी ग्यारह भेदों वाली है, यह बता रहे हैं। ग्यारह भेद कौन से हैं? सबसे पहले है 'गुणमाहात्म्यासक्ति' भगवान् के गुण और महात्म्य का चिन्तन करना, गान करना, भजन करना—यह पहला स्वरूप है भक्ति का। शाण्डिल्य ने अपने भक्ति सूत्र में एक बात लिखी है। उन्होंने कहा कि भक्ति में यह नहीं कहा जा सकता कि कौन काम आगे करना

चाहिए कौन पीछे। कहा कि जैसे मकान बनाने के लिए बहुत सी चीज़ों की जरूरत है, कौन सी चीज़ पहले लानी चाहिए कौन सी बाद में, ऐसा कोई निर्णय नहीं हो सकता। जिसकी सुविधा हो जाए उसी को पहले ले आओ। एक-एक करके उसको तुम इकट्ठा तो करो। किसी घर में शादी करनी होती है तो कई वर्ष पूर्व ही समान जुटने लगता है कि लड़की को यह देना है, लड़की को वो देना है, यह बनाना है, वो बनाना है। अब उसमें से कौन सी चीज़ जरूरी है? सारी चीज़ें जरूरी हैं लेकिन सारी चीज़ें एक दिन में तो नहीं बनती। इसी प्रकार से शाण्डिल्य ने अपने भक्ति सूत्र में बताया कि भक्ति में यही नहीं कहा जा सकता कि पहले श्रवण करो, बाद में कीर्तन करो और फिर चिन्तन करो। जैसा भाव बने उस समय वही करो। श्रवण का मौका मिल जाए तो श्रवण करने लगो, श्रवण का अवसर न मिले तो कीर्तन करो, कीर्तन में मन नहीं लगता तो ध्यान करो, नहीं तो किसी संत का पद गाने लगो। यदि किसी का मन एकाग्र नहीं होता तो किसी संत के पद का चिन्तन करो और उसे गाओ, देखना आपका मन लग जाएगा। किवाड़ बन्द करो, रोते रहो, गाते रहो, भगवान् के सामने नाचो। जो तुम कर सकते हो करो, यह जरूरी नहीं है कि यह पहले करना है। सबसे पहले 'गुणमाहात्म्यासक्ति' गुणमाहात्म्य का चिन्तन है, कीर्तन है, भजन है।

जब तुम मीरा, कबीर, दादू, तुलसी इत्यादि किसी संत के पद गाने लगते हो तो जिस भाव से अपनी बात कही है उसको तुम अनुभव करने लगते हो। हमें याद है बच्चेपन में जब सायंकाल होता था तो पता नहीं क्या हो जाता था, हम घर से चल देते थे। हमारे गाँव के बाहर आम का बगीचा है और एक तालाब सा है। हम बगीचे में चले जाते। किसी पेड़ के नीचे बैठते तो कबीर के पद गाते। कबीर के पद मुझे बड़े प्रिय लगते थे। कबीर के कुछ योग के पद थे। हम तो बाद में समझे कि ये क्या कह रहे हैं कबीर जी। उस समय लगता कि जैसे मैं ही कबीर हूँ, मैं ही गा रहा हूँ, मैं ही रो रहा हूँ। जब मैं घर नहीं पहुँचता तो मेरी बुआ ढूँढते-२ आ जाती और पीछे खड़ी होकर सुनती रहती और रोती। जब घण्टे दो घण्टे बाद मुझे होश आ जाता तो मैं उठता और देखता, अरे! तू यहाँ कब से खड़ी है? वह रोती और कहती कि मुझे लगता है तू सही में वैरागी ही बनेगा। मुझे जो कबीर जी का सबसे प्रिय पद लगता था वह था—

**मन लाग्यो मेरो यार फकीरी में॥**
**जो सुख पावौं नाम भजन में, सो सुख नाहिं अमीरी में।**

वो कहती थी तू और क्या करेगा, यही करेगा। यह तो मैं तेरे जन्म से ही जान गई

थी। जब तुम जन्मते नहीं रोए तभी जान गई थी कि तुम यही कुछ करोगे। एक और पद था कबीर जी का—

**रस गगन गुफा में अजर झरै।**
**बिनु वीणा झनकार उठे जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै।**
**बिना ताल जहँ कमल खिलाने तेहि चढ़ि हंसा केलि करै॥**
**बिन चन्दा उजियारी दरसै जहँ तहँ हंसा नजर परै।**
**दसवें द्वारे ताली लागी अलख पुरख जाको ध्यान धरै॥**
**काल कराल निकट नहिं आवै, काम क्रोध मद लोभ जरै।**
**कह कबीर सुनो भई साधो अमर होय कबहूँ न मरै॥**

यह मुझे बहुत प्रिय पद था। उन दिनों मैं यही पद बार-बार गाया करता और रोता रहता। इतना अर्थ भी पता नहीं था। शब्द का अर्थ तो मालूम था लेकिन यह किस स्थिति की व्याख्या है, यह क्या पता था परन्तु अच्छा लगता था।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि जो भक्ति के संस्कार से युक्त लोग हैं, उनको चाहिए यदि उनका मन ध्यान करने में या माला फेरने में नहीं लगता तो किसी भक्त का पद गाना शुरू करें। उस पद का जो अर्थ होगा वह दिमाग में गूंजता रहेगा। किसी भी प्रकार से भगवान् के भजन में तुम लगे रहोगे तो उससे भगवान् के गुण का, भगवान् की महिमा का चिन्तन होगा।

गुण और महात्म्य में अनुरक्ति हो और 'रूपासक्ति', भगवान् के रूप में आसक्ति हो। भगवान् के अनेकों रूप हैं। हमारे यहाँ सनातन धर्म में यह बताया जाता है कि तुम्हें कौन से इष्ट प्रिय हैं? राम हैं, कृष्ण हैं, शिव हैं, दुर्गा हैं, गणेश हैं, सूर्य हैं, नारायण हैं, विष्णु हैं, कौन सा रूप तुम्हें प्रिय है? चलो भगवान् का रूप तुमने नहीं देखा, दुनिया में कोई रूप तुम्हें अच्छा लगता है, तो दुनिया के रूप को तुम क्यों नहीं ध्यान से देखते? उसी का चिन्तन करो। एक महात्मा जी चले जा रहे थे। एक राजकुमारी महल के ऊपरी भाग में बैठी हुई थी। अपने केश सुखा रही थी। महात्मा जी ने एकाएक उस राजकुमारी को देखा तो खड़े हो गए। उनका ध्यान लग गया, वहाँ वे खड़े ही रहे। वे भूल गए कि वे कहाँ खड़े हैं। उस राजकुमारी ने एक व्यक्ति के हाथ एक चुटका लिख कर भेज दिया महात्मा जी के लिए—

**ऐ जाने वाले तू राह ले अपनी।**
**जो इधर देखते सर कलम देखते हैं॥**

ऐ जाने वाले तू अपने रास्ते पर चले जाओ। जो मेरी तरफ देखते हैं उसके धड़ पर सर नहीं रह जाता क्योंकि मैं राजकुमारी हूँ। जब चुटका उसने महात्मा जी को

दिया और उसने पढ़ा तो उसे होश आया कि मैं क्या देखने लगा। महात्मा जी ने उसकी पूर्ति करते हुए लिख दिया। क्या लिखा जानते हो?

**न तुम से गरज है न सूरत से तेरी।**
**मुसब्बर की हम तो कलम देखते हैं॥**

कहा कि हमें तेरे से कुछ लेना देना नहीं, देवी! तू कौन है, कैसी है, हमें क्या करना जानकर? हम तो उस चित्रकार के कलम की तारीफ कर रहे हैं कि कितना सुन्दर वह चित्रकार है जिसने तुम्हें बनाया है। हम तो भगवान् की चित्रकारी देख रहे हैं, तेरे से कोई मतलब नहीं है। तो जो रूप तुम्हें प्रिय लगता है, उसी रूप का चिन्तन करो, ध्यान करो, यह सोचो कि यह भगवान् की विभूति है। गीता के दसवें अध्याय में भगवान् की अनेक प्रकार की विभूतियों का वर्णन है और उन विभूतियों द्वारा हमें यही समझाया गया है कि दुनिया में जो कुछ विशिष्ट है, वह भगवान् की विभूति है, भगवान् की महिमा है इसलिए जो ग्यारह प्रकार की भक्ति की बातें हैं, वे आपको क्रमशः बताई जायेंगी।

**हरि ॐ तत्सत्।**

## २४

परावर रूप में उपस्थित मेरी प्रिय आत्माओ!

करुणानिधान भगवान् का मंगलमय विधान आप सभी के लिए कल्याणप्रद हो, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! आप लोग बहुत दिनों से नारद भक्ति सूत्र की व्याख्या सुन रहे हैं। देवर्षि नारद ने भक्ति के विभिन्न अंगों का बड़ी ही सुगमता से विवेचन करते हुए आखिर में समझाया है—

**त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी॥**

*—ना०भ०सू० ८१*

मनुष्य के उद्धार के लिए, मनुष्य के उत्थान के लिए भक्ति मार्ग ही श्रेष्ठ है, भक्ति मार्ग ही श्रेष्ठ है। जिस भक्ति को श्रेष्ठ बताया है उस भक्ति के विषय में उनका कथन है कि वह भक्ति एक ही है लेकिन वह भक्ति प्रयुक्त ग्यारह रूपों में होती है। उन ग्यारह रूपों की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा—

**गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणशक्तिदास्या-**
**सक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्म निवेदना-**
**सक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा**
**भवति॥**

*—ना०भ०सू० ८२*

इन ग्यारह रूपों में से कौन सा प्रधान है कौन सा अप्रधान, कौन प्रथम का है कौन बाद का, यह निर्णय नहीं किया जा सकता। भक्ति का प्रत्येक रूप, भक्ति की प्रत्येक विधा मनुष्य के लिए कल्याणमयी है। इन ग्यारह विधाओं में से कोई भी विधा किसी भक्त के हृदय में प्रकट हो सकती है। उसमें 'गुणमाहात्म्यासक्ति' प्रभु के गुण और महात्म्य में आसक्ति होना, अनुराग होना, यह भक्ति का प्रथम

रूप बताया है। जब तक प्रभु के गुण का, प्रभु की महिमा का बोध न हो तब तक उनके प्रति अनुराग का जागरण नहीं हो सकता। यह बहुत बड़ी बात है जिसकी महिमा आप समझ पाते हैं, उसके प्रति आपके हृदय में अनुराग होता है, जिसकी महिमा का आपको पता नहीं होता उसके प्रति आपके हृदय में अनुराग नहीं होता। हम वेदान्त की प्रक्रिया में एक कहानी पढ़ते हैं।

एक जंगल में एक गड़रिया था। वह बकरी चराया करता था। एक दिन पहाड़ के ऊपर उसे एक बहुत चमकता हुआ पत्थर मिल गया। पत्थर उठाकर सोचने लगा कि क्या किया जाए? किसी को यदि कोई सुन्दर वस्तु मिल जाए तो उसकी यह चाह होती है कि जो कोई उसका प्रिय हो उसको वह दे। गड़रिए ने उस पत्थर को अपने बकरे के गले में बाँध दिया। बाँध करके वह घूमता रहा। एक दिन एक जौहरी रास्ते से गुजर रहा था, उसने उस बकरे के गले में बंधे हुए पत्थर के टुकड़े को देखा और देखते ही चौंक पड़ा कि इतना अमूल्य हीरा बकरे के गले में! गड़रिए को पता नहीं है इसलिए उसने इसे बकरे के गले में डाल रखा है। मैं तो इस हीरे को पहिचान रहा हूँ। बड़ा अमूल्य हीरा है, इसको पाने के लिए गड़रिए से कुछ सौदा करना होगा। उसने गड़रिए को बुलाया और कहा कि भाई! तुम्हारे बकरे के गले में जो पत्थर है, यह मुझे देगा? उसने कहा—कि जा जा, बड़ा आया पत्थर लेने वाला। तू मेरे बकरे से ज्यादा अच्छा है कि तुम्हें मैं बकरे के गले से उतार कर वह पत्थर दे दूँ। उसने कहा कि तुम हमें बकरा ही दे दो। कहा—बकरा खरीदोगे? कहा—हाँ, हाँ मैं बकरा खरीदूँगा, परन्तु बकरे के गले में बँधा हुआ पत्थर तो साथ ही मिलेगा न? कहा—"हाँ-हाँ वह मैं थोड़े ही उतारूँगा?" उतने जितना पैसा कहा जौहरी ने उतना पैसा देकर के बकरे को खरीद लिया। उसे बकरे की तो कोई जरूरत थी नहीं इसलिए वह बकरे को कुछ दूर ले गया और उसके गले से हीरा खोल कर ज्योंहिं अपने हाथ पर रख लिया इतने में तो वह चूर-चूर होकर बिखर गया। इस कहानी को वेदान्त में ऐसा समझाते हैं कि यह मनुष्य जीवन रूपी हीरा बहुत ही मूल्यवान है। जैसे अज्ञानतावश गड़रिए ने अपने बकरे के गले में हीरा बाँध रखा था ऐसे ही हमने उसे मैं-मैं के गले से बाँध रखा है। जो इसके मूल्य को पहिचान जाता है और उसके उचित मूल्य को देकर के वह ग्रहण करना चाहे फिर तो वो हीरा उसके पास टिकता है अर्थात् उस व्यापारी की सद्गति होती है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि जो जिसका मूल्य समझता है उसके लिए वह सब कुछ त्याग करने के लिए तैयार रहता है। जब तक वह उसका मूल्य

नहीं समझता तो उसके लिए वह कुछ त्यागने के लिए तैयार नहीं होता। भगवान् के लिए संसार को त्यागना, संसार के सुख को त्यागना, संसार के वैभव को त्यागना, संसार के सम्बन्धों को त्यागना, यह कोई छोटी सी बात नहीं है। छोटी सी सुविधा ही नहीं त्यागी जाती। बुराई जानते हुए हम बुराई को ही नहीं त्यागते। हम सोचते हैं कि एक तरफ हमारी बुराईयाँ पड़ी रहें और दूसरी तरफ बगल में भगवान् पड़ा रहे। दोनों साथ-साथ रहें तो ठीक है, बुराई छोड़कर भगवान् की तरफ जाना तो मुश्किल है। ये छोटी-२ बातें जो सही में त्याज्य हैं, उन्हीं का त्याग नहीं होता तो जो सही में त्याज्य नहीं होता उनका त्याग करना तो बड़ा ही मुश्किल है। जिसकी महिमा हम सुनते हैं उसके लिए हम सब कुछ त्यागने के लिए तैयार हो जाते हैं। अब देखिए सुख की सुविधा की महिमा थी तो अपने देश, अपनी मातृभूमि, अपना परिवार सब का त्याग करके आ गए इतनी दूर। यदि महिमा न समझते तो कोई चलता? हमारे यहाँ कहते हैं—

**चना चबेना गंगजल जो पुरवें करतार।**
**काशी कबहुँ न छोड़िए विश्वनाथ दरबार॥**

उस समय तो काशी विश्वनाथ की महिमा का बोध था लेकिन अब विश्वनाथ मूर्ति हो गई। काशी रहे चाहे जाए, यह महिमा की बात है। जिसको भगवान् की महिमा का बोध हो गया वही भगवान् के लिए दुनिया को छोड़ सकता है, दूसरा थोड़ा ही छोड़ सकता है? सभी मीरा नहीं बन जाते, सभी तुलसी तो नहीं बन जाते, सभी कबीर नहीं बन जाते अर्थात् सभी संत तो नहीं बन जाते। क्यों नहीं बन जाते? क्योंकि भगवान् का महिमा का बोध नहीं हो पाता इसलिए त्याग नहीं हो पाता। त्याग के लिए यहाँ बताया है—**गुण माहात्म्यासक्ति**-परमात्मा के गुण और महात्म्य में अनुरक्ति। यह बहुत बड़ी चीज़ है। यह पहली स्टेज है कि जिसकी महिमा आप सुनोगे उसके लिए तुम त्याग करोगे, उसके लिए आगे बढ़ोगे। दूसरा नाम है 'रूपा सक्ति' भगवान् के रूप में आसक्ति। मनुष्य दो में गिरता है। मनुष्य बन्धता भी दो में है—नाम और रूप। आचार्य शंकर ने कहा—

**नाम रूपात्मकं जगत्।**

नाम और रूप-ये दो ही जगत् के रूप में हैं। जो लोग बंधते हैं वे नाम और रूप में ही बंधते हैं। नाम रूप के साथ ही जुड़ा हुआ होता है। यह बताया गया है कि यदि रूप में ही तुम्हारी आसक्ति है और कहीं रूप भगवान् का ही तुम्हें पसन्द आ जाए या एक झलक ही उस रूप की मिल जाए तो उससे सुन्दर दुनिया में और कोई वस्तु हो ही नहीं सकती।

आज से चार सौ वर्ष पूर्व की बात है। एक महान् विरक्त संत थे भारत के। वो निर्गुण निराकार ब्रह्म के यानी अद्वैत सिद्धान्त के महा-प्रतिपादक जगत्‌गुरु शंकराचार्य के पीठ पर थे। उनका नाम था मधुसूदन सरस्वती। एक दिन घूमते हुए वो व्रज में आए और आकर के एक कदम्ब के पेड़ के नीचे बैठ गए। वहाँ वो आत्म तत्त्व का चिन्तन कर रहे थे, इतने में नीले रंग का आभायुक्त व्यक्तित्व उनकी आँखों के सामने से गुजर गया। उसकी एक झलक देख करके वे स्तब्ध रहे गए और उठ दिए वहाँ से। उसकी खोज करने लगे कि वह किसकी झलक है और वह कौन है? उसकी उपासना में लगे और भगवान् कृष्ण का साक्षात्कार किया। उन्होंने अपनी अनुभूति में लिखा—

**वंशी विभूषित करान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुण बिम्बफलाधरोष्ठात्।**
**पुर्णेन्दु सुन्दर मुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥**

हाथ में वंशी लिए नवीन बादल के समान रंग वाले, पीताम्बर कंधे पर रखे हए, लाल कुन्दरू के समान होंठ हैं जिनके, पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान मुख है जिसका, कमल के समान नेत्र हैं जिसके, ऐसा जो कृष्ण तत्त्व है, इनसे परे और जो भी कोई तत्त्व है, उसे मैं नहीं जानता अर्थात् परम तत्त्व कृष्ण है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि 'रूपासक्ति' अर्थात् भगवान् की एक झलक एक बार मिल जाए तो फिर वो कभी संसार की तरफ मुड़ नहीं सकता। हमारे शिष्य हैं उदयपुर में लालसिंह शक्तावत। पहले वो कमिश्नर रहे फिर राजनीति में भी आ गए। विधान सभा के स्पीकर भी रहे। वो कट्टर आर्यसमाजी थे। अजमेर में आर्य समाज का केन्द्र है। वो बीस वर्ष तक आर्य समाज के प्रैसिडैन्ट रहे और उसके प्रचार-प्रसार में भी रहे। महाराणा प्रताप के भाई शक्ति सिंह के जो वंश में से हैं, उनको शक्तावत कहते हैं। चितौड़गढ़ में एक मन्दिर है मीरा का जो कि उनके पूर्वजों का अवशेष है। उसकी सुरक्षा की व्यवस्था वो कर रहे थे। उस मन्दिर में बैठ करके वो गायत्री जाप किया करते थे। एक दिन गायत्री जाप करते-२ एका-एक जब नेत्र बंद हुआ तो उन्होंने एक बहुत ही सुन्दर, बहुत ही दिव्य मूर्ति रूप में कन्या को देखा। एक झांकी उनको दिखाई दी और वह तुरन्त ही ओझल हो गई। बिजली की कौंध के समान उन्हें सुनहरी अक्षरों में लिखा हुआ राधा शब्द दिखाई दिया। उस दिन से उन्होंने अपनी माला वहीं रखी और वृन्दावन आ गए। वहाँ पर राधावल्लभ सम्प्रदाय है, वहाँ से उन्होंने राधा मन्त्र की दीक्षा ग्रहण की और उसके बाद में राधा मन्त्र की साधना की। कई वर्षों के पश्चात् वे मेरे पास आए, उनका जीवन ही बदल गया। मैं आपको बता रहा

था कि एक बार भी किसी रूप की झलक मिल जाए तो फिर वह दूसरी तरफ नहीं मुड़ पाता। यह 'रूपासक्ति' है, परमात्मा के किसी रूप में अनुरक्ति। जैसे तुलसीदास जी कहते हैं कि दुनिया में और बहुत से रूप हैं, मैं मानता हूँ लेकिन मेरे लिए तो वो धनुषधारी राम ही चाहिए। जब वो मथुरा पहुँचे तो वहाँ द्वारिकाधीश के मन्दिर में गए। वहाँ एक बड़े प्रसिद्ध संत थे जिनका नाम परशुराम था। उन्होंने तुलसीदास को देखते हुए व्यंग्य में कहा कि—

**अपने अपने इष्ट को नमन करे सब कोए।**
**परशुराम बिन इष्ट को नमे सो मूरख होए॥**

सब अपने-अपने इष्ट को ही नमन करते हैं, बिना इष्ट का जो नमस्कार करता है, वह मूर्ख है। तुलसीदास जी ने प्रार्थना की—

**कहा कहौ छवि आपकी भले बन्यो है नाथ।**
**तुलसी मस्तक नवत है जब धनुषबाण लो हाथ॥**

कहा कि प्रभु आज आपकी छवि तो बहुत सुन्दर बनी है लेकिन मुझे चाह है कि आप धनुषवाण हाथ में ले लो तो मैं आपको प्रणाम करूँ। बताते हैं कि उस मूर्ति का परिवर्तन हो गया—

**कित मुरली कित चन्द्रिका कित गोपिन के साथ।**
**अपने जन के कारणे कृष्ण भए रघुनाथ॥**

तुरन्त देखा कि वहाँ धनुषबाणधारी राम विराजमान हैं। इसको रूपासक्ति कहते हैं। जिस रूप में जिसकी अनुरक्ति हो जाती है वे अपने इष्ट के उसी रूप को ही सर्वत्र देखना पसन्द करते हैं। तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में लिखा है—

**सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना।**

जहाँ उसकी दृष्टि जाती है वहीं उसे धनुषधारी ही दिखाई देते हैं। यह रूपासक्ति है। रूपासक्ति के लिए उन्होंने लिखा है—

**लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥**
**निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥**

—रा० २/१२८-६,७

जैसे पपीहा स्वाति बूँद का प्यासा होता है, वह सरिता और सिंधु के जल को नहीं पीता केवल स्वाति की एक बूँद को चाहता है, उसी की पुकार लगाता है, ऐसे ही जो भक्त आपके रूप में अनुरक्त हैं, केवल आपके रूप की एक झलक देखना चाहते हैं, मनु शतरूपा के समान—

**जौं अनाथ हित हम पर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू॥**
**जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि करन मुनि जतन कराहीं॥**
**जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥**

जो भक्त आपके रूप के लिए लालायित रहते हैं, उनका हृदय आपके रहने के लिए निवास स्थान है। प्रभु उनके हृदय में विराजमान हों। तुलसीदास जी ने स्वयं अपने लिए लिखा है—

**सियराम-सरूपु अगाध अनूप बिलोचन-मीननको जलु है।**
**श्रुति रामकथा, मुख रामको नामु, हिएँ पुनि रामहि को थलु है॥**
**मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति रामसों, रामहि को बलु है।**
**सबकी न कहै, तुलसी के मतें इतनो जग जीवनको फलु है॥**

*—कवितावली ७/३७*

हम सबके लिए नहीं कहते लेकिन मेरे विचार से जगत् में जीने का इतना ही फल है कि राम का स्वरूप आँखों में बसा रहे, राम की कथाएँ कान में पड़ती रहें, राम सबके हृदय में विराजमान हों, राम ही की गति हो, राम की ही मति हो, राम ही का बल हो और राम ही का आश्रय हो—बस राममय ही जिसका जीवन है, मेरे विचार से वही सही माने में संसार में जीवित है। एक और पद में कहा है उन्होंने—

**सोई जिऐ जगमें, 'तुलसी' नतु डोलत और मुए धरि देही॥**

*—कवितावली ७/३६*

मेरे विचार से तो वही जगत् में जीवित है बाकी तो मुर्दे होकर के घूम रहे हैं। ऐसे भारत में अनेकों संत हैं जो भगवान् के रूप में आसक्त हैं।

आगे है 'पूजासक्ति'। कुछ ऐसे संत हैं जो भगवान् की पूजा में ही अनुरक्त रहते हैं। विभिन्न प्रकार के फूल तोड़ते रहेंगे और माला बना-बना कर भगवान् को पहनायेंगे। भगवान् की पूजा में उनका दिन भर लग जाता है, उनको पता ही नहीं चलता। हमारे यहाँ एक पूजा की विधि है 'अष्टयाम पूजा'। भक्ति मार्ग का बहुत ही श्रेष्ठतम साधन है, इससे सुन्दर और कोई साधन नहीं है। उसमें बाह्य पूजा नहीं होती, अन्तर पूजा है। भक्त नेत्र बन्द करके अपने हृदय में भगवान् के मन्दिर की भावना करता है। उस मन्दिर में भगवान् का सिंहासन है। सिंहासन पर प्रभु विराजमान हैं। वह हरेक प्रकार से प्रभु की पूजा करता है। उन्हें सुलाता है, जगाता है, खिलाता है, पिलाता है, शोडष प्रकार की पूजा करता है। जब वे सिंहासन पर विराजित हो जाते हैं तो फिर पंखा करता है। यह सब ध्यान में होता है, हाथ-पैर

से नहीं। उसकी जागने से लेकर सोने तक की सारी प्रक्रिया भगवान् से जुड़ी हुई है। कुछ संत इस प्रकार की साधना को हृदय में न करके कल्पना द्वारा करते हैं कि मैं अयोध्या में हूँ। सरयू के किनारे अयोध्या नगरी है। अयोध्या नगरी में सुवर्णमय रत्नजटित महल है। इस महल में भगवान् की दिनचर्या चल रही है और वहाँ अपने आपको भगवान् के साथ देखता है। भगवान् महल से निकले हैं और अब विहार करने चले हैं। महल से बाहर जाकर वह भगवान् के साथ घूम रहा है। अब सरयु पुलिन में जाकर भगवान् क्रीड़ा कर रहे हैं लेकिन शरीर से वह वहाँ बैठा हुआ है। यह जो भगवान् के साथ क्रीड़ा की स्थिति है, यह धीरे-धीरे इतनी प्रबल होने लगती है कि उस क्रीड़ा के साथ-२ उसे भगवान् के दर्शन भी होने लगते हैं। भगवान् की सेवा में कौन-२ से संत हैं, अब वे संत मिलते हैं, उनसे वार्तालाप शुरु हो जाता है, वहाँ पर शास्त्र-चर्चा होने लगती है। अब वह ऐसी दिव्य दुनिया में रहने लगता है कि आप कल्पना भी नहीं कर सकते कि किस ढंग से उसका जीवन आनन्द विभोर होता है। वह उसी में निमग्न होता है। एक क्षण भी भगवान् से खाली नहीं रहता वह। इसे अष्टयाम पूजा कहते हैं। पहले बाहर की पूजा होती थी, अब अन्तर की पूजा होने लगी। अन्तर की पूजा भी भगवान् के दिव्यलोक में पहुँच गई। धीरे-२ ऐसी स्थिति होती है कि वह शरीर में रहते हुए भी शरीर में नहीं रहता। इस प्रकार की साधना करते-२ वह बहुत ऊँची स्थिति में चला जाता है। उसकी वृत्ति हो जाती है महा-विदेहा की। महा-विदेहा माने शरीर से बाहर निकल करके बाहर की क्रिया-कलाप करके शरीर में प्रवेश करना। यह बहुत ही महान् साधना की स्थिति है। ऐसा योगी अपने आपको कहीं भी पठा सकता है और कहीं के क्रिया-कलाप को देख सकता है। जहाँ पर उसकी वृत्ति जाएगी वहाँ पर उसका सूक्ष्म शरीर चला जाता है। सारी क्रिया तो सूक्ष्म शरीर से होती है स्थूल शरीर तो खोलमात्र है। ऐसे साधक पूजासक्ति में लगे रहते हैं और परमात्मा की उपासना में लगे रहते हैं।

पूजा तीन प्रकार की होती है। पहली है बाह्य पूजा। विभिन्न प्रकार की पूजा सामग्री एकत्रित करो और उस सामग्री से परमात्मा का पूजन करो। बाह्य पूजन की वृत्ति को धीरे-धीरे अन्तर्मुखी करो। जब अन्दर जाते-जाते बिल्कुल सूक्ष्म हो जाता है फिर महान् हो जाता है और विराट् की पूजा होने लगती है। विराट् की पूजा के साथ आत्मसात कर लेता है, फिर उसी में लय हो जाता है। यह 'पूजासक्ति' की प्रक्रिया में है—बाह्य पूजा, अन्तर पूजा और विराट् की पूजा।

आगे है 'स्मरणासक्ति'। स्मरणासक्ति में पूजन चलता है, जिसके अनुयायी

थे कबीर, नानक और रविदास इत्यादि। कबीरदास जी ने कहा है—

आँख न मूँदहु कान न रूदहूँ तनिक कष्ट नहिं धारहुँ।
खुले नयन पहिचानहुँ हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारहुँ॥
शब्द निरन्तर में मन लागा मलिन वासना त्यागी।
जागत सोवत कबहुँ न भूले ऐसी तारी लागी॥

शब्द की ऐसी तारी लग गई कि उनकी चित्त की वृत्ति अब शब्द से एक क्षण के लिए भी हटती नहीं। सुमिरन की अबाध गति चल रही है। सुमिरन की गति अर्थ मात्र रह जाती है। जैसे राम शब्द का अर्थ है-सबमें रमण करने वाली चेतना। राम कहते-२ अब राम कहना बन्द हो जाता है केवल अर्थ मात्र निर्भास ही रह जाता है। अब सबमें रमण करने वाली चेतना, जो राम शब्द का अर्थ है, उसका भान होने लगा। अर्थ के भान में नाम सुमिरन अपने आप हो रहा है। पहले आप गऊ शब्द कहते रहे, बाद में गऊ का रूप सामने आ गया तो अर्थ मात्र निर्भास हो गया और उसके पश्चात् गऊ का भाव आ गया-ये तीन स्थितियाँ हैं। जैसे पूजासक्ति में तीन स्थितियाँ हैं ऐसे ही स्मरणशक्ति में भी तीन स्थितियाँ हैं—पहले प्रभु का नाम स्मरण किया जाता है, फिर नाम का अर्थ और फिर अर्थ के साथ तादात्म्य। स्वामी राम के विषय में भी आता है कि वे अपने आपको राम कहा करते थे क्योंकि राममय हो गए थे। जब आदमी तन्मय हो जाता है तो उससे अलग वह अपने आपको स्मरण नहीं करता। उनके शिष्य ने उनकी जीवनी के विषय में लिखा है कि जब वे कभी रामतीर्थ के बारे में बात कहते तो ऐसे कहते जैसे किसी अन्य पुरुष के बारे में बात कहते हों। जब परमात्मा के बारे में कुछ बोलते तो ऐसे बोलते जैसे प्रथम पुरुष के विषय में बात कह रहे हों। यह स्थिति होती है, इसको कहते हैं स्मरणासक्ति। स्मरणासक्ति धीरे-२ इतनी प्रबल हो जाती है कि साधक स्वयं को उस रूप में समझने लगता है। जब तक वह स्मरण करने वाला है या स्मरण की विधि है या स्मरणीय अलग है तो वहाँ सृष्टि है लेकिन जब स्मरणीय का अर्थ केवल अर्थ मात्र निर्भास हो जाता है तो स्मरण करने वाला स्मरणवत् हो जाता है। जब उससे तादात्म्य हो गया तो वही हो गया। अब किसका स्मरण करे, कौन स्मरण करे?

मुख से जपूं न कर से जपूं मन से जपूं न राम।
राम सदा मुझको जपें मैं पाऊँ विश्राम॥

ऐसी स्थिति में तो वह स्वयं राममय हो जाता है, फिर कौन किसकी चिन्ता करे, कैसे करे? यह स्मरणासक्ति है। स्मरणासक्ति के पश्चात् दास्यासक्ति है, जैसे—

हनुमान जी की। हनुमान जी प्रतिपल अपने प्रभु के कार्य करने में तत्पर हैं। दास्यासक्ति माने दास भाव की अनुरक्ति। ऐसी स्थिति आ जाए—

**मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥**

—रा० ४/३

सर्वरूप में उनको अपना प्रभु दिखाई दे रहा है, अपने आपको वह उनका दास स्वीकार कर रहा है, इसको दास्यासक्ति कहते हैं। 'सख्यासक्ति' माने सखा भाव की अनुरक्ति। कृष्ण के प्रति अर्जुन का जो भाव है, वह सख्यासक्ति है। जैसे उद्धव का कृष्ण के प्रति सखाभाव है। गोपियों का, ग्वालबालों का कृष्ण के प्रति सखा भाव है। सखाभाव में भी अपने मित्र का चिन्तन होता रहता है। अर्जुन जब सो जाता था तो उसके शरीर से कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण की ध्वनि निकलती थी। सखाभाव में भी तन्मयता होती है, मित्र भाव में भी चिन्तन होता है, मित्र भाव में भी अनुरक्ति होती है, उसको सख्यासक्ति कहते हैं। इसके बाद में है 'कान्तासक्ति'। 'कान्तासक्ति' माने जैसे पत्नी का पति के प्रति प्रेम। कबीर दास जी कहते हैं—

**राम मेरे पिया मैं राम की बहुरिया।**

अपने आपको उस स्थिति में अनुभव करना कि प्रभु मेरे प्रियतम हैं और मैं प्रभु की प्रियतमा हूँ, वो मेरे शेषी हैं मैं उनका शेष हूँ, वो मेरे भोक्ता हैं मैं उनका भोग्य हूँ, वो मेरे अंशी हैं मैं उनका अंश हूँ। यह जो प्रिया-प्रियतम की भावना है इसको 'कान्तासक्ति' कहते हैं। वहाँ भी अभेद होता है। इसके आगे है 'वात्सल्या सक्ति' परमात्मा को पुत्र रूप में मानना। बहुत से ऐसे सन्त हुए हैं जो परमात्मा को पुत्र रूप में मानते रहे, पुत्र भाव से ही परमात्मा को देखते रहे हैं। प्राचीन काल में मनु-शतरूपा हुए हैं। उन्होंने कहा—

**चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ॥**

—रा० १/१४९

हम आप जैसा पुत्र चाहते हैं। मनु महाराज ने कहा—

**सुत बिषइक तव पद रति होउ।**
**मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥**
**मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना।**
**मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥**

—रा० १/१५१-५,६,७

शतरूपा ने भी वरदान माँग लिया—

**जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥**
**सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।**
**सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु॥**

—रा० १/१५०

प्रभु के सौन्दर्य को देख करके, प्रभु की मधुर मूर्ति को देख करके उसे हृदय से लगाकर प्यार करने की जो धारणा है, वह 'वात्सल्यासक्ति' है। हृदय से लगाकर प्यार करने की धारणा दो प्रकार से पूर्ण हो सकती है–या वात्सल्य भाव से या कान्ता भाव से। प्यार के ये दो ही आधार हैं। ग्रन्थ में आता है कि जब भगवान् वन में गए तो भगवान् के सौन्दर्य को देख करके मुनि लोग मोहित हो गए। उन्होंने भगवान् से याचना की कि प्रभो! आपके इस सौन्दर्य का आलिंगन करने की चाह हो रही है। भगवान् ने उन्हें वरदान दिया कि कोई नहीं, यह भावना आपकी अभी तो नहीं द्वापर में मैं पूरी करूँगा। दण्डकारण्य के जो ऋषि थे, वे सब के सब गोपी रूप में पैदा हुए और उन्होंने भगवान् के आलिंगन का आस्वादन किया। यह चाह दो प्रकार से ही पूर्ण की जा सकती है–कान्ता भाव से या फिर वात्सल्य भाव से। पुत्र को भी हृदय से लगाकर प्यार किया जाता है और उसके प्रति भी वही अभिन्ना भाव प्रकट किया जाता है। अभिन्ना भाव माने जहाँ पर बीच में कोई पर्दा न हो। वात्सल्य भाव से भी इसकी पूर्ति होती है। इस युग में भी बहुत से भक्त हुए हैं जो वात्सल्य भाव के पुजारी हैं। वो परमात्मा को पुत्र रूप में देखते है।

व्रज में एक संत हुए हैं। वो बरसाना के रहने वाले थे। राधिका जी को वे अपनी पुत्री मानते थे और भगवान् कृष्ण को अपना दामाद। एक दिन वे कहीं बाहर से आ रहे थे, गर्मी का महीना था। उन्हें प्यास लगी थी, वे प्यास से व्याकुल हो रहे थे। वे गिर गए, उन्होंने कहा—पानी। वह थी नन्द गाँव की सीमा। किसी ने आ करके उनके मुँह में पानी डाल दिया। उन्होंने देखा और पूछा, मैं कहाँ हूँ? कहा कि बाबा आप नन्द गाँव में हो। कहा कि तूने मेरे मुंह में नन्द गाँव का पानी डाल दिया? हाँ। ओह! तूने तो मेरा धर्म भ्रष्ट कर दिया। हम लड़की के गाँव का पानी पी लिए? धिक्कार है मुझे! वहीं उनका शरीर छूट गया। यह भाव की बात है। भाव तो कहीं भी बना लो। भाव तो अपने आप चलता है।

एक संत थे अयोध्या में। वे वशिष्ठ गोत्र के थे। उन्हें तिवारी जी कहकर सभी बुलाते थे। भगवान् राम को वे अपना शिष्य मानते थे और स्वयं को उनका

गुरु। वे कनक भवन में प्रतिदिन सायंकाल को जाते और अपने गले की माला उतार कर पुजारी को दे देते थे कि मेरे शिष्य को पहना दो। पुजारी वह हार लेता और भगवान् को पहना देता। एक दिन कुछ संत बैठे हुए थे, उनको व्यंग्य सूझा। उन्होंने कहा—तिवारी जी आप तो इनको अपना शिष्य मानते हो, यह भी आपको अपना गुरु मानते हैं कि नहीं? वो वहीं खड़े हो गए और भगवान् की मूर्ति की तरफ ईशारा करते हुए कहा—"क्यों रे राम! तू मुझे गुरु मानता है कि नहीं?" इतना कहते ही भगवान् का मुकुट अपने आप गिर गया। मुकुट के गिरते ही सभी सन्त आश्चर्य विभोर हो गए और वो सन्त वहीं गिर गए तथा उनका शरीर छूट गया। यह बहुत पुरानी बात नहीं है।

भाव की बात है, आप किसी भाव से भगवान् को अपना बना सकते हो। इसे वात्सल्य भाव कहते हैं। शिष्य के प्रति भी वात्सल्य भाव होता है, पुत्र के प्रति भी वात्सल्य भाव होता है। इस वात्सल्य के प्रवाह में उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया। इसको कहते हैं वात्सल्यासक्ति। आखिर में है—'आत्मनिवेदनासक्ति'

आत्मनिवेदनासक्ति का अर्थ होता है पूर्ण समर्पण। परमात्मा के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित हो जाना। अपने आपको भगवान् से अलग रखना ही नहीं। जब अपना कोई अलग अस्तित्व नही रहता तो उसे आत्मनिवेदनासक्ति कहते हैं। जब भी कभी शरीर में आएगा और उसे इंडिविजूएशन का भान होगा, उसी अवस्था में वह भगवान् के साथ तन्मय हो जाएगा। आत्मनिवेदन के पश्चात् वह तन्मय हो गया। जब भी कभी अपने आपको उससे थोड़ा भी अलग पाएगा वहाँ उसको विरह, व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है कि मैं अलग कैसे हो गया? कैसे मेरा अलग अस्तित्व हो गया? 'आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति,' उसको परम विरहासक्ति कहते हैं। परम विरहासक्ति जब आविर्भूत होती है तो वह अपने आपको अलग नहीं रख सकता, अपने आपको परमात्मा में लय कर देता है। यह—'सक्ति रूपा एकधाप्येकादशधा भवति' जो मैंने आपको रूप बताए हैं, इतने में भक्ति का आविर्भाव होता है। भक्ति एक है लेकिन वह स्वयं को ग्यारह भावों में अभिव्यक्त करके फिर भक्त के जीवन में अवतरित होती है। भक्ति इस प्रकार से ग्यारह भेदों वाली हो जाती है। यदि संतों की घटनाओं को लेकर एक-एक की व्याख्या की जाए तो बहुत लम्बी व्याख्या हो जाएगी। इतने में ही आप समझ जाएँ कि भक्ति का एक रूप है 'भगवद् प्रेम'। भक्ति माने भगवान् से अभिन्नता की अनुभूति, भगवान् से किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की एकता की अनुभूति। किस प्रकार से एकता की अनुभूति होती है? इसके लिए ग्यारह विधियाँ बताई गई हैं। इसके बाद

में नारद जी कहते हैं—

**इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः**
**कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिल्य-**
**शेषोद्धववारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः ॥**

—ना०भ०सू० ८३

अब इस सूत्र में भक्ति के कुछ आचार्यों की लिस्ट दी है। यह जब ग्रन्थ लिखा गया था इससे पूर्व ये लोग भक्ति के आचार्य हो चुके थे। 'इत्येवं वदन्ति'—इसी प्रकार से कहते हैं 'जनजल्पनिभया' लोगों की निन्दा से या लोगों की बातों से निर्भय होकर के या उनकी परवाह न करते हुए भक्ति के आचार्य लोग एकमत होकर घोषणा करते हैं कि भक्ति से श्रेष्ठ और कोई साधना नहीं है। जो लोग घोषणा करते हैं वे लोग कौन हैं? सबसे पहले हैं कुमार। कुमार कौन हैं? सनक, सनन्दन, सनातन और सनत कुमार। ये चार भाई ब्रह्मा के आदि पुत्र हैं। इन चारों को कुमार ही कहा जाता है क्योंकि ये—

**देखत बालक बहुकालीना ॥**

—रा० ७/३२-४

वे देखने में ही बालक लगते हैं लेकिन सृष्टि के आदि में पैदा हुए हैं। भक्ति के आचार्य हैं—कुमार, व्यासदेव, उनके पुत्र शुकदेव, शाण्डिल्य ऋषि, गर्गाचार्य, विष्णु ऋषि, कौण्डिल्य ऋषि, शेष, उध्व, वारुणि, बलि, हनुमान और विभीषण। ये सब भक्ति के अलग-२ आचार्य हैं, कोई दास्य भक्ति का आचार्य है, कोई मित्र भक्ति का आचार्य है, इस प्रकार से ये अलग-२ भक्ति के आचार्य हैं। इन आचार्यों ने एक मत होकर के यह घोषणा की है कि भक्तिरेव गरीयसी। भक्ति ही एक मात्र श्रेष्ठ साधन है। इन्हीं की बात को कहते हुए नारद जी ने अपने विचारों को यहीं विश्राम दिया है—

**य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं।**

—ना०भ०सू० ८४

आखिरी सूत्र में यही कहा गया है कि यह शिवानुशासन है। हमारे यहाँ भक्ति के परमाचार्य भगवान् शंकर हैं

**वैष्णवानां यता शम्भू।**

शम्भू से महान् और कोई वैष्णव नहीं है। शिवानुशासन माने भगवान् शंकर का दिया हुआ उपदेश। देवर्षि नारद जी के गुरु भगवान् शंकर हैं। भगवान् शंकर द्वारा प्रणीत यह सिद्धान्त है और उसकी व्याख्या नारद जी कर रहे हैं—

**य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धते**
**स श्रेष्ठं लभते स प्रेष्टं लभत इति॥**

—ना० भ० सू० ८४

जो पूर्ण विश्वास करके इसका अनुष्ठान करता है 'श्रद्धते' इसमें श्रद्धा और विश्वास रखते हुए इसका अनुष्ठान करता है—

**स श्रेष्ठं लभते स प्रेष्टं लभत इति॥**

वही परम पद को प्राप्त करता है, वही प्रियतम को प्राप्त कर लेता है, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं। ऐसा कहते हुए नारद जी इस शास्त्र का समापन करते हैं। इसी के साथ आज मैं भी अपने विचारों को विश्राम देता हूँ।

**हरि ॐ तत्सत्।**
**( सम्पूर्ण )**

## सम्पर्क सूत्र

- ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट् नगर,
  पिंजौर (हरियाणा) पिन-१३४१०२
  फोन: ०१७३३-६५१७०, ६५२७०, ६५२०५

- ब्रह्मर्षि योगाश्रम
  २८-बी, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा,
  दिल्ली-११००३२
  फोन: ०११-२२७३६६०, २२७१९४३

- ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
  माधोपुरी, गऊशाला रोड, लुधियाना
  फोन : ०१६१-७००१४१

- ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
  (अंग्रेजी मीडियम)
  बेअन्तपुरा, चण्डीगढ़ रोड, लुधियाना
  फोन : ०१६१-६६६४०६, ६०८४०६

- श्री गीता रामायण सेवा संघ
  अशोक नगर, मोक्ष मार्ग,
  उदयपुर (राजस्थान)
  फोन : ०२९४-४१४१४०

- Metaphysical Science
  Research Institute
  Sec.19-A, Chandigarh
  Phone : 0172/775390

- Brahmrishi Misson
  278, Heston Road, Heston
  Middlesex TW5 ORT U.K.
  Phone : 0181-571-3879

- Brahmrishi Ashram
  717, Loosduinseweg,
  2571 AM-Denhaag, Nederland,
  Ph.: 070-3620961

- Brahmriahi Mission of CANADA
  Shri-Ram-Dham Hindu Temple
  525 Bridge Street,
  East Kitchener, Ontario
  CANADA N2K3C5
  Phone : (519) 579-1486

- Brahmrishi Ashram
  1246, North Mantua Street, Kent,
  Ohio- 44240, U.S.A..
  Phone : 330-678-3793

- ब्रह्मर्षि प्राकृतिक चिकित्सालय योग आश्रम
  पुरी फार्म्स, जोड़ियां, रादौर रोड,
  यमुनानगर-१३५००१ (हरियाणा)
  फोन : ०१७३२-८९८४६

- Brahmrishi Mission School
  Jarar, Devvan, Piplaage
  Bhunter, Kullu (H.P.)
  Ph. 01902-65518,66043

- ब्रह्मर्षि बावरा विद्या मन्दिर
  चककिशुनदास, ज्ञानपुर, भदोही,
  वाराणसी (उ०प्र०)

- ब्रह्मर्षि बावरा शन्ति विद्यापीठ
  दीनानगर, धार रोड, उधमपुर (जे०के०)
  फोन :०१९९२-७१०८०

- ब्रह्मर्षि योगाश्रम
  बाईपास, ऋषिकेश रोड,
  भूपतवाला,
  हरि[illegible] (उ०प्र०)

**दिव्यालोक प्रकाशन**

ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट नगर, पिंजौर, हरियाणा